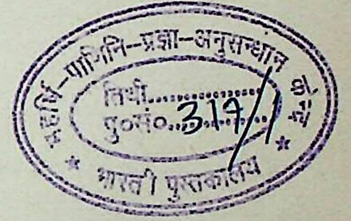
प्रो० कुन्दन लाल शर्मा अभिनन्दन ग्रन्थ

मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषत्
मेरठ

प्रो० कुन्दनलाल शर्मा अभिनन्दन ग्रन्थ



प्रधान सम्पादक

डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार

सम्पादक

प्रो० उमाकान्त शुक्ल

सम्पादक मण्डल

डॉ० रमेश कुमार लो

डॉ० दीपचन्द शर्मा

डॉ० महेशचन्द्र भारतीय

डॉ० कर्णसिंह

मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषत् मेरठ।

१ मार्च १९७७]

प्रो० कुन्दनलाल शर्मा अभिनन्दन ग्रन्थ समिति

डॉ० केशवरामपाल
डॉ० गणेशदत्त शर्मा
प्रो० रामनाथ शर्मा 'सुमन'
डॉ० सुषमा अरोरा
प्रो० रीता रस्तौगी
प्रो० मधु
प्रो० सेवाराम शर्मा
डॉ० रमेशकुमार लौ
प्रो० जगदीश प्रसाद सविता
डॉ० श्रीकान्त पाण्डेय
प्रो० उमाकान्त शुक्ल (संयोजक)

सन् १९७७
मूल्य : पचास रुपये मात्र ।

प्राप्ति-स्थान :
मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषत्
७० पर्णकुटी, नेहरू रोड, मेरठ ।

मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषत्
२६३, उत्तरी गान्धि कालोनी, मुजफ्फरनगर ।

मुद्रक : राजकिशोर शर्मा एम. ए.
अध्यक्ष, सर्वोदय प्रेस, मेरठ । दूरभाष : ७४३५२



किञ्चित्प्रास्ताविकम्

मेरठ विश्वविद्यालय हिन्दी परिषद् का विगत वर्षों में एक अधिवेशन खतौली में हुआ था, जिसमें सम्मिलित होने का मुझे सौभाग्य मिला था। उस अधिवेशन में मेरठ कालिज, मेरठ के प्रोफेसर **डा० कृष्णचन्द्र शर्मा** का, उनके अवकाश ग्रहण करने पर उनकी मेरठ मण्डल में की गई हिन्दी भाषा एवं साहित्य की सेवा के लिये, अभिनन्दन किया गया था। मुझे उस समय हिन्दी परिषद् की यह योजना अत्यधिक अच्छी लगी और वहीं पर बैठे-बैठे ही मेरे मन और मस्तिष्क में यह विचार उत्पन्न हुआ कि **मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्** को इस अभिनन्दन की अभिनन्दनीय प्रणाली को अपना लेना चाहिये !

विचार आया और रसनिष्पत्ति में आये हुये संचारी भावों के समान विलुप्त भी हो गया। कालान्तर में अप्रत्याशित रूप से प्रो० कुन्दनलाल जी शर्मा के अवकाश ग्रहण करने का समाचार सुनने को मिला। हिन्दी परिषद् की ओर से किये गये डा० कृष्णचन्द्र शर्मा के अभिनन्दन की एक क्षीण सी स्मृति-रेखा उभरकर सामने आ गई। अभिनन्दन-विषयक संस्कार पुनः उद्‌बुद्ध होने लगा। एक दिन न मालूम किस कार्यवश मैं और डा० विष्णुशरण "इन्दु" (हिन्दी-प्राध्यापक, मेरठ कालिज) सनातनधर्म कालिज, मुजफ्फरनगर गये हुये थे। अवकाश के क्षणों में प्रो० उमाकान्त शुक्ल के घर पर डा० रमेश कुमार लौ के साथ चाय पीते-पीते प्रो० कुन्दनलाल जी शर्मा के अवकाश ग्रहण का प्रसङ्ग चल पड़ा, जिसमें इस विचार ने जन्म लिया कि प्रो० कुन्दनलाल शर्मा का मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद् की ओर से अभिनन्दन किया जाये और इस विचार को मूर्त रूप देने की प्रबल इच्छा को मन में लिये हुये हम सभी अर्थात् मैं, डा० विष्णुशरण 'इन्दु', डा० रमेश कुमार लौ और प्रो० उमाकान्त शुक्ल प्रो० कुन्दनलाल शर्मा के घर की ओर चल पड़े। उनके घर पहुंचने पर उन्होंने और उनकी धर्मपत्नी ने आगे बढ़कर अपने स्वभाव के अनुसार हमारा स्वागत-सत्कार किया। इधर-उधर की चर्चाओं के मध्य प्रो० कुन्दनलाल जी कहने लगे कि निरूपण जी, मैं तो अब अध्यापन कार्य से अवकाश ग्रहण कर चुका हूँ, परिणामतः मैं आपकी **संस्कृत अध्यापक परिषद्** का सदस्य नहीं रह सकता हूँ और मेरा उपप्रधान पद से त्यागपत्र ले लीजियेगा। मैं असमञ्जस में पड़ गया। कहाँ तो हम उनके अभिनन्दन की योजना को चरितार्थ करने के लिये उनके पास आये थे और कहाँ उनका परिषद् की सदस्यता से ही त्याग-पत्र। मैंने उनके इस प्रस्ताव को हँसी-मजाक के मध्य वहीं छोड़ दिया। यहीं पर हमको इस बात का भी ज्ञान हुआ कि प्रो० कुन्दनलाल जी शर्मा का जन्मदिन १ मार्च है। उनके घर से बिदा होते-होते डा० इन्दु जी का यह दृढ़ विचार बन गया कि शर्मा जी का अभिनन्दन उनके जन्म-दिन पर १ मार्च को किया जाये। इसप्रकार खतौली में हुये हिन्दी परिषद् के अधिवेशन के समय बीज रूप अभिनन्दन का विचार प्रो० कुन्दनलाल जी के घर डा० इन्दु जी के सुझाव पर अङ्कुरित और पल्लवित हुआ तथा इस निश्चय के साथ प्रो० कुन्दनलाल जी के घर से हमने विदा ली

कि **मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्** का अधिवेशन किसी भी तिथि को रखा जाये, उनमें से एक तिथि १ मार्च अवश्य हो। यह है **प्रो० कुन्दनलाल शर्मा अभिनन्दन-ग्रन्थ** की पृष्ठ-भूमि।

५ दिसम्बर १९७६ को **मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्** की कार्यकारिणी की मीटिंग में पर्याप्त ऊहापोह के पश्चात् २७, २८ फर्वरी तथा १ मार्च १९७७ की तिथियाँ परिषद् के अधिवेशन की निश्चित हुईं। प्रो० उमाकान्त शुक्ल सदस्य होने के नाते कार्यकारिणी की इस मीटिंग में उपस्थित थे। मीटिंग की समाप्ति पर चलते समय मैंने उनसे एकान्त में कहा कि सम्प्रति अधिवेशन की तिथियों में १ मार्च की तिथि आ गई है, अब प्रो० कुन्दनलाल जी के अभिनन्दन की तैयारी शुरू कर देनी चाहिये। एक बार फिर अभिनन्दन के विचार को दृढ़ता मिली।

गतवर्ष सन् १९७५ में बी. एस. एम. कालेज रुड़की में हुये चतुर्थ अधिवेशन में **"मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत शोध पत्रिका"** का विमोचन हो चुका था। इस शोध पत्रिका के सम्पादक हैं **डा० महेशचन्द्र भारतीय**, महानन्द मिशन कालिज, गाजियाबाद। डा० महेशचन्द्र भारतीय अनेकशः गाजियाबाद से मेरठ मेरे पास इस विचार-विमर्श के लिये आ चुके थे कि इस वर्ष इस शोध-पत्रिका का प्रकाशन कब और कैसे किया जाये। डा० भारतीय ने सर्वतोभावेन शोध-पत्रिका की सामग्री तैयार कर ली थी। उनका विचार था कि हमको **शोध-पत्रिका** का द्वितीय अङ्क इस वर्ष होने वाले **संस्कृत अध्यापक परिषद्** के अधिवेशन से पूर्व प्रकाशित कर देना चाहिये परन्तु मैं परिषद् की स्थिति को देखते हुये चुप हो जाया करता था। शोध-पत्रिका के प्रकाशन का जब भी प्रश्न सामने आता उसी समय अर्थ का अभाव बीच में आ जाता। अन्ततोगत्वा डा० भारतीय जी ने ही मार्ग सुझाया। उनका सुझाव था कि क्यों न **डा० कुन्दनलाल शर्मा अभिनन्दन ग्रन्थ** के अन्दर ही इस शोध-पत्रिका के इस अङ्क को भी सम्मिलित कर लिया जाये। डा० भारतीय के इस सुझाव को इसी रूप में स्वीकार कर लिया गया अर्थात् शोध-पत्रिका का इस वर्ष का अङ्क पृथक् से न निकालकर अभिनन्दन ग्रन्थ के रूप में ही प्रकाशित किया जाये।

इसप्रकार **मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्** के इस अधिवेशन के लिये **डा० महेशचन्द्र भारतीय** के साथ विचार-विमर्श के पश्चात् दो निर्णय ले लिये गये। तद्यथा—

१. अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जाये।

२. मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत शोध पत्रिका को अभिनन्दन-ग्रन्थ के अङ्ग के रूप में प्रकाशित किया जाये।

मैं **प्रो कुन्दनलाल शर्मा अभिनन्दन ग्रन्थ** के प्रकाशन को मूलरूप देने के लिये कई बार मुजफ्फरनगर गया। प्रत्येक बार नई-नई समस्याओं और समाधानों को साथ लेकर मेरठ लौट आया करता था। अन्त में **डा० रमेशकुमार लौ**, जो इस समय सनातन धर्म कालिज, मुजफ्फरनगर में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष हैं, के घर एतद्विषयक अन्तिम बैठक हुई, जिसमें **डा० महेशचन्द्र भारतीय, डा० रमेश कुमार लौ, प्रो० उमाकान्त शुक्ल, डा० कुमारी सुषमा अरोड़ा, प्रो० कु० रीता रस्तोगी, श्रीमती मधुबाला और मैं** उपस्थित थे। इस मीटिंग के अन्दर यह अन्तिम निश्चय किया गया कि **प्रो० कुन्दनलाल शर्मा अभिनन्दन ग्रन्थ** का प्रकाशन किया जाये और इसके संयोजक होंगे **प्रो० उमाकान्त शुक्ल**। साथ ही मुझसे यह कहा गया कि मैं इसके प्रकाशन के लिये **साहित्य भण्डार के अध्यक्ष श्री रतिराम शास्त्री** से बात-चीत करूँ। अस्तु

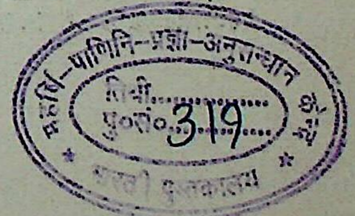
समय के साथ मैंने श्री रतिराम शास्त्री जी से प्रो० कुन्दनलाल शर्मा जी का अभिनन्दन करने तथा अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने की अपनी योजना प्रकट की। शास्त्री जी ने हमारी इस योजना का अनुमोदन ही नहीं किया अपितु उल्लास के साथ इसमें सहयोग देने एवं ग्रन्थ के प्रकाशन का उत्तरदायित्व भी लेना सहर्ष स्वीकार कर लिया।

आज १ मार्च है प्रो० कुन्दनलाल जी शर्मा का जन्म-दिन। मेरठ विश्वविद्यालय के परिसर में मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद् की ओर से सनातन धर्म कालिज मुजफ्फरनगर के भूतपूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष तथा वैदिक वाङ्मय के अधिकारी विद्वान् प्रो० कुन्दनलाल जी शर्मा का अभिनन्दन कर रहे हैं। इस अभिनन्दन समारोह के अध्यक्ष प्रो० ब्रह्मस्वरूप माथुर, कुलपति, मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ हैं। प्रो० कुन्दनलाल शर्मा अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित होकर आपके हाथों में हैं। यह कैसा है, इसका निर्णय तो आप करेंगे, पर इसको इस रूप में लाने का यदि किसी एक व्यक्ति को श्रेय देना हो तो मैं बड़े गर्व से कह सकता हूँ कि वह एक व्यक्ति है प्रो० उमाकान्त शुक्ल, जिन्होंने सर्वात्मना अपने आपको इस कार्य में लगा दिया। मैं किन शब्दों में उनको धन्यवाद दूँ ? इस ग्रन्थ के प्रूफ का अवलोकन करने एवं इसको शुद्ध और परिमार्जन रूप देने के लिये में अपने कालिज के अनन्य सहयोगी डा० कर्णसिंह तथा डा० कुमारी अदिति भट्टाचार्य को तथा महेशचन्द्र भारतीय को विस्मृत नहीं कर सकता हूँ, जिन्होंने इसकें लिये अनथक अहर्निश प्रयत्न किया है। यह प्रो० कुन्दनलाल शर्मा अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाश में आ गया इसके लिये साहित्य भण्डार के अध्यक्ष श्री रतिराम शास्त्री का किन शब्दों में आभार प्रकट करूँ, जिनके ज्येष्ठ पुत्र श्री राजकिशोर शर्मा एम. ए. ने, जो सर्वोदय प्रेस का अध्यक्ष है, निरन्तर प्रयत्न करते हुये इसको इस पूर्णता तक पहुँचाया है, जिनके कनिष्ठ पुत्र श्री सतीशचन्द्र कौशिक ने अपनी अनुपम सहायता से इसको यह रूप दिया है। मैं शास्त्री जी के सम्पूर्ण परिवार को धन्यवाद देता हूँ, जिसकी संस्कृत भाषा के प्रचार और प्रसार में निष्ठा है और जो निरन्तर संस्कृत भाषा की सेवा में रत हैं।

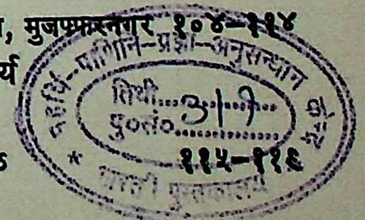
अन्त में, मैं फिर एक बार उन सभी आत्मीय बन्धुओं का आभार प्रकट करते हुये उस परमपिता परमेश्वर से प्रो० कुन्दनलाल शर्मा जी के दीर्घायुष्य की कामना करता हूँ, जिससे वे वैदिक वाङ्मय और संस्कृत वाङ्मय की दीर्घकाल तक सेवा करते रहें।

इत्यलमतिविस्तरेण

—डा० निरूपण विद्यालङ्कार
मन्त्री
मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्, मेरठ



विषय-क्रम



———



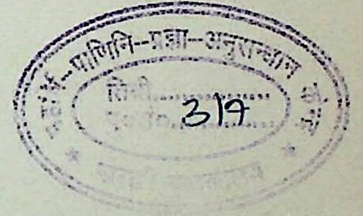
शुभ-कामना-सन्देश

डॉ० रमेशचन्द्र शुक्लः
साहित्याचार्यः, सांख्ययोगाचार्यः, एम्०ए०, पी-एच्० डी०

ए-१/२०३, जनकपुरी
नयी दिल्ली—५८

१. अद्येदमस्माकं सर्वेषामपि कृते परमपुण्यदिनं यत् तस्य महाभागस्य प्रो० कुन्दनलालशर्मणोऽभिनन्दनग्रन्थसमर्पणसमारोहं द्रष्टुं सौभाग्यं विन्दामो यस्य समग्रमपि जीवनं प्रकाशप्रदीप इव विद्यालोकेन यूनां छात्राणां कृते सुपथं प्रदर्शयद् व्यद्युतत्। वयं तस्य विद्वद्वरेण्यस्य दीर्घायुष्कतां कामयमाना ज्ञानाराधकान् बन्धूननुरुन्ध्मो यत् ते तत्प्रणीतं 'वैदिक साहित्य का बृहत् इतिहास' मधीयीरन् मनसा; तेन 'ते के' इत्येतद् सम्यग् ज्ञास्यन्ति। अस्माभिरिह यस्मिन् विषये विमर्शः प्रस्तुतीकृतः स निर्दिष्टग्रन्थमध्येतुं सप्रश्रयं भवतः सर्वानपि सज्जनान् नुदति।

ज्ञानप्रभापुञ्जपवित्रचित्तो
गीर्वाणवाणीं मनसा ह्यजस्रम्।
संसेव्य यो भारतसम्पदं ता-
मध्यात्मविद्यामिविभाति यत्र ॥१॥
प्रीत्यानयच्छ्लाघ्यतरप्रकर्षं
विज्ञाग्रणी वेदविदां वरेण्यः।
जीव्यान्मुदा वर्षशतं स धीमान्
प्रोफेसरः कुन्दनलालशर्मा ॥२॥



—रमेशचन्द्र शुक्लः

Dr. Satya Vrat Shastri
Vyakaranacarya, M.A., M.O.L., Ph.D.
Pandit Manmohan Nath Dar Professor
Department of Sanskrit
Ex Dean, Faculty of Arts,
UNIVERSITY OF DELHI

Tel [Deptt. 221007
[Res. 226371

3/54, ROOP NAGAR
DELHI—7

Date 25-1-77.........

बन्धुवर प्रो० शुक्ल जी,

सादर नमस्कार।

आपका दिनाङ्क ११-१-१९७७ का पत्र प्राप्त हुआ। आपकी प्रो० कुन्दनलाल शर्मा अभिनन्दन ग्रन्थ की योजना के विषय में जानकर प्रसन्नता हुई। इस श्रेष्ठ योजना के लिये आपको हार्दिक साधुवाद। प्रो० शर्मा की संस्कृत सेवाओं से मैं सुपरिचित हूँ। उनका सौजन्य वैदुष्य के साथ मिल कर स्वर्ण सुगन्ध संयोग की सृष्टि करता है।

आपका बन्धु
सत्यव्रत शास्त्री

डॉ० कपिलदेव शास्त्री
संस्कृत विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र ।

डी—६
विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र
१२–२–७७

प्रिय शुक्ल जी,

सप्रेम नमस्ते ।

आपका प्रसन्नताप्रद पत्र मिला । प्रो० शर्मा के सम्मानार्थ आप लोगों ने अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने का जो संकल्प किया है वह सर्वथा प्रशस्य कार्य है । उनके प्रति अपनी समादरभावना के प्रतीक के रूप में एक शोध पत्र अगले सप्ताह तक आपको भेजूंगा । पत्र का विषय है—

"यास्क पर शौनक द्वारा किये गये आक्षेप और उनका समाधान" ।

अब तक कार्य-बाहुल्य के कारण तथा लेख के विषय में अनिश्चय की स्थिति होने के कारण आपको उत्तर नहीं भेज सका था ।

आपने इस पावन यज्ञ में हवि डालने के लिये मुझे सादर निमन्त्रित किया उसके लिये मैं आपका आभारी हूँ ।

आपका सस्नेह
कपिलदेव

डॉ० रामगोपाल
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग,
पञ्जाब विश्वविद्यालय.

एफ्–५, सैक्टर १४
चण्डीगढ़—१६००१४

प्रिय शुक्ल जी,

सप्रेम नमस्कार ।

आपका पत्र क्रमांक ११ दिनांक ११.२.७७ को प्राप्त हुआ । मेरे आदरणीय मित्र डा० कुन्दनलाल जी शर्मा के अभिनन्दन ग्रन्थ का समाचार जान कर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई । इस शुभ तथा सराहनीय कार्य के लिये मैं अपनी शुभ कामनाएँ भेजता हूँ और आप के श्लाघ्य कार्य की सफलता की हार्दिक इच्छा करता हूँ ।

अत्यधिक कार्य-व्यस्तता तथा अल्पकालीन सूचना के कारण लेख भेजने में अपनी असमर्थता के लिये क्षमाप्रार्थी हूँ ।

भवदीय
रामगोपाल

Phones : Office : 2948
Residence : 2985

K. V. Sharma,
Acting Director

VISVESHVARANAND VISHVABANDHU INSTITUTE
OF SANSKRIT & INDOLOGICAL STUDIES,
PANJAB UNIVERSITY,
P. O. Sadhu Ashram,
HOSHIARPUR—146-021 (Pb., India)

Ref. No. 138 /VVIS/551-GCB *Dated* 21.1.77

Dear Prof. Shukla,

I am happy to learn from your letter No. 22 dated 11.1.1977 about the Felicitation Volume to be presented to Prof. Kundan Lal Sharma. Yours is a very worthy venture which deserves all praise.

It would be a privilege to contribute to the Volume, but the time you have given for the preparation of papers is too short.

With best wishes to your endeavours,

Yours Sincerely,
K. V. Sarma

श्यामलाल डोगरा
पुस्तकालयाध्यक्ष
पञ्जाब विश्वविद्यालय पुस्तकालय,
साधु आश्रम, होश्यारपुर १४६०२१

३१·१·१९७७

मान्यवर,

सस्नेह नमस्कार ।

आपका पत्र क्रमाङ्क २६ दि० ११–१–७७ का १८–१–७७ को सहर्ष प्राप्त किया । प्रो० कुन्दन-लाल शर्मा अभिनन्दन ग्रन्थ समिति का आयोजन एक ओर आपकी श्रद्धा और स्नेह की अभिव्यक्ति है दूसरी ओर श्रद्धालु स्नेहास्पद मित्रजनों के प्रति सुन्दर उपहार है । प्रो० शर्मा जी की सारस्वत साधना की चेतना उनकी नवीनतम कृति 'वैदिक साहित्य का बृहद् इतिहास' साहित्य जगत् के लिये अनूठी होगी । प्रतिष्ठित समाज में ऐसे विद्वान् का मान निस्सन्देह अपना भी मान होगा ।

इस सुन्दर अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशित होने पर सूचना भेजने की कृपा कीजिएगा ।

साभिनन्दनम्,

भवदीय
श्यामलाल

डॉ० श्रीमती सूरजमुखी जैन
प्राचार्या
जैन स्थानकवासी गर्ल्स डिग्री कालेज,
बड़ौत (मेरठ)

२२·१·७७

माननीय शुक्ल जी,

सादर नमस्कार।

परम सम्माननीय शर्मा जी के अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रस्ताव मेरे लिए अत्यन्त हर्ष एवं गौरव का विषय है। वास्तव में उन जैसे विद्वान् कर्तव्यनिष्ठ एवं निःस्वार्थ सेवी व्यक्ति विरले ही होते हैं।

ईश्वर से प्रार्थना है कि आप लोगों की यह योजना शीघ्र क्रियान्वित हो सके।

भवदीया
सूरजमुखी जैन

डॉ० हरिनारायण दीक्षित
संस्कृत विभागाध्यक्ष
देवीसिंह बिष्ठ महाविद्यालय,
नैनीताल।

६, ओक पार्क
नैनीताल
२२–१–७७

आदरणीय शुक्ल जी,

आपका १४–१–७७ का ६६ संख्यक पत्र प्राप्त हुआ। यह प्रसन्नता का विषय है कि आप प्रो० शर्मा जी का अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित कर रहे हैं।

इस अवसर पर मैं अपनी हार्दिक बधाई भेजता हूँ। आशा करता हूँ कि अब अवकाश के क्षणों में, अन्य सभी चिन्ताओं से मुक्त होकर, श्री शर्मा जी संस्कृत वाणी की ओर भी गहन साधना में संलग्न रहेंगे।

भवदीय—
हरिनारायण दीक्षित

डॉ० विश्वनाथ शुक्ल
प्राचार्य, बी० एस० एम० कालेज
रुड़की।

अत्यन्त हर्ष का विषय है कि एस० डी० कालेज के निवर्तमान संस्कृत विभागाध्यक्ष एवं संस्कृत के विख्यात विद्वान् प्रो० कुन्दनलाल शर्मा के अभिनन्दन का आयोजन मेरठ वि० वि० की संस्कृत-प्राध्यापक परिषद् के तत्वावधान में किया जा रहा है। प्रो० शर्मा को मैंने कुशल प्रशासक एवं विशेषज्ञ के रूप में भी देखा है। वे सचमुच इस सम्मान के योग्य अधिकारी हैं। मैं उनके चिरायुष्य की कामना करता हूँ।

—विश्वनाथ शुक्ल

डॉ० विनोदचन्द्र विद्यालङ्कार
एम. ए., पी-एच. डी.
अनुवाद तथा प्रकाशन निदेशालय

गो० ब० पंत कृषि एवं प्रौद्योगिक विश्वविद्यालय
पंतनगर (नैनीताल)
२१.१.१९७७

मान्यवर भाई जी,

सादर प्रणाम ।

आपका ११–१–१९७७ का पत्र संख्या १८ प्राप्त हुआ । श्रद्धेयचरण शर्मा जी के अभिनन्दन-ग्रन्थ के प्रकाशन की योजना का समाचार पढ़कर प्रसन्नता हुई । यह पुण्य कार्य आप जैसे कर्मठ विद्वान् के संयोजकत्व में सम्पन्न होगा, यह और भी आह्लादजनक है । पिछले दिनों मेरठ में डॉ० निरूपण जी ने भी इस विषय में चर्चा की थी ।

सादर,

स्नेहाधीन बन्धु
विनोदचन्द्र

पण्डित रामानन्द शर्मा
श्रीरामदरबार
द्वारिकापुरी
मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)

परमस्नेही उमाकान्त जी !

सुहृद् मित्र श्री ब्रह्मानन्द जी शुक्ल से स्नेह सम्बन्ध के नाते तुम्हें प्रिय पुत्र कहूँ तो अधिक श्रेष्ठ होगा, सच कहता हूँ ! आज मेरा हृदय बहुत गौरवान्वित है ।

अभिनन्दनीय का अभिनन्दन होना ही चाहिए, शिक्षा क्षेत्र में आदरणीय श्री शर्मा जी का देववाणी हेतु अनवरत देवतुल्य सुकार्य वास्तव में श्लाघनीय है ।

तुम्हारे इस स्तुत्य प्रयास को मेरा कोटिशः आशीष ।

शुभाकांक्षी
रामानन्द शर्मा

॥ श्रीहरिः ॥

डॉ० कृष्णकान्त शुक्ल
एम० ए० (संस्कृत-हिन्दी), पी-एच० डी०
साहित्याचार्य, साहित्यरत्न

संस्कृत विभाग,
बरेली कालिज, बरेली

दिनाङ्क १६-२-७७

प्रिय उमा जी,

यह जानकर अत्यन्त हर्ष हुआ कि तुम लोग आदरणीय 'प्रो० कुन्दनलाल जी शर्मा अभिनन्दन-ग्रन्थ के प्रकाशन की योजना बना रहे हो। तुम्हारा यह प्रयास श्लाघनीय एवं प्रेरणाप्रद है। पूज्यों की पूजा बड़े भारी कल्याण का हेतु होती है।

आदरणीय श्री शर्मा जी का जीवन अध्यवसाय एवं निष्ठा का पर्याय है। 'अधीतमध्यापितमर्जितं यशः' उन पर अक्षरशः चरितार्थ होता है। ऐसे मूक साधक का यह अभिनन्दन सरस्वती का ही आराधन है। इस आराधना में मेरे भी भाव-कुसुम सम्मिलित करना।

ईश्वर से प्रार्थना है कि वह श्री शर्मा जी को दीर्घायुष्य एवं सुन्दर स्वास्थ्य प्रदान करें, जिससे वे संस्कृत-साहित्य की उल्लेखनीय सेवा कर सकें।

शुभाकांक्षी—
कृष्णकान्त शुक्ल

शिवरात्रि, सं० २०३३

एकं संस्मरणम्

डॉ० हरिदत्तशास्त्री

समतीतो बहुतिथः कालः। एकदाहं न्यवर्तमानः गुरुकुलमहाविद्यालयात् कार्यवशान् मुजफ्फरनगरमभ्यपतम्। तत्र च पण्डितविजयशंकरशर्मणः सदने कृतावस्थानः समुपजातपण्डितवरकुन्दनलालशास्त्रिदर्शनाभिलाषः तं तद्गृहे अनुपलभ्य तत्कालेजाभिमुखं प्रास्थिषि, मध्येमार्गञ्चेक्षुदण्डक्षेत्र-मध्यात् एकमिक्षुदण्डमात्रोट्य विचूशन् कालेजप्राङ्गणं प्राविशम्। तत्र च विशकलितभालं सारस्वताम्बोधिमरालं उपरितनभूमिककक्षासु विशालशालाधिष्ठितासु कृतावस्थानं ललितसंस्थानं कक्षान्तरालात् कृतप्रस्थानं मध्येमार्गं मां पर्यचिनवम्। स तु महानुभावः कक्षान्तरं प्रविश्य मां दर्शनाध्ययनपरच्छात्रान् मत्संस्तवम् दत्त्वा दर्शनविषये किञ्चित् वक्तुमन्वरोत्सीत्। अहं तु निषेधाक्षरविच्छुरितां वाचं तस्मै ददानोऽपि मुहुस्तदीयं कथमपि प्रणयानुरोधम् उलंघयितुं नाशकम्। यथा तथा च दर्शनकक्षायां यत्किञ्चिद् दर्शनसम्बन्धि किमपि सार्गलमनर्गलं वा विषयसम्बन्धि विषयातिक्रान्तं वा व्याहार्षम्। ततो विनिवृत्तावावां तद् भवनं नई मण्डीस्थितम् आगच्छाव। तत्र चायम् आतिथेयीम् अवार्यकार्यां स्वां भार्यां किमपि निर्मातुं मुखयोज्यं भोज्यं भ्रूसंकेतेनादीक्षत। यावदहं हस्तौ प्रक्षालयामि तावदेव देवी समिष्टान्नं संपादितमेलम् ओष्ठावलोप्यं छोलेपदाभिलप्यं लपनकृताप्यं समुपाहरत्। आवाञ्च तदास्वादने प्रवृत्तावभूवाम। अहं तु तद् ललनायाः पाककर्मनैपुण्यं निरीक्ष्य बहुशस्तां प्राशंस। तदनु च वेदव्याकरणविषयिणीं चर्चामसावचर्चीत्। अहं तु तदीयप्रवर्तितसाहित्यचर्चासौहित्येन प्राप्तसौहित्यः तं स्वीयवक्षोजानन्दलहरीतः कानिचित् पद्यानि अशिश्रवम्। तथाहि—

॥ १ ॥

गमनमलसयातैः कुम्भलक्ष्मीं कुचाभ्यां,
अविरलकरशोभामूरुदण्डद्वयेन।
किमु समहरदेषा हेतुनानेन नूनम्,
तव शिरसि करीन्द्राः पांसुपूरं क्षिपन्ति॥

॥ २ ॥

श्यामा रोमावलीयं विलसति नलिनीनाभितःसारमध्या,
तस्यां संभूतमेतत्कुचयुगकमलद्वन्द्वमिन्दीवराक्षा।
चञ्चद्वक्त्रेन्दुबिम्बान् मुकुलितवदनं तच्च संज्ञानमास्ते,
मैलिन्वद्वन्द्वमेतत् तदुपरिकलये चूचुकस्यच्छलेन॥

॥ ३ ॥

तव वदनामृतपङ्के लोचनयुगलं प्रमादतः पतितम्,
चेतोद्धतमुद्धर्तुं तदपि च कुचकुम्भान्तरे मग्नम्॥

॥ ४ ॥

अद्यापि [कञ्चुकनिबद्धकुचौ च हेम्नाः,
वीरौ स्मरस्य रतिसङ्गरसाभिलाषम् ।
उत्तुंगकाञ्चनगिरिद्वयसाम्यभाजौ,
मध्यान्तरेण रहितावुरसावलम्बेः ॥

॥ ५ ॥

इदमयुक्तमहो महदेव यद्,
वरतनोः स्मरयत्य निलोन्यदा ।
मृतसयौवनसोष्मपयोधरान्,
सतुहिनस्तु हिनस्ति वियोगिनः ॥

एवंकारं काव्यालापैः चिरं भवनास्थितौ आवां समयमत्यवाहयाव । कथंकारं ततः प्रचलितोऽहं पण्डित-वरस्य तस्य साहित्यशास्त्रगरिमाणं मनस्याम्रेऽमाम्रेडं पद्यमिदं मुखाद् न्यसरद् स्वीयाभ्यां श्रोत्रचषकाभ्यां-स्वयमपिब तथाहि—

श्रीमान् कुन्दनलालो मोहेलाभञ्जने कालः
सुरभारतीमरालो जयताद् गर्वानिलव्यालः ॥

———

एक लाल ही धन्य है तुम दो—'कुन्दन लाल'

डॉ० जगदीश वाजपेयी

बात आज से लगभग २६–२७ वर्ष पूर्व सन् १९५० की है, जब श्री कुन्दनलाल शर्मा पहली बार डिग्री कक्षाओं को संस्कृत पढ़ाने के लिए खन्ना (पंजाब) से मुज़फ्फरनगर के एस० डी० कॉलेज, में आये थे। ठेठ पश्चिमी वेश-भूषा, कोट-पैंट-टाई तथा चमचमाते काले 'शू' पहने वे प्रथम दृष्टि में देव-वाणी संस्कृत के नहीं, वरन् अंग्रेजी के 'टिप-टाप' प्रोफेसर लगते थे और कॉलेज-कमेटी के बहुत पुरातनता-प्रेमी सदस्यों को उनकी यह वेश-भूषा बहुत कुछ अटपटी-सी भी लगी थी। उन्हें देखकर संस्कृत-पण्डितों (विद्वानों) का परम्परा-गत रूप सपने में भी ध्यान न आता था।

हजारों वर्ष पूर्व पुण्य-तोया सरस्वती के तट पर बसे हुये आर्यों की भाँति शुभ्र-उज्ज्वल वर्ण कीर-सदृश नासिका, पैनी-भेदक आँखें भरी-भरी देह-यष्टि, मँझोला कद और गुराई के साथ तरुनाई-जनित स्वास्थ्य-सूचक उनके कपोलों की अरुणाई देखकर अनायास ही मतिराम की ये पंक्तियाँ स्मरण हो आती थीं—

कुन्दन को रँग फीको लगै, झलकै अति अंगनि चारु गोराई

परन्तु, यह तो वास्तव में उनका बाह्य गात्र-मात्र था। उनका अन्तर तो प्राच्य ज्ञान-विज्ञान की अबुझ पिपासा से परिपूर्ण था। भारतीय दर्शन, वेद-वेदान्त तथा संस्कृत-साहित्य की तरल-त्रिवेणी उनके मन-प्राण के भीतर तरंगायित थी और इनका अध्ययन-अध्यापन उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था।

अविभाजित पंजाब के मांटगुमरी जिले के कस्सोवाल नामक स्थान में एक मध्यवर्गीय सरकारी कर्मचारी पं० रामदित्ता मल के घर जन्मे श्री शर्मा अपनी माता श्रीमती भागवन्ती की प्रथम सन्तान हैं। वैसे उनके कई वैमातृ भाई-बहन हैं और उन सभी का उन्हें उनका ज्येष्ठ सहोदर जैसा ही आदर-सम्मान तथा स्नेह प्राप्त है।

उनके लाहौर के गुरुजनों में बहुभाषा-विद् डॉ० रघुवीर, डॉ० सूर्यकान्त, प्रख्यात वेदज्ञ, डॉ० लक्ष्मण स्वरूप आदि थे, परन्तु उनकी जिज्ञासु भावना संस्कृत के प्रख्यात सरस्वती-पीठ काशी तथा नवद्वीप जाकर विद्या-प्राप्त करने की थी और इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर वे दूरस्थ वाराणसी तथा कलकत्ता तक पहुँचे।

श्रीशर्मा ने उस समय संस्कृत पठन-पाठन की धुन ठानी, जब पंजाब में विजातीय भाषा—अंग्रेजी का दौरदौरा था, लाहौर सारे देश में पश्चिमी फैशन का केन्द्र माना जाता था और हिन्दी की 'शास्त्री' के नाम से पुकार कर खिल्ली उड़ाई जाती थी। अतः यह स्वाभाविक ही था कि उनके इस निश्चय को सरकारी सेवा में रत उनके पिता श्री ने भी कुछ समय तक बहुत पसन्द न किया हो, परन्तु पुत्र की सच्ची लगन ने बाद में उन्हें बहुत प्रभावित किया और जब वे पंजाब प्रदेश से काफी दूर काशी तथा कलकत्ते जाकर संस्कृत के अध्ययन में प्रवृत्त हुये, तो पिता का वरद आशीष उन्हें अनायास ही प्राप्त हो गया। उनके काशी के गुरुगणों में ऋषि-कल्प महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज तथा कर्मकाण्ड के भारत

प्रख्यात विद्वान् पं० विद्याधर गौड़ प्रमुख थे। कलकत्ता-प्रवास में उनको आचार्य विधुशेखर भट्टाचार्य तथा सतकौड़ी मुकर्जी का स्नेह-सान्निध्य प्राप्त था।

इस प्रकार राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के अनेक मनीषियों के चरणों में बैठकर उन्होंने जो ज्ञानार्जन किया, वह बाद में आजीवन उनका प्रिय-सहचर रहा और उसके यथा सम्भव परिष्करण तथा परिवर्द्धन के साथ-साथ प्रो० शर्मा ने उसे अपने शिष्यों, मित्र तथा सहयोगियों के बीच मुक्त-हस्त होकर वितरित किया। वस्तुतः, विद्या बुद्धि की यही चरम सार्थकता है और श्रीशर्मा आज भी इस पावन-अनुष्ठान में मनसा, वाचा तथा कर्मणा संलग्न हैं।

प्रो० कुन्दनलाल शर्मा ने अपना अध्यापक जीवन दोआबा कॉलेज, जालंधर से प्रारम्भ किया, जहाँ १९४३ से १९४७ तक वे संस्कृत-हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रहे। १९४७ में उनकी नियुक्ति ऐंग्लो-संस्कृत कॉलेज, खन्ना (लुधियाना) में हुई, जहाँ वे दिसम्बर १९५० तक रहे और १९५० से १९७६ तक सेवा-निवृत्ति होने के समय तक वे सनातन धर्म कॉलेज, मुज़फ्फ़रनगर में पहले डिग्री तथा बाद में स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग के वरेण्य तथा सर्वसमादृत अध्यक्ष रहे।

स०ध० कॉलेज, मुज़फ्फ़रनगर में वे प्राचार्य उप-प्राचार्य, कॉलेज-पत्रिका—'कौमुदी' के प्रधान सम्पादक, छात्र-संघ के निर्देशक, 'चीफ प्राक्टर' आदि पदों पर रहकर कार्य करते रहे और अपने कार्यकाल में अपनी अटूट लगन, श्रमशीलता तथा कार्य-निष्ठा के लिए प्रसिद्ध रहे।

संस्कृत भाषा और साहित्य के विस्तृत क्षेत्र में वैदिक साहित्य तथा भारतीय-दर्शन उनके विशेष प्रिय विषय रहे हैं। यद्यपि स्नातकोत्तर कक्षाओं को संस्कृत पढ़ाते हुये उन्होंने अन्य विषय जैसे व्याकरण, भाषा-विज्ञान, काव्य नाटकादि विषयों का भी अध्यापन किया है।

अपत्य-विहीन होते हुये भी उनका दाम्पत्य-जीवन बहुत सुखी है। उनकी धर्मपत्नी-श्रीमती पुष्पावती शर्मा यथानाम तथागुण होने के अतिरिक्त अतिथि-सत्कार तथा समाज-कल्याण के कार्यों में गहरी रुचि लेतीं रही हैं। भारत-चीन तथा भारत-पाकिस्तन युद्ध के दौरान उन्होंने युद्ध भूमि में जाने वाले जवानों के स्वागत-सत्कार के अनेक कार्यों में आगे रहकर भाग लिया और समर-भूमि में वीर गति पाने वाले शूरमाओं के परिवार के कल्याण के लिए जी भर हाथ बँटाया।

वे विश्व हिन्दू परिषद् की मुजफ्फर नगर शाखा के अध्यक्ष तथा स्थानीय सनातन धर्म-संस्कृत पाठशाला के अवैतनिक मंत्री तथा व्यवस्थापक रहे। परन्तु नगर की सीमित परिधि से ऊपर उठकर उनकी ख्याति प्रदेश-व्यापी बनी और वे अपनी वरीयता के आधार पर आगरा विश्वविद्यालय की संस्कृत-पाठ्यक्रम समिति के सदस्य बने और मेरठ विश्वविद्यालय की स्थापना के बाद उसकी संस्कृत पाठ्यक्रम समिति के प्रथम संयोजक नियुक्त हुये। इसी प्रकार वे मेरठ विश्वविद्यालय की कला-संकाय के सदस्य चुने गये तथा वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय की 'सिनेट' के भी सदस्य रहे।

प्रो० शर्मा को आरम्भ से ही शोध-कार्य के प्रति गहरी अभिरुचि रही है और अब तक उनके निम्नलिखित ग्यारह शोध-पत्र देश के विभिन्न-पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं:—

१—ऋग्वेद में दार्शनिक तत्त्व (विश्वज्योति-वेदाङ्क)
२—उपनिषदों में सांख्य के तत्त्व (उपनिषद् अङ्क)
३—रामायण में सीता परित्याग की समस्या (रामायण अङ्क)
४—महाभारत में सांख्य तत्त्व (महाभारत अङ्क)
५—धर्मशास्त्रों में ऋण तथा निक्षेप (धर्मशास्त्र अङ्क)
६—वैदिक विवाह—(सरस्वती सुषमा, वाराणसी)
७—उर्वशी पुरुरवसोराख्यानम् (विश्वसंस्कृतम्)
८—भारतीय प्रजातन्त्रम् (विश्वसंस्कृत)
९—चीन में भारतीय संस्कृति (विश्वज्योति)
१०—चीन में संस्कृत साहित्य (विश्वज्योति)
११—The Problem of Incest in Yama-Yami Diologue in ऋग्वेद
(अलीगढ़ विश्वविद्यालय)

उक्त शोध-लेखों के अतिरिक्त वर्षों से परिश्रम करते हुए वे वैदिक साहित्य का बृहद् इतिहास लिखने में संलग्न हैं, जिसका १२०० पृष्ठों वाला प्रथम भाग यथाशीघ्र प्रकाशित होने को है।

इसके अतिरिक्त अब तक ३ विद्यार्थियों ने उनके निर्देशन में पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त कर ली है और लगभग ८-९ शोध-कर्त्ता कार्य-रत हैं। वे वर्षों तक मेरठ विश्वविद्यालय की संस्कृत-अध्यापक परिषद् द्वारा प्रकाशित शोध-पत्रिका के प्रधान सम्पादक रहे हैं और शिक्षण-कार्य से अवकाश प्राप्त कर लेने के बाद, अब उनका अधिकांश समय वैदिक साहित्य के अध्ययन-मनन में ही व्यतीत होगा।

परमेश से प्रार्थना है कि वह प्रो० शर्मा को शतायु करें जिससे वे संस्कृत-साहित्य का भण्डार भर सकें।

—:०:—

विद्यावदात-मनीषी प्रो०—के० एल्० शर्मा

प्रो० सेवाराम शर्मा

मिथ्या-प्रशस्ति गायन, मेरे विचार से, एक अपराध है, तो श्रद्धास्पद गुणों का अनभिनंदन जघन्य पाप से कम नहीं हैं। महिमामय व्यक्तित्व का गुणानुवाद हमारी मानस जन्य संकीर्णता एवं निष्क्रिय-जड़ता का उन्मूलन करके हमें अधिक उदात्त तथा सात्विक-वृत्ति की ओर प्रेरित करता है। किसी महान् की गुण गरिमा की अभिशंसा स्वतः उसके (गुणी के) लिये संभवतः बड़ी चीज़ न हो पर गुणगायक के लिये निःसन्देह वह उत्कर्षोत्प्रेरक सिद्ध होती है। इस प्रकार मैं कह सकता हूँ कि अपने पूज्य गुरु प्रोफेसर के० एल० शर्मा के अभिनन्दन में उनके व्यक्तित्व को लेकर मैं जो कुछ थोड़ा सा कहना चाहता हूँ, उससे स्वयं उपकृत होकर कुछ वैसा ही अनुभव करना चाहता हूँ जैसे इष्ट देव के चरणों में दो चार श्रद्धा सुमन चढ़ाकर भक्त अनुभव करता है। बात यह है, जिस प्रकार का स्नेहसिक्त, अनौपचारिक आशीर्वाद मुझे उनकी ओर से मिलता रहा है; मैं संभवतः उसके योग्य पात्र सिद्ध नहीं हुआ; पर इससे आज भी गुरुवर के स्नेह स्रोत में किसी प्रकार की कृपणता उत्पन्न नहीं हुई। मैं तो चाहता हूँ अध्यापन के औपचारिक एवं व्यावसायिक भार से मुक्त होकर वे आयु के शताधिक वर्षों तक हमारा मार्ग दर्शन करते रहें।

"महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः" महान् स्वभावतः मितभाषी होते हैं। जल्पाक एवं कुतर्कशील कभी महान् नहीं हो सकते। यह एक रूढ सत्य है। मितभाषी तथा स्मितपूर्वाभिभाषी शर्मा जी को मैंने कभी किसी के साथ टालने की भाषा में बात करते नहीं देखा। अपनी छात्रावस्था में, बिना उनका नियमित छात्र होने के, मैं अनेक बार असमय में उनके पास जा धमका हूँ। घन्टों बातें करता रहा हूँ। बाद में प्रायः चलते समय मालूम हुआ कि आज उनकी तबियत ठीक नहीं और उन्होंने आराम के लिये अवकाश लिया हुआ था। किन्तु क्या मजाल जो चेहरे पर अप्रसन्नता की लेशमात्र शिकन—एक रेखा भी दिखाई दी हो। उनका द्वार सदा कपट-कपाट-शून्य एवं सभी अपनों के लिये अनावृत रहा है, और जहाँ तक मैं जानता हूँ 'उनके लिये कौन सज्जन अपना नहीं है'—यह शोध का विषय है। उनकी कथनी और करनी में मैंने कभी अन्तर नहीं देखा। १९६४–६५ में अध्यापकों की बहुत बड़ी हड़ताल हुई थी उनकी सहानुभूति में विश्वविद्यालयीय कालेजों के अध्यापकों को भी वि० प्रा० संघ की ओर से एक निर्देश आया था कि वे भी परीक्षण कार्य न करें। पर सिद्धान्त और व्यवहार का जैसा मनोमन्थनकारी विभेद आज चारों ओर व्याप्त है उसके आग्रह से दो प्रतिशत व्यक्ति ही यह नैतिक साहस दिखा सके थे कि प्राप्त हुई परीक्षकता का सहस्रों का लाभ स्पष्ट नकार दें। शर्मा जी इन्हीं दो प्रतिशत में आते हैं।

बढ़ती आयु प्रायः व्यक्ति को कुछ अधिक ही सक्रिय एवं सृजनात्मक पक्ष के प्रति उत्साहहीन करती चली जाती है। वह प्रायः अपनी युवावस्था में बोयी गई फसल काटकर ही काम चलाने लगता है। युवा-

वस्था जन्य सृजन की मूल पूंजी के ब्याज से ही संतुष्ट रहने लगता है, किन्तु शर्मा जी के लिये अध्ययन अध्यापन एक व्यवसाय नहीं, एक मिशन, एक साधना और कहना चाहिये, जीवन की प्रणाली का विशिष्ट अङ्ग रहा है। आज के प्राध्यापक वर्ग में कुछ नया पढ़ने पढ़ाने की प्रवृत्ति भयावहता की सीमा तक घटती जा रही है। कितना भी बड़ा विद्वान् हो, स्वाध्याय का ओषजन न मिलने से उसके भीतर बैठे ज्ञान वितरक गुरु का दम घुटने लगता है। विद्या-लता की ज्ञान-गन्ध तिरोहित होने लगती है और फिर समय आता है, पूर्वोच्छिष्ट को बांटते रहने के सिवाय वहाँ देने के लिये कुछ भी नूतन नहीं रह जाता। ऐसे दीन प्राध्यापक के द्वार से ज्ञानार्थी शिष्य इसी प्रकार विरक्त होकर वापस होने लगते हैं जिस प्रकार प्यासे पंछी सूखे सरोवर से दूर उड़ जाते हैं। किन्तु यहाँ भी शर्मा जी अनन्य रहे है। अपवाद रहे हैं। मैंने तो उन्हें ग्रीष्म के द्रोपहर में भी घण्टों काशिका के साथ रसलीन होते देखा है, महाभाष्य से सौहार्द गोष्ठी करते पाया है। ईश्वर-प्रदत्त लावण्य की लालिमा के साथ ही उनका मुख विद्यावदात-ज्ञान गरिमा से उद्दीप्त रहा है।

प्राध्यापक का कार्य पथप्रदर्शन करके शिष्य के भीतर छिपी या सोयी हुई प्रातिभ सामर्थ्य को जगाना है। मैं जब-जब उनसे मिला हूँ, कुछ नया सीख कर उठा हूँ। उन्होंने मुझे नया प्रोत्साहन और संभावनाओं का नया द्वार अवश्य दिखलाया है। भले ही मैं अपने प्रमाद एवं आलस्य के कारण उनकी आशा के अनुरूप पात्रता प्रमाणित नहीं कर सका पर मुझे कभी ऐसा नहीं लगा कि वे कभी भी मेरी ओर से निराश या खिन्न हुये हो। उनकी डांट भी स्नेहसिक्त होकर आयी है अतः उससे मन में कहीं और किसी को भी खरोंच लगे, इसका वहाँ अवकाश ही नहीं है। उनका आतिथ्य भी अनन्य साधारण होता है। जो लोग प्रोफेसर शर्मा एवं उनके दाम्पत्य से परिचित हैं, जानते हैं कि यह आदर्श युगल कितना गरिमावान् है। उनका आतिथ्य ग्रहण करके मुझे सदैव लगा है कि जितने का अधिकारी नहीं हूँ उतना ग्रहण किये जा रहा हूँ। शर्मा दम्पति—ऐसा समर्पित युगल—कम से कम मेरी दृष्टि में नहीं आया। ज्ञान और गरिमा, विद्या एवं विनय तथा निष्ठा और तत्परता का मणिकाञ्चन योग है वहाँ।

गुरुवर शर्मा जी को मैंने संस्कृत प्राध्यापक परिषद् की गोष्ठियों में तथा इसी प्रकार के कार्य क्रमों में जिस तत्परता से सक्रिय देखा है उसके सामने नवयुवकों को भी संकुचित होना पड़ा है। आज तो स्थिति यह है कि संस्कृत के नाम पर अपनी जीविका चलाने वाला तथा प्रबुद्ध कहे जाना पसंद करने वाला हमारा वर्ग भी संस्कृत के कार्य-क्रमों के प्रति तटस्थ और विरक्त सा होता जा रहा है। किन्तु प्रोफेसर शर्मा ऐसे हर आयोजन के प्राणवान् तत्त्व रहे हैं। मैंने देखा है कि विचार वैभिन्न्य अथवा विरोधात्मक स्थिति में भी शर्मा जी क्षणिक आवेशाविष्ट होकर पुनः सहजभाव से, एक खिलाड़ी की आस्था से संतुलन बनाये रहे हैं। ऐसे क्षणों में ही मैंने उनसे सीखा है कि कटुता को बचाते हुये भी सैद्धान्तिक पराजय से कैसे बचा जा सकता है। उनमें मैंने दुराग्रह कभी नहीं देखा।

मुझे मालूम है, प्रायः सभी के जीवन की तरह उनके जीवन में भी क्रूर परीक्षा की घड़ियाँ आयी हैं। जब केवल उनका धैर्य ही उनका साथी रहा उन्होंने दूसरों के लिये असाधारण त्याग किये हैं, पर बदले में चाहा कुछ नहीं है।

में उनके अनन्य स्नेह को कभी नहीं भूल सकता। गत वर्ष रुड़की में संस्कृत-प्राध्यापक-परिषद् के अधिवेशन में बहुत अस्वस्थ होते हुये भी केवल मेरे (कहीं तक निष्करुण एवं बचकाने) आग्रह की रक्षा के लिये वे कुछ समय के लिये ही सही आये बिना नहीं रह सके। इस प्रकार, का सौजन्य एवं उदारता अपनों से छोटों के प्रति आज कितने लोगों में है। किन्तु मैं यहीं एक बात और कह दूं। सिद्धान्त के अनुशासन पर्व में उनसे शायद ही छूट (लिबर्टी) ली जा सकती है। बस यहीं वे कुसुमादपि कोमल और वज्रादपि कठोर है। अतः महान् है।

अन्त में पुनः मेरी हार्दिक कामना है कि शर्मा जी जैसा प्रकाश पुञ्ज हमें अनन्त काल तक मार्ग दर्शन प्रदान करें। वे शतायु होंवे।

———

शर्मा जी का व्यक्तित्व : साहित्य की प्रयोगशाला

डॉ० कर्णसिंह, मेरठ कालिज

मझला कद, न बहुत स्थूल न बहुत कृश देह, ताम्रवर्णी छवि, रजतशुभ्रकेश, उन्नत ललाट, तेजस्वी मुखमण्डल तथा स्वच्छ वेश—ये कुछ थोड़े से लक्षण हैं, जिनसे सहज ही जाना जा सकता है कि यही व्यक्ति प्रोफेसर कुन्दनलाल शर्मा हैं।

प्रो० कुन्दनलाल जी से मेरा बहुत अधिक एवं निरन्तर सम्पर्क नहीं रहा है। सब मिलाकर कुछ गणनायोग्य ही अवसर हैं, जब मैं उनसे मिला हूँ। ऐसे अवसर तो और भी अधिक कम हुए हैं, जिनपर मैंने शर्मा जी से अनौपचारिक सम्पर्क या सम्भाषण किया है।

प्रोफेसर शर्मा के आस-पास का वातावरण सदैव उनके योग्य गाम्भीर्य एवं गरिमा से ओत-प्रोत रहता है। उनका व्यक्तित्व सहसा ही खुल पड़ने का अवसर किसी को नहीं देता है। प्रथम परिचय में, उचित आतिथ्य के उपरान्त जब शर्मा जी आगन्तुक व्यक्ति से उसके आगमन का कारण पूछते हैं, तो नितान्त महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक प्रयोजन से आने वाला व्यक्ति भी इस असमञ्जस में पड़ जाता है कि वह अपना प्रयोजन उनसे कहे भी कि नहीं, और यदि कहना ही है, तो किन शब्दों में कहे। निःसन्देह, यह एक कठिन कार्य है कि सीधे ही कोई उनसे अपने प्रयोजन की बात कह पा सके।

उपर्युक्त पंक्तियों से यह निष्कर्ष निकालना सर्वथा भ्रामक ही होगा कि शर्मा जी, सम्भवतः बहुत ही रूक्ष एवं कठोर प्रकृति के निर्लिप्त पुरुष हैं। कारण, इसके विपक्ष में ऐसे अनेकानेक तथ्य हैं, जो उन्हें बहुत ही सहृदय, स्नेही, वदान्य एवं सहानुभूतिशील सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। इस अवसर पर मैं शर्मा जी के उन्हीं गुणों में से कुछ का संक्षिप्त उल्लेख यहाँ करना चाहूँगा।

सर्वप्रथम, शर्मा जी का व्यक्तित्व चाहे कितना भी गम्भीर हो, उससे उनके आभिजात्य का परिचय सहज ही मिल जाता है। अतः, हेतु एवं परिणाम तथा कारण एवं कार्य के सम्बन्ध को थोड़ा भी जानने वाला व्यक्ति यह नहीं स्वीकार कर सकेगा कि शर्मा जी किसी भी प्रकार से रूक्ष एवं असहृदय व्यक्ति हैं। कारण, आभिजात्य स्वयं में एक गुण ही नहीं है, अपितु एक विशाल गुणसमुदाय का जनक भी है।

द्वितीय, प्रो० शर्मा संस्कृत-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। वे संस्कृत-साहित्य के रस-सरोवर में आकण्ठ निमग्न रह चुके हैं। उनका साहित्यानुराग, विशेषतः संस्कृत-साहित्य से अनुराग तो स्वयं में ही उनकी सहृदयता एवं सरस-प्रकृति का परिचायक है। वैदिक ऋषियों की सरस अमृतवाणी, रामायण और महाभारत-सदृश महाकाव्यों की रस-संजीवनी तथा भास, कालिदास एवं बाण जैसे महाकवियों के काव्य-रसायन का उपभोग जिस व्यक्ति ने किया हो, सहृदयता एवं सरसता तो, निजगुण-निर्जिता दासियों के समान ही उसकी चेरी होने में अपनी सार्थकता समझती हैं।

तृतीय, शर्मा जी का जीवन, स्वयं में साहित्य की एक सजीव प्रयोगशाला है। मेरा संकेत यहाँ उस बिम्ब की ओर है, जो शर्मा जी के व्यक्तित्व में सदैव प्रतिबिम्बत रहता है। उसकी छाया उनके व्यक्तित्व में सदैव झलकती रहती है। यहाँ तक, कि मेरे लिए तो श्रीमती शर्मा की उपस्थिति के बिना शर्मा जी की

उपस्थिति का अहसास कर पाना भी कठिन है। बहुत ही कम, केवल अपने कार्यभार के निर्वाह-सम्बन्धी कुछ सीमित क्षणों में ही वे कभी अकेले दृष्टिगोचर होते हैं, अन्यथा शेष सारे समय उनकी सहज सहधर्मिणी अपने सहधर्म का अक्षरशः पालन करती हैं।

मेरा सहज विश्वास है कि प्रोफेसर शर्मा जी के व्यक्तित्व के इस कोमल पक्ष पर, निश्चय ही, महाकवि कालिदास की सहृदयता, सरसता एवं सौन्दर्यप्रियता का प्रत्यक्ष प्रभाव है। अपने को व्यक्त करने के लोभ का संवरण करने में असमर्थ होता हुआ मैं स्पष्टतया कहना चाहता हूँ कि शर्मा जी ने कवि कालिदास की कल्पना को वास्तविकता प्रदान कर दी है। कालिदास बेचारा तो शकुन्तला के सौन्दर्य एवं प्रेम की केवल कल्पना ही कर सका था, किन्तु शर्मा जी ने उसे न केवल उपलब्ध किया है, न केवल अनुभव किया है, अपितु उन्होंने उसे अपना अर्धाङ्ग ही बना लिया है। और, यही कारण है कि मैं शर्मा जी के जीवन को साहित्य की सजीव प्रयोगशाला मानता हूँ। यहाँ अपनी धृष्टता एवं वाचालता के लिए क्षमा याचना करता हुआ, मैं एक प्रश्न शर्मा जी से पूछ रहा हूँ—"क्या आप विवाह से पूर्व कालिदास की 'शकुन्तला' से परिचित हो चुके थे ?"

अन्त में, मैं पुनः-पुनः बाल देकर कहना चाहता हूँ कि शर्मा जी सहृदयता के सरोवर हैं, रस के सागर हैं, विदग्धता के कोश हैं। आवश्यकता उनके निकट सम्पर्क में आने की है, तदुपरान्त तो समय-पर प्रकट होने वाली उनकी विनोदप्रियता और सरसता स्पृहणीय बन जाती है। "मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत-प्राध्यापक परिषद्" के देहरादून-अधिवेशन के अवसर पर, सहस्र धारा की मनोरञ्जक यात्रा के समय, श्रीमती शर्मा के साथ बस में बैठे हुए शर्मा जी ने डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार से, एक बार, कहा था—"निरूपण जी, आपने हमसे वायदा किया था कि आप भी सपत्नीक ही इस अधिवेशन में आयेंगे ?"

किन्तु, कौन नहीं समझेगा कि शर्मा जी तब भी अपने सच्चे सहचर होने का दावा ही ताल ठोंक-कर कह रहे थे।

———

मेरे गुरु, मेरे पूज्य

—प्रो० जगदीशप्रसाद 'सविता'

उस दिन कॉलेज पहुंचने पर अचानक किसी को कहते सुना, "लो भई अब तो अपने शर्मा जी (श्री कुन्दनलाल शर्मा, अध्यक्ष संस्कृत-विभाग) की भी सेवा-अवधि समाप्त होने को है और वह जल्दी ही अवकाश ग्रहण करने वाले हैं !" सुन कर अजीब सी दशा हुई मेरी।

किसी का बिछुड़ना किसी ऐसे का जिसके सम्बन्धों का रंग अपने ऊपर गाढ़ा चढ़ा हो, जिसने हमारे ऊपर अपनी गहरी छाप छोड़ी हो, हमें बेहाल किये बिना नहीं रहता। अन्तर-कूट की प्राचीर ढह गयी हो, कुछ ऐसा सा महसूस होता रहा मुझे !

वह भी दिन आया, जब कॉलेज के प्रांगण में शर्मा जी को भाव भरी विदाई दी गयी। अपने व्यक्तित्व, अपनी विद्वत्ता और सब से अधिक अपनी सज्जनता से शर्मा जी ने क्या अध्यापक, क्या विद्यार्थी सभी को अपना बना लिया था। सब ने श्रद्धा-सुमन चढ़ाये। मैं अवाक् बैठा उस हृदय को छूने वाले दृश्य को देखता रहा। मन का पाखी अतीत के दृश्यों पर मंडराता फिर रहा था। रह रह कर याद आ रहे थे वे मधुर-चुटीले क्षण जिनसे मैं जुड़ा था और शर्मा जी !

"अब सविता जी, शर्मा जी के प्रति अपने भाव व्यक्त करेंगे !" किसी ने मंच पर से कहा ! मेरी जैसे नींद सी टूटी हो ! बोलने खड़ा हुआ। दिल भरा हुआ था। काफी देर तक तो एक शब्द भी मुंह से नहीं निकला, फिर फ़ारसी के सुप्रसिद्ध कवि शेख सादी की ये दो पंक्तियाँ दोहरा कर बैठ गया—

कै मे गोइ बखूबां आशनाई मुश्किल अस्त।
आशनाई मे तवां, करदन जुदाई मुश्किल अस्त ॥

(कौन कहता है गुण-सम्पन्न व्यक्तियों से दोस्ती करना कठिन है ? दोस्ती तो उनसे हो ही सकती है, उनसे तो बिछुड़ना मुश्किल है।)

अधिक और मुझसे नहीं बोला गया। दिल भरा हुआ था। अंग्रेजी की कहावत 'when hearts are full, words are few" को उस दिन मैंने अपने ऊपर चरितार्थ होते देखा।

मेरे और शर्मा जी के सम्बन्ध २५ वर्ष से भी अधिक पुराने हैं। मैं उनका विद्यार्थी रहा हूँ और बाद को उनका सहयोगी बनने का भी मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। बात १९५१ ईसवी की है। मुजफ्फरनगर में डिग्री कॉलेज खुले दो वर्ष हुए थे। उन दिनों कॉलेज की कक्षायें शहर में जहाँ आज कल एस० डी० इण्टर कॉलेज है, लगा करती थीं। मैं देवबन्द से इन्टर पास करके बी० ए० में दाखला लेने के लिये आया था। साहित्य और भाषा में विशेष रुचि होने के कारण मैंने निश्चय किया था कि तीनों साहित्य—

अंग्रेजी, हिन्दी और संस्कृत-ही लिये जायें। उन दिनों तीन साहित्य लेने पर प्रतिबन्ध नहीं था। कॉलेज में नया नया आया था। इच्छा हुई कि अपने विषयों के अध्यापकों से मिल लिया जाये। मैंने एक पुराने विद्यार्थी से पूछा कि संस्कृत वाले प्रोफेसर कहाँ मिलेंगे। उसने बताया कि पुस्तकालय में बैठे हैं। जाकर मिल लो। पुस्तकालय में जाकर मैंने देखा कि एक गौर-वर्ण व्यक्ति कोट-पैंट पहने, टाई लगाये, पुस्तकाध्यक्ष के पास बैठा है। निकट ही एक चमड़े का बैग रखा है। मैं समझा किसी प्रकाशक का ऐजण्ट होगा जो पुस्तकालय को किताबें बेचने के लिये आया होगा। मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था कि इस व्यक्ति का संस्कृत से भी कुछ सम्बन्ध हो सकता है। मैंने पुस्तकाध्यक्ष से पूछा, "संस्कृत वाले प्रोफेसर कहाँ मिलेंगे ?" "यह बैठे तो हैं शर्मा जी" उसने उत्तर दिया। शर्मा जी एक मोटे से ग्रन्थ को उलट पलट कर देख रहे थे। मैंने शर्मा जी को प्रणाम किया और बताया कि मैं भी संस्कृत का विद्यार्थी हूँ। उनका चेहरा खिल गया। उन दिनों संस्कृत बहुत कम विद्यार्थी लिया। करते थे अपनी कक्षा में हम नौ प्राणी थे, जिनमें तीन कन्यायें थीं ! संस्कृत के प्राध्यापक भी अकेले शर्मा जी ही थे।

शर्मा जी की कक्षा के अनेकों रोचक संस्मरण हैं जिनको यदि गिनवाने बैठूं तो पूरा शर्मा-पुराण बन जाये। दो चार सुनाता हूँ !

शर्मा जी सम्भवतः 'रघुवंश' पढ़ा रहे थे। उसमें 'हैयंगवीनम्' शब्द आया जिसका अर्थ 'घी' होता है। शर्मा जी ने शब्द की व्युत्पत्ति बतायी और अन्त में बोले "कहने को तो यह शब्द संस्कृत है पर उच्चारण से ऐसा लगता है जैसे चीनी भाषा का हो क्योंकि यह नून-गुन्ना वाली चीं-चीं चूं-चूं चीनी में ही अधिक होती है !

पाठ्य-क्रम में 'संस्कृत गद्य-मंजरी' नामक पुस्तिका लगी हुई थी। शायद अब भी लगी हुई है। उसमें बाणभट्ट की कादम्बरी का कुछ अंश था। राजा के दरबार में एक चाण्डाल-कन्या तोते का एक पिंजरा लेकर आती है। बाणभट्ट के गद्य के विषय में तो विद्वानों का मत है 'बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम् ! बड़े ही चमत्कारी विशेषणों की झड़ी लगा दी जाती है। वाक्य था 'राजा ने चाण्डाल-कन्या को देखा" ! सैंकड़ों विशेषण राजा के और उतने ही या उससे भी अधिक चाण्डाल कन्या के। तब कहीं पता नहीं आठ पृष्ठ पता नहीं दस पृष्ठ के बाद जाकर 'ददर्श' धातु आयी थी। यह आख्यान चल रहा था तो हमारे एक सहपाठी ने कक्षा में खड़े हो कर कहा था, "शर्मा जी, छः माही परीक्षायें सिर पर आ गयी हैं और इस राजा भले मानुस ने अभी तक कन्या को देखा भी नहीं।" कक्षा में जोर का कह-कहा लगा। शर्मा जी भी हंसते-हंसते बेहाल हो गये। इस चटुल घटना को शर्मा जी आज तक बड़े चाव से सुनाते रहते हैं !

शर्मा जी अक्सर कहा करते थे कि संस्कृत के अध्ययन का यह अर्थ कदापि नहीं कि हम कूप-मण्डूक बन जायें। और आज संसार में कितनी अपूर्व गति के ज्ञान का विस्तार प्रसार हो रहा है। उसके प्रति हमें अपनी आँखें और कान खोलकर रखने चाहिये। मुझे बड़ा दु:ख होता है जब मैं देखता हूँ कि विद्यार्थी बी० ए० में आ गये और यह भी नहीं जानते कि उत्तर किधर है और दक्षिण किधर। हम लोगों की परीक्षा लेने के लिये शर्मा जी ने एक से पूछा "अच्छा बताओ उत्तर दिशा किधर है?" उस बेचारे को शायद नक्शे का ध्यान रहा। भूगोल के नक्शे में भूगोल की दिशा ऊपर की ओर होती है। उसने भी ऊपर आसमान की ओर उंगली उठा दी "इधर है।"

शर्मा जी कुछ देर तक तो उसका मुँह देखते रहे और फिर बोले, "धन्य हो। इसका मतलब है कि तुम्हें यदि दक्षिण में जाना है तो तुम तो जमीन में घुस जाओगे!" बेचारे छात्र का चेहरा देखने वाला था उस समय!

शर्मा जी का विद्या-प्रेम कक्षा तक ही सीमित हो, सो बात नहीं। मुझे याद है १९५२ में छात्र-परिषद के कतिपय उत्साही सदस्यों ने नगर में साक्षरता अभियान चलाया। उसके संचालन का कार्य-भार शर्मा जी ने खुशी-खुशी अपने कन्धों पर लिया था। हम रात को रोज एक घण्टा हरिजन बस्ती में जाकर हरिजनों के बच्चों, बूढ़ों, रिक्शावालों, मजदूरों को पढ़ाते थे। तख्ती, सलेट, कलम, कापी, किताब मुफ्त दिये जाते थे। हमें सन्तोष हुआ जब छः महीने की थोड़ी अवधि में हमने सैकड़ों को इस योग्य बना दिया कि वह थोड़ा-बहुत लिख-पढ़ सके! इसका बहुत कुछ श्रेय शर्मा जी के अदम्य उत्साह को जाता है। उनका दिया हुआ प्रशस्ति-पत्र आज भी मेरे पास है जिसे अपने छात्र-जीवन की बहुमूल्य निधि के रूप में संजो-कर रखे हुए हूँ।

१९५३ में बी० ए० पास करने के बाद मुझे मुजफ्फरनगर छोड़ना पड़ा और फिर पूरे बारह वर्ष बाद १९६५ ई० में अपने ही विद्यालय में अंग्रेजी प्राध्यापक के रूप में मेरी नियुक्ति हुई। इसे मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूँ कि उन गुरुजनों, जिनके श्री-चरणों पर बैठकर मैंने कभी विद्याध्ययन किया था, के साथ अध्यापन का भी सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ। इन १२ वर्षों में मैं शर्मा जी से बिल्कुल कट गया हूँ, ऐसा कभी नहीं है। कभी भी जब मुजफ्फरनगर आना होता था तो शर्मा जी से मिलने जाता रहता। वे बड़े स्नेह से मिलते और मेरी गति-विधियों के बारे में पूछते और निरन्तर प्रेरणा देते रहे कि मुझे क्या करना जाहिये। जो कुछ भी मैं बन सका उसे अपने गुरुजनों के आशीर्वाद का ही प्रतिफल मानता हूँ। शर्मा जी अपने अतिथि-सत्कार के लिये प्रसिद्ध हैं। उनके यहाँ जाकर बिना जल-पान किये लौटना असम्भव है। सब जानते हैं श्रीमती शर्मा कितनी स्वादिष्ट चाय बनाती हैं। गज़ल भी वह बहुत बढ़िया गाती हैं, यह भी सबको मालूम ही है।

श्री योगेन्द्र नाथ माथुर हमारे जनपद के कर्मठ और विद्या-व्यसनी जिलाधीश हैं। १९७५ ई० में उन्होंने अध्यापक दिवस को नये ढंग से मनाने की स्वस्थ-परम्परा का श्री-गणेश किया। प्रत्येक विद्यालय से एक-एक आदर्श अध्यापक का चयन हुआ और स्थानीय नगर-पालिका के हॉल में एक भव्य-उत्सव में इस प्रकार चुनकर आये हुये अध्यापकों को सम्मानित किया गया। प्रत्येक को एक शील्ड और एक रेशमी

प्रशस्ति-पत्र प्रदान किया गया । मैं जानता था कि हमारे विद्यालय से श्रीशर्मा ही इस सम्मान के सबसे पहले अधिकारी होने चाहियें । ऐसा ही हुआ । हमारे प्राचार्य महोदय ने शर्मा जी का नाम विद्यालय के आदर्श अध्यापक के रूप में जिलाधीश महोदय के पास भेजा ।

दुर्भाग्यवश जिस दिन उत्सव था, शर्मा जी अस्वस्थ थे और स्वास्थ्य-लाभ के लिये दिल्ली गये हुए थे । प्राचार्य महोदय ने मुझे आदेश दिया कि शर्मा जी को दिये जाने वाले शील्ड और प्रशस्ति-पत्र उनकी ओर से मैं ग्रहण करूँ । मैंने स्वयं को गौरवान्वित अनुभव किया ।

शील्ड और प्रशस्ति-पत्र लेकर जब मैं घर लौट रहा था तो मेरे कई साथियों ने मुझे बधाई दी । मुझे यह मजाक नहीं लगा । अपने गुरु अपने पूज्य के सम्मानित होने पर मुझे अभिमान नहीं होना चाहिए क्या ?

———

प्रेरणाप्रद सौम्यमूर्ति

पण्डित कौशलेन्द्र शर्मा

अब तक के जीवन में कुछ ऐसा ही अनुभव हुआ है कि व्यक्तित्व वही है जिसकी छाप हृदय पर अमिट हो जाय-—साक्षात्कार में चाहे जितना अन्तराल हो जाय किन्तु आदरणीय गुरुवर्य श्री शर्मा जी की स्मृति मन में मधुर एवं प्रेरणात्मक क्षणों की याद दिलाती रहती है।

एम० ए० पूर्वार्द्ध में फरवरी मास में मैं कालिज एक दो दिन ही जा सका था, एक दिन अकस्मात् श्री शर्मा जी से मिलना हुआ, मैंने प्रणाम निवेदन किया, मेरा प्रणाम स्वीकार किया गया किन्तु तभी मुझे रोक कर श्री शर्मा जी ने पूछा—क्यूं भई कॉलिज क्यूँ नहीं आ रहे हो? मैंने निवेदन किया कि पूज्य पिता जी का स्वास्थ्य इन दिनों ठीक नहीं है, अतः प्रातः का सत्सङ्ग का कार्यक्रम और उनकी सेवा में व्यस्त होने से मैं उपस्थित नहीं हो सका। तुरन्त ही मैंने उनकी तेजस्वी किन्तु चिन्तित मुद्रा देखी और मेरे साथ ही वे तुरन्त श्रीरामदरबार पधारे। उनकी आत्मीयता ने मेरे हृदय को प्रभावित किया। श्रीरामदरबार में रामनाम सेवा में श्री शर्मा जी दर्शन देकर हम बालकों पर कृपा करते रहते हैं। एक दिन पुनः प्रातः जब मैं श्रीरामनाम सेवा कर रहा था तो श्री शर्मा जी ने पधार कर मुझे आशीर्वचन कहे जो मुझे जीवन में अमर संस्मरण के रूप में प्राप्त रहेंगे—उन्होंने कहा कि तुम्हारी पितृ सेवा और रामनाम गान ही सभी क्षेत्रों में तुम्हें सफल करेगी।

तेजस्वी एवं आत्मीय व्यक्तित्व आदरणीय श्री गुरुवर्य को मेरा अनन्त नमन्॥

श्री शर्मा जी के अमरूद

श्रीचन्द्रकेश शर्मा 'धूर्जटि'

सनातन धर्म कालेज मुजफ्फरनगर में बी० ए (संस्कृत) में प्रवेशानन्तर मैंने प्रथम परम पूजनीय प्रो० श्री उमाकान्त शुक्ल व डा० श्री रमेश कुमार लौ के श्री मुख से विद्या प्राप्त की, तदनन्तर द्वितीय वर्ष में ऑनर्स विषय लेने पर सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, सर्वशास्त्र–रत्नाकर, धर्मशास्त्रकाननप्रचण्डपञ्चानन श्री कुन्दनलाल शर्मा जी के श्री मुखारविन्द से प्रत्यक्–चैतन्याभिन्न-परब्रह्म को प्राप्त अथवा व्यक्त कराने वाली निःसन्धिबन्धनात्मिका-चिज्जडग्रन्थिस्वरूपा अविद्या को शिथिल करने वाली अविचारितरमणीय नाम रूप क्रियात्मक मायामय विश्वप्रपञ्च का समूलोन्मूलन करके जीव की ब्रह्मात्मता को बोधित करने वाली ब्रह्मविद्या 'कठोपनिषद्' का अध्ययन करने का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ। दिव्य ज्ञान सम्पन्न, परम गौर वर्ण, तेजस्वी मुख एवं भारतीय संस्कृति की मञ्जूषा में सुरक्षित रत्न, सरल-सौम्य, साक्षात्, विनम्र मूर्ति, दैवी विभूतियों से युक्त आचार्य श्री का दर्शन करते ही श्रद्धा से मस्तक आराध्य चरण समर्थ गुरुचरणों में नत हो जाता है।

आचार्य जी के ऐसे अलौकिक व्यक्तित्व एवं मधुर व्यवहार के कारण फलतः अभिवन्दनीय समर्थ गुरु चरणों के सान्निध्य में अध्ययन विषयों का अधिकाधिक अध्ययन करता रहा हूँ। यद्यपि एम० ए० (संस्कृत) में प्रवेश लेने पर आचार्य जी के अवकाश प्राप्त होने के कारण केवल एक वर्ष तक ही विद्या प्राप्त कर सका, तथापि मुझे कृतकृत्य करने के लिए आचार्य जी का आशीर्वाद तो मेरे साथ है ही। अब भी मैं विद्या प्राप्त करने से प्राप्त सौभाग्य से वञ्चित नहीं हूँ।

वस्तुतः आचार्य जी का प्रत्येक क्षण एक पावन संस्मरण ही है, यह मैं अतिशयोक्तिपूर्ण उक्ति नहीं कह रहा हूँ। महापुरुषों की यही तो विलक्षणता है। आचार्य जी के घर कुछ अमृतफल (अमरुद) रखे हुए थे। उन दिनों मैं बिलकुल अस्वस्थ था एवम् अमरूद मेरे लिए बिलकुल कुपथ्य था, किन्तु आचार्य जी के स्नेह युक्त आग्रह के कारण मैंने संकोच पूर्वक बिना कुछ कहे अमरूद खा लिए, लेकिन फल बिलकुल पथ्य सिद्ध हुए और मैं आचार्य जी के आशीर्वाद से शत-प्रतिशत स्वस्थ हो गया।

अपनी संस्कृत भाषा एवं संस्कृति के प्रति अभिरुचि पैदा करने का सम्पूर्ण श्रेय आराध्य चरण–करुणावरुणालय पुण्यश्लोक पूज्य गुरु चरण को ही है। मैं उनकी विद्वत्ता का वशंवद हूँ तथा उनके कल्याणमय जीवन के लिए भक्तकामकल्पद्रुम भगवान् से अहर्निश कामना करता हूँ।

———

संस्कृत के मर्मज्ञ विद्वान्

डॉ० विरेन्द्र शर्मा

प्रो० कुन्दनलाल शर्मा के सम्मानार्थ अभिनन्दन-ग्रन्थ के प्रकाशन का संकल्प, निश्चय ही, एक श्लाघनीय तथा स्तुत्य सत्प्रयास है, जिसके समाचार से संस्कृत के सभी विद्यार्थियों को आन्तरिक हर्ष एवं सन्तोष प्राप्त हुआ है। इस सत्कार्य की समायोजन-समिति हार्दिक बधाई तथा साधुवाद की पात्र है।

प्रो० शर्मा का अभिनन्दन, वस्तुतः, संस्कृत भाषा एवं साहित्य का अभिनन्दन है। ज्ञान-गरिमा, अनुसंधान-साधना एवं कुशल अध्यापन का अभिनन्दन है।

सौहार्द्र तथा स्नेह; सौजन्य एवं शिष्टता; अध्यवसाय और कर्मठता; विवेक तथा संवेदनशीलता सरलता एवं निश्छलता—उदारमना प्रो० शर्मा के व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषतायें हैं।

वे संस्कृत के मर्मज्ञ पण्डित तथा जागरूक विद्वान् हैं जिसका पुष्कल प्रमाण उनके अनेकों शोध-लेख तथा उनकी कृति, "वैदिक साहित्य का वृहद् इतिहास" हैं।

वे निष्ठावान एवं अध्ययनशील, परिश्रमी तथा प्रतिभावान, लोकप्रिय, सफल अध्यापक हैं जिनके गवेषणात्मक, कुशल निर्देशन में अनेक शोध-विद्यार्थियों ने संस्कृत-शोध के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

मेरी शुभकामना है कि संस्कृत की सेवा के लिये प्रो० शर्मा सदैव स्वस्थ और प्रसन्न रहें, परमात्मा उन्हें दीर्घायु करें।

प्रो० शर्मा जी,—एक-दो दृष्टियों में

प्रो० विष्णुकान्त शुक्ल

सन् १९६५ का अगस्त। सन्ध्याकाल। एस० डी० कालेज, मुजफ्फर नगर किसी कार्य से जाना पड़ा। चलते समय दिखाई पड़े श्रीयुत शर्मा जी। उजली धोती, मलमल का कुर्ता, हाथों में पुस्तकों का चमड़े का बैंग और छाता, चेहरे पर चश्मा, गंगाजमनी बाल करीने से सँवारे हुए। यों नाम तो बहुत पहले से सुना था, पर इतने समीप से देखने का अवसर नहीं आया था। और समय मिलने पर सम्भाषण-लाभ प्राप्त करना ही ठीक समझते हुए मिला। बातें की। अनुभव हुआ कि 'ये सज्जन एकदम 'रिजर्व टाइप' और रूखीं तबियत के आदमी हैं। अपनी बड़ी उम्र का नाजायज फायदा उठा रहे हैं'—ऐसा रहा पहला अनुभव। बात आयी गयी हो गयी।

सन् ६७ में मैंने प्राइवेट संस्कृत एम० ए० की परीक्षा दी। शर्मा जी को तब भी देखा। हिम्मत सी करके मिला भी। मेरे बड़े भाईजी (प्रो० उमाकान्त शुक्ल) संस्कृत विभाग एस० डी० कालेज में तब पढ़ाने लगे थे, अतः मुझे परिचय में बात करने का बहाना था। बातें होने लगी। लगा—शर्मा जी बड़े सहृदय और बड़े रसिक है, आत्मीय भी स्वाभिमानी भी। 'फर्स्ट इम्प्रैशन को गालियाँ देनी पड़ीं।

मेरठ विश्वविद्यालय होने पर संस्कृत एम० ए० की मौखिक परीक्षा सहारनपुर जैन कालेज में भी होती है। मुजफ्फरनगर के लिए भी प्रायः यही कालेज केन्द्र बनता है। अब प्रो० शर्मा अपने परीक्षार्थियों के साथ मेरे शहर और कालेज के मेहमान बन गये। मेरे गरीबखाने पर और दस्तरखान पर मुझे ओब्लाइज कर चुके हैं, यह उनका बड़प्पन है। और अब तो बात यह है कि वे मेरे बहुत नजदीक है। मेरे घर के बड़े मैम्बर हैं, स्वभाव के इतने मीठे कि पूछिये मत। मेरे पिताजी के स्वर्गवास पर खुर्जा पहुँचे, खुशियों में तो अनेक बार सम्मिलित हुए।

अब ऐसा लगता है शर्मा जी अपने हैं, एकदम अपने और अपनों के विषय में अधिक कहना अच्छा नहीं माना जाता। फिर भी इतना कहने में कोई बुराई नहीं है कि शर्मा जी एज ए मैन बहुत अच्छे हैं। उनका वैदिक साहित्य पर और व्याकरण पर अधिकार है। उनकी कलम से परीक्षार्थी की जाँच ऐसी हो जाती है कि धर्म तुला भी उसे दूसरी बार नहीं तोल सकती। शर्मा जी कुन्दन हैं, पर ऐसे कुन्दन जो पारस पथरी से नहीं बने, बल्कि जो स्पर्शमणि तैयार कर दें, लाल हैं पर नौ लाख के नहीं, अनमोल। ईश्वर उन्हें शतायु करे। उनके अभिनन्दन के अवसर पर मेरी ओर से शतशः शुभकामनाएँ और वर्द्धापन।

—:०:—

"मेरे प्रेरणा स्रोत"

श्री जनेश्वर दयाल शर्मा

परमार्चनीय श्री गुरुजी से मेरा प्रथम परिचय उस समय हुआ जब मैंने बी० ए० संस्कृत ऑनर्स में अध्ययन प्रारम्भ किया था। कठोपनिषद् को पढ़ाते समय बालक नचिकेता की हठ के सन्दर्भ में आपने उपदेश किया था कि यदि कोई भी मनुष्य सच्ची लग्न और परिश्रम से कार्य करता है तो उसे निश्चित रूप से अभीष्ट की प्राप्ति होती है। क्योंकि नचिकेता की दृढ़ता के समक्ष यमराज को भी हार मानकर उसके प्रश्न का उत्तर देना पड़ा। आपका यह उपदेश मेरे जीवन का एक अभिन्न अंग बन गया।

आपसे प्रेरणा पाकर मैंने एम० ए० के लिए संस्कृत विषय को ही चुना था। एम० ए० के प्रथम सत्र में मैंने आपसे वेद के कुछ सूक्तों का अध्ययन किया। आपकी सरल-सरस एवं रोचक शैली के कारण मेरा मन वेद की ओर उन्मुख हो गया। उस समय मुझे आपके उत्कृष्ट वैदिक ज्ञान का अनुभव हुआ। इन दिनों आपके अस्वस्थ हो जाने से मैं वैदिक ज्ञान का यथेष्ट लाभ तो नहीं प्राप्त कर सका, किन्तु अस्वस्थता में भी आपके अडिग धैर्य और साहस को देखकर मुझे ज्ञात हुआ कि मनुष्य को कठिन से कठिन परिस्थिति में भी धैर्य और साहस को नहीं त्यागना चाहिए।

तदनन्तर एम० ए० द्वितीय सत्र में आपसे भारतीय दर्शन का अध्ययन प्रारम्भ किया। इसी सत्र में आपका अधिक सम्पर्क प्राप्त हुआ। इन्हीं दिनों मुझे ज्ञात हुआ कि हमारे पूर्वज ऋषि-मुनि आज भी गुरू रूप में पृथ्वी पर आकर हमारा मार्ग दर्शन कर रहे हैं। तथा हमारे मन को दुष्कर्मों से हटाकर सत्कर्मों की ओर प्रवृत्त करते हैं। इन्हीं दिनों मुझे आपके अधिकतर विचारों को ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आपने "सादा जीवन और उच्च विचार" को अधिक महत्त्व दिया। आपका कथन है—"मनुष्य लिबास से नहीं गुणों और कर्मों से महान् बनता है।"

आपने हम सब शिष्यों को अपने पुत्रों के समान समझकर विद्या प्रदान की। आपने अध्ययन कराते समय अपने जीवन के जो अनुभव बताये थे वे सदैव हमारा मार्ग दर्शन करते रहेंगे।

इस सत्र के अन्तिम दिनों में जब मुझे यह ज्ञात हुआ कि आपका विद्यालय में अध्यापन काल अब समाप्त हो रहा है तो मुझे और मेरे सभी सहपाठियों को बहुत विचित्र सा लगा। विदाई के अवसर पर आपने हमें सान्त्वना दी और हमारे अच्छे भविष्य के लिए शुभ कामनाएँ कीं। हमको संयमी और परिश्रमी बनने का तथा संस्कृत भाषा की तन मन धन से सेवा करने का उपदेश दिया।

सरस्वती के उपासकों में आपका मूर्धन्य स्थान है। भारतीय दर्शन ही नहीं, अपितु विश्व के समस्त दर्शनों पर आपका पूर्ण अधिकार है। संस्कृत भाषा के क्षेत्र में आपका श्लाघनीय योगदान रहा है। संयमी, परिश्रमी, असाधारण तथा श्रेष्ठ विचारों वाला, कर्त्तव्य परायणता आदि गुणों से सम्पन्न आपका जीवन मेरे लिए सदैव प्रेरणा देता रहेगा। आपकी दिव्य भावनाओं से प्रभावित हुआ मैं आजीवन आपका चिरऋणी रहूँगा।

—०—

आचार्य श्रीकुन्दनलाल जी शर्मा : सरलता की मूर्ति

श्री नारायणदत्त शर्मा

वह पावन दिवस मेरे लिए आजीवन स्मरणीय रहेगा जिस दिन अपने सनातन धर्म कालिज के प्राङ्गण में एम. ए. तृतीय सत्र के विद्यार्थियों को एम. ए. (संस्कृत) प्रथम सत्र के विद्यार्थियों द्वारा परिचय गोष्ठी के अन्तर्गत परिचय देते हुए मैंने आचार्य श्री शर्मा जी का दर्शन किया।

दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। किन्तु आज के प्रथम दर्शन में ही एक विलक्षणता थी। परिचय गोष्ठी के बाद विद्यार्थियों ने मिलकर एक सङ्गीत कार्यक्रम रक्खा जिसमें मैंने भी एक कार्यक्रम रक्खा था। सङ्गीत कार्यक्रम के अनन्तर आचार्य जी ने बड़े सरल शब्दों में मेरा परिचय पूछा मैंने यथासम्भव उत्तर दिया। कुछ ही क्षण के वार्तालाप से मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि न जाने किस शक्ति ने इस अपूर्व विलक्षण दर्शन को एक सुमधुर परम विलक्षण आत्मीय सम्बन्ध के रूप में परिणत कर दिया। आचार्य जी के श्री चरणों में मेरा मस्तक स्वतः झुक गया। आज भी घटना को स्मरण करते ही गद्गद हो जाता हूँ।

धीरे-धीरे यह सुमधुर सम्बन्ध साकार रूप धारण करने लगा। आचार्य जी में श्रद्धा प्रतिक्षण अभिवृद्धि को प्राप्त होने लगी। एक दिन आचार्य जी के दर्शन उनके निवास स्थान पर ही किये। श्री चरणों में बैठकर विद्या प्राप्त करने के प्रस्ताव को अपनी अस्वस्थ अवस्था में ही आचार्य जी ने स्वीकार कर लिया। अतः अब तो आचार्य जी के दर्शनों से ही अपने को परम कृतकृत्य मानने लगा। मुझ मूढ़ जीव में भला कहाँ ऐसी योग्यता कि मैं विद्या-मार्तण्ड विद्वद्वर परम मनीषी महापुरुष आचार्य जी से मिल सकूं, लेकिन आचार्य जी के तुरन्त निकाले गये मधुर व कोमल नवनीत के समान सरल उदार हृदय में ही वह अपार शक्ति है जिसने मुझ मूढ़ को स्वीकार किया, अपनाया एवं कृतकृत्य किया।

सरल हृदय इतना कि एक बार मेरे और परम पूजनीय गुरुदेव प्रो० उमाकान्त शुक्ल जी के सम्मुख प्रसङ्गवश अपने हृदय की वह बात बतलाने लगे जो आजतक किसी को भी नहीं बताई। अपनी जीवन घटनाओं पर प्रकाश डालते हुए कहने लगे कि मैंने जहाँ अपना जीवन संस्कृत भाषा एवं अपनी सनातन संस्कृति को समर्पित किया वहीं मेरे जीवन का बहुत काल शेरो-शायरी में भी बीता। अनन्तर कहने लगे शुक्ल जी मैं अपनी बड़ाई अपने आप कर रहा हूँ और विनम्रता दिखाने लगे। उसी समय ऐसा प्रतीत हुआ कि सरलता साक्षात् उनके तेजस्वी चेहरे पर प्रस्फुटित होने लगी हो। मुझे तो साक्षात् सरलता की साकार मूर्ति दिखायी पड़े।

आचार्य जी के जीवन वृत्तान्त में उनके कठोर परिश्रम का अनुमान करते ही हम मुग्ध हो गये। अब भी स्वास्थ्य ठीक न होते हुए भी अपना एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोते।

आचार्य जी से अत्यल्प परिचय होने पर भी मैं उनसे जितना प्रभावित हुआ वह तो केवल अनुभव गम्य ही है, लेखनी उस अनुभव को भला कैसे व्यक्त कर सकेगी। यह भी मैं केवल भावावेश में ही लिख सका। मेरी अपने इष्ट देव से बार-बार यही विनीत प्रार्थना है कि आचार्य जी प्रतिक्षण स्वस्थ और प्रसन्न रहें।

—०—

निःस्वार्थ वेदविद्योपासक

"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च"—इस वचन की सार्थकता मुझे प्रो० कुन्दनलाल शर्मा जी के जीवन में उस दिन दिखाई दी जब मैं अपने शोधविषय के सम्बन्ध में कुछ परामर्श करने के लिए उनकी शरण में पहुँचा। वैदिक-साहित्य की अक्षर-निधि से भरपूर प्रो० शर्मा के सारस्वत-सदन में जब मैंने उन्हें वैदिक शोधकार्य में रत पाया तो मेरे मन में यह उत्कण्ठा जगी कि "इस अवस्था में अब ये इतना परिश्रम व्यर्थ में क्यों कर रहे हैं? जबकि इनका सेवा निवृत्ति-काल बहुत निकट आ चुका है। अब बुढ़ापे में पी-एच० डी० उपाधि प्राप्त करके इन्हें कौनसी पदोन्नति अथवा अर्थोपलब्धि प्राप्त होगी?" यही उत्कण्ठा जब मैंने प्रो० शर्मा के समाने रखी तो उन्होंने मुझे उपर्युक्त वचन याद दिला दिया। इससे मैं बहुत प्रभावित हुआ।

आज-कल जहाँ अन्य व्यक्ति प्रायः केवल जैसे-तैसे डिग्री प्राप्त करने के उद्देश्य से शोध एवं अध्ययन में प्रवृत्त होते हैं वहां प्रो० शर्मा निष्काम भावना से अनवरत वेदमाता की सेवा में रत हैं। वस्तुतः, इस प्रकार के मनीषियों के तप से ही अनादिकाल से वैदिक निधि सुरक्षित है।

ऐसे निःस्वार्थ वेदविद्योपासक प्रो० शर्मा का अभिनन्दन वास्तव में संस्कृत परिवार के लिए गौरव की बात है।

डॉ० गणेशदत्त शर्मा
अध्यक्ष संस्कृत विभाग
एन० ए० एस० कॉलिज
मेरठ

———

Prof. Kundan Lal–An Inspiration

Dr. Madhu Saxena.

Professor Kundan Lal Sharma, Head of Sans: Deptt. S. D. College Muzzaphernagar, was a great inspiration to me. I had a chance tö do evaluation–work under his guidence. He is very sincere with his work. He likes hard working, dislikes negligence in every matter. He co–operates with those who work under him. No feeling of superiority—Love, co-operation and sincerity adore him in every sphere. I have no words to explain his profound knowldge. Besides this, he has got a very good sense of humour. Though he is serious with his work. but often cuts jokes and enlightens the atmosphere. When we were doing evaluation–wo rk, he used to bring breakfast with him. But all of us shared with him frankly and felt a feeling of homeliness. On the eve of his retirement, I pray may God bestow. His blessing on our learned professor, May He impart strength and vigour to the hard-worker, May He increase love, homeliness and co-operation of the iuspirer, He is retiring from the college but the sanskrit-world accepts no retirement of the eminent scholar; We are always in need of his profound knowldge, immense co-operation and loveful direction.

———



प्रो० कुन्दन लाल शर्मा
भू० पू० अध्यक्ष संस्कृत-विभाग
एस्० डी० कालिज, मुजफ्फरनगर

मेरी सारस्वत यात्रा

कुन्दनलाल शर्मा

मेरा जन्म पश्चिमी पञ्जाब (अब पाकिस्तान) के शाहपुर–(अब सरगोधा–) मण्डलान्तर्गत एक अत्यन्त प्राचीन नगर साहिवाल के निवासी ओझा वंश में हुआ, जिसमें ज्योतिष तथा कर्मकाण्ड के पण्डितों की दीर्घ परम्परा रही। मेरे परदादा पं० मूलचन्द जी तथा दादा पं० प्रभुदयाल जी दोनों ही ज्योतिर्विद्या के प्रकाण्ड पण्डित थे। दादा जी के भाई पं० कर्मनारायण जी ने यौवनकाल में ही संन्यास ग्रहण कर लिया था और जब सरगोधा की नवीन मण्डी की स्थापना हुई तो उन्होंने अपने आश्रम की स्थापना वही करली, जहाँ वह अन्तिम समय तक धर्मोपदेश तथा कथा-वार्ता में संलग्न रहे तथा महती प्रतिष्ठा प्राप्त की।

मेरे पितामह जी का देहावसान यौवनावस्था में ही हो गया था। उस समय उनके दो पुत्र तथा दो पुत्रियाँ थी। एक पुत्री का विवाह मिट्ठाटिवाना (जिला सरगोधा) निवासी पं० कन्हैयालाल जी जोतली से हुआ, जो अश्वारोही सेना में सैनिक थे। उनकी वंश परम्परा में तीन चार पीढ़ियों से उद्भट वीर सैनिक चले आ रहे थे। उनके पितामह पं० गंगाराम ने प्रथम अफगान युद्ध में अपनी शूरता के कारण अश्वारोही सेना में ख्याति प्राप्त की थी, यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि शाहपुर (सरगोधा) के क्षेत्र में अश्वारोहण तथा अश्वपालन एक प्रसिद्ध व्यवसाय रहा है। जिस कारण अंग्रेजी साम्राज्य की भारतीय सेना के अश्वारोही अंग में सर्वाधिक कुशल तथा उद्भट सैनिक इसी क्षेत्र के निवासी हुआ करते थे। सैनिक क्षेत्र में ख्याति प्राप्त करने के अतिरिक्त सामान्य जीवन में भी अश्वारोहण, भाला-प्रहार तथा कीलोत्पाटन सदृश शौर्यपूर्ण खेलों के प्रदर्शन प्रायः किये जाते थे। भारोत्तोलन तथा पिड कबड्डी (जिसमें विशल मैदान में एक व्यक्ति को दो व्यक्ति पकड़ने तथा गिराने का प्रयत्न करते हैं) अत्यन्त लोकप्रिय खेल खेले जाते थे।

ऐसे शौर्यपूर्ण वातावरण में पले लोगों का भारी संख्या में सेना में भर्ती होने का शोक स्वाभाविक है। स्मरण रहे कि इस क्षेत्र के निवासी सहस्रों वर्षों से आयुधजीवी रहे हैं और आज भी हैं। इस वीर-प्रसू धरती की कोख से उत्पन्न तथा इसकी गोद में पले सहस्रों शूरवीरों की जीविका का मुख्य साधन आज भी सैनिक सेवा है। इसी परम्परा में मेरे फूफा जी तथा उनके एक भ्राता सैनिक भट बने थे तथा तृतीय भ्राता आरक्षी।

पितामह पं० प्रभुदयाल जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री राधाकृष्ण जी की रुचि विद्यार्जन की ओर न होने के कारण वह तो लेखपाल का पद प्राप्त करके ही सन्तुष्ट हो गये; किन्तु कनिष्ठ पुत्र तथा मेरे पिता श्रीरामदित्तामल जी अत्यन्त मेधावी छात्र थे, जिस कारण उन्होंने पञ्जाब विश्वविद्यालय से मैट्रिक की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण करके शासकीय छात्रवृत्ति प्राप्त की तथा फूफा जी की सहायता तथा प्रोत्साहन से रुड़की से सिंचाई विभाग सम्बन्धी ओवरसियर की परीक्षा प्रथम श्रेणी में प्राप्त की तथा तुरन्त राजकीय सेवा में नियुक्त कर लिये गये। उन दिनों 'लोअर वारी दोआब' नामक नहर का निर्माण आरम्भ हुआ था, जिसके एक भाग का सर्वेक्षण पिता जी को सौंपा गया था।

प्राचीन हड़प्पा के समीपवर्ती क्षेत्र में उन दिनों पेय जल का अत्यन्त अभाव था तथा मॉण्टगुमरी मण्डलान्तर्गत इस क्षेत्र का विशाल भाग कांटेदार झाड़ियों से भरा शुष्क चटियल मैदान था जहाँ ग्रीष्म ऋतु के धधकते हुए मध्याह्न में दूर मृगमरीचिका की परछाई में लहराता हुआ समुद्र सा प्रायः दृष्टिगोचर होता था, जिसमें इधर-उधर छितराये झाड़-झखांड़ों की लपलपाती आग के भभूके से तीव्र गति अंधड़ों से झुलसती हुई छोटी-छोटी टहनियाँ प्रतिबिम्बित होकर बेचारे जंगली जानवरों तथा पिपासाकुल यात्रियों को पानी का धोखा देकर अपनी ओर आकृष्ट करती हुई सतत दूर अति दूर हटती जाती थीं।

ऐसे ही बीहड़ जंगल में बसे सिंचाई विभाग द्वारा निर्मित एक बंगले में प्रथम मार्च सन् १९१४ को प्रातः मेरा जन्म हुआ, जो 'परवी बंगला' के नाम से प्रसिद्ध था। मेरी माता का नाम श्रीमती भागवन्ती था जो अत्यन्त सुन्दर, स्वस्थ प्राचीन भारतीय परम्परा में पली, शीलवती, स्नेहमयी, पतिपरायणा नारी थीं। जिसके पैतृक कुल का सम्बन्ध महाराजा रणजीतसिंह की सभा के महत्त्वपूर्ण सभासदों, मिश्र वेलीराम मिश्र दीवानचन्द, मिश्र गोविन्दराम प्रभृति, मिश्र-बन्धुओं, तथा किसी समय रोहतास के दुर्ग तथा उसके आस पास के भूभाग के स्वामियों के प्रसिद्ध कुल से था। उन्हीं मिश्र-बन्धुओं के वंशजों में से एक मिश्र बालमुकुन्द अटक मण्डल की तहसील, पर्वत श्रेणियों से घिरे फतहजंग में भी रहते थे, जिनकी धर्मपत्नी लालदेवी मेरे नाना जी रल्लाराम स्वामी की छोटी बहन थीं। स्वयं रल्लाराम स्वामी तहसील में खजांची थे। उनका पैतृक निवास स्थान झेलम नदी के तट पर बसी प्रसिद्ध नगरी नमक मियानी में था। जो भेरा से नौ मील की दूरी पर है। भेरा-मियानी का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। ये नगरियाँ महाराज पोरस के समय भी विद्यमान बतायी जाती हैं। झेलम नदी के उस पार खीवडा की जगत्‌विख्यात नमक की खान है, मियानी भी नमक की खान पर अवस्थित मानी जाती है और प्राचीन काल में नमक की बड़ी भारी मण्डी थी, इसीलिये इसका नाम 'नमकमियानी' पड़ गया।

पिता जी का कार्य-क्षेत्र बीहड़ जंगलों में होने के कारण, पाँच वर्ष की आयु में मुझे विद्याध्ययनार्थ नाना जी के पास भेज दिया गया। मेरे लालन-पालन का भार मेरी नानी पार्वती जी ने संभाला। जो उन दिनों 'मिढरांझा' में अपने भ्राता दीवानचन्द जी के पास रह रही थीं। दीवानचन्द जी हनुमान् जी के परम भक्त, अत्यन्त बलिष्ठ, विशालकाय व्यक्ति थे जो उन दिनों अन्य संचार-व्यवस्था के अभाव में ऊँटों पर अन्न आदि सामान लादकर एक स्थान से स्थानान्तर में पहुँचाने का व्यवसाय करते थे।

'मिढरांझा' चनाब नदी तट पर बसा पञ्जाबी के प्रसिद्ध काव्य 'हीररांझा' के नायक 'रांझा' के नाम पर विख्यात एक कस्बा है, जहाँ मैंने सर्वप्रथम विद्यालय में अक्षरज्ञान प्राप्त किया। उन दिनों पञ्जाब में उर्दू भाषा ही विद्यालयों में पढ़ायी जाती थी। मुलतानी मिट्टी से पोती हुई लकड़ी की गीली तख्तियों पर उस्ताद जी क़िलक की कलम से मोटे मोटे अक्षर लिख देते थे, जिन पर विद्यार्थी काली स्याही से लिखने का अभ्यास करते थे। पुराने उस्ताद अपने सुलेख के लिये प्रसिद्ध होते थे। अतः शैशव काल से ही विद्यार्थियों की लेखन कला पर विशेष ध्यान तथा बल दिया जाता था। दिन में चार चार बार तख्तियां पोतनी पड़ती थी। अतः उर्दू लेखन का पर्याप्त अभ्यास हो जाता था। जो विद्यार्थी गन्दा भद्दा, भोण्डा तथा अशुद्ध लिखता था उसे दण्ड दिया जाता था। उस स्कूल की विशेषता यह भी थी कि

वह अस्पताल के समीपवर्ती था, अतः मलेरिया के दिनों में हर सप्ताह हमें अस्पताल में पंक्तिबद्ध खड़ा कर के प्रति छात्र एक एक औंस कुनीन मिक्सचर मुँह में उण्डेल दिया जाता था। समय समय पर चेचक का टीका लगाने का प्रबन्ध भी किया जाता था किन्तु अन्धविश्वास के कारण शीतलादेवी के प्रकोप से भयभीत होकर इस टीके से बचने का प्रयास करते थे, और अनपढ़ लोग आज भी ऐसा ही करते हैं।

मिढरांझा से प्रथम कक्षा उत्तीर्ण करके मुझे भेरा के राजकीय विद्यालय में द्वितीय कक्षा में प्रविष्ट किया गया। तृतीय कक्षा के लिये मुझे फतहजंग जाना पड़ा। मैं हर कक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त करता था अतः हर कक्षा में कक्षा का 'मॉनिटर' बना दिया जाता था। उन दिनों ग्रामवासियों में शिक्षा के प्रसार के अभाव तथा मौलवियों के उपदेशों के फलस्वरूप ग्रामीण विशेषतः मुसलमान विद्योपार्जन के प्रति उदासीन से रहते थे। अतः आठ दस वर्ष की आयु तक भी वे लोग विद्या से विमुख ही रहते थे। तृतीय कक्षा में पांच-सात विद्यार्थी तो बारह-चौदह वर्ष की अवस्था के भी थे। उन दिनों अध्यापक लोग निकम्मे तथा आयोग्य छात्रों की बुरी तरह डण्डों से पिटाई किया करते थे। और जब किसी प्रश्न का उत्तर किसी को नहीं आता था तो जो छात्र ठीक उत्तर देता था उसे अध्यापक की आज्ञानुसार अपराधी छात्रों के मुख पर थप्पड़ मारने होते थे। कई बार अपेक्षाकृत ह्रस्वाकार होने के कारण बड़े छात्रों के मुख तक पहुँचना कठिन होता था। तो किसी बड़े छात्र को मेरे प्रतिनिधि के रूप में यह कार्य सौंपा जाता था। इस सब कार्यवाही से बच्चे के मन में गर्व तथा उल्लास का होना सर्वथा स्वाभाविक था। कभी 'कनगोशी' करवा कर छात्रों की पीठ पर जूते मारने का काम भी सौंपा जाता था जो आज अत्यन्त घृणित प्रतीत होता है।

फतहजंग से द्वितीय कक्षा उत्तीर्ण करके मुझे फूफा जी के पास मिट्ठा टिवाना जाना पड़ा। यह कस्बा औरंगजेब के अत्याचारों के कारण इस्लाम धर्म स्वीकार करने पर वाध्य टिवाना राजपूतों का बसाया हुआ है। यहाँ के जागीरदार तथा जमीनदार टिवाने सिख-राज्य के समय भी शक्तिशाली रहे। किन्तु रणजीत सिंह की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी, जिन्नाह के के हिन्दू विरोधी प्रचार से पूर्व शक्तिशाली होते हुए भी टिवानों ने अपने अत्यन्त स्वल्पसंख्यक हिन्दू प्रजाजनों पर सदा कृपा दृष्टि रखी। उनके विवाह आदि में उनके प्राचीन परम्परागत ब्राह्मण पुरोहितों का अन्न वस्त्र आदि से सम्मान होता था यद्यपि निकाह मौलवी द्वारा इस्लामी ढंग से पढ़ाया जाता था। इन में से बहुत से व्यक्ति सेना में भर्ती होना पसंद करते थे। मलिक मुहम्मद शेरखां ने भारत-पाक विभाजन के समय अपने कस्बे में हिन्दुओं की रक्षा का भरसक प्रयत्न किया था तथा कई एक लोगों को अपने विशाल निवास स्थान में भी शरण दी थी। उन्हीं के प्राचीन दुर्गाकार पैतृक 'माड़ी' (महल) से सटा हुआ मेरे फूफा जी का निवास स्थान था। किसी समय फूफा जी के पुरखाओं के पास खेती की भूमि के अतिरिक्त सौ-सौ गौएँ भी रही थी। किन्तु मेरे सामने थोड़ी सी भूमि रह गयी थी। उन्हें सैनिक पैंशन मिलती थी।

वहाँ डी० बी० मिडल स्कूल में मेरा प्रवेश कराया गया। तृतीय कक्षा के अध्यापक नूर मुहम्मद अत्यन्त क्रूरता पूर्वक पीटते थे। किन्तु सौभाग्यवश मुझे उनके डण्डे का शिकार एक बार भी नहीं बनना पड़ा। मैं दण्ड से सदा भयभीत रहता था अतः स्कूल का कार्य समाप्त करके ही खेलने कूदने में प्रवृत्त होता था। कुछ ही दिनों में मैं वहां भी कक्षा का मुखिया बन गया।

मिट्ठा टिवाना के ग्रास पास कोसों तक विशाल रेतीले टीले होने के कारण गर्मी की तपश तथा जाड़ों का शीत दोनों ही कष्टदायक होते हैं। किन्तु चाँदनी रातों में 'लुकाछिपी' खेलने का जो ग्रानन्द वहाँ ग्राता था, उस की स्मृति ग्राज तक बनी हुई है। हम कई बार रात के दो दो बजे तक खेलते रहते थे किन्तु फूफा जी ने कभी टोका नहीं था। उनके सैनिक विचारों के ग्रनुसार बच्चों को खेलने ग्रौर खाने से रोकने पर उनकी शारीरिक पुष्टि तथा वृद्धि में बाधा पड़ती है। साथ ही साथ पढ़ने लिखने पर भी बल दिया करते थे। वह इतने मधुर भाषी तथा स्नेहिल स्वभाव के थे कि ग्राज भी उनकी स्मृति ग्राते ही उनकी मानसिक मूर्ति के समक्ष नतमस्तक हो जाता हूँ।

इस प्रकार जब मैं पाँचवीं कक्षा में पहुँचा तो स्कूल में ग्रंग्रेजी तथा फारसी भाषा का विकल्प था। मैंने स्वभावतः ग्रंग्रेजी भाषा को स्वीकार किया। इसमें भी तीव्रगति से उन्नति ग्रारम्भ कर दी। हमारे ग्रंग्रेजी के ग्रध्यापक हकीम ग्रब्दुल हमीद थे जो जितना ग्रच्छा पढ़ाते थे उतनी ही ग्रच्छी पिटाई भी करते थे, मुझे ग्रब तक स्मरण है कि एक छात्र जो बड़ी ग्रवस्था का तथा ग्रत्यन्त हृष्ट पुष्ट था, पढ़ने लिखने में सर्वथा कोरा था, उसके मामा नसरूल्ला खां राणा उसी स्कूल में ग्रध्यापक थे। एक दिन हकीम साहिब ने उसे जो मारना ग्रारम्भ किया तो बाईस मिनटों के पीरियड में ग्रादि से ग्रन्त तक एक मोटे गाय बाँधने वाले कीले से लगातार दोनों हाथों पर प्रहार करते ही रहे। वह भी एक के बाद दूसरा हाथ बढ़ाता ही रहा। उसकी हथेलियाँ सूज गईं। सारी कक्षा त्रस्त दृष्टि से इस क्रूर काण्ड को श्वास रोक कर देखती रही। इसी प्रकार एक ग्रत्यन्त धृष्ट छात्र को पांच घण्टे तक झुक कर, हाथों से पांव छूते रहने का कठोर दण्ड मिला। उसके नेत्रों में रक्त उतर ग्राया, किन्तु सुधरा वह माई का लाल भी नहीं। सौभाग्य से मैं कभी उनके हत्थे नहीं चढ़ा। यह मुझे बहुत प्यार करते थे ग्रौर थोड़ा बहुत ग्रपराध होने पर भी चपत दिखा कर क्षमा कर देते थे। ऐसा व्यवहार उन्होंने ग्रौर किसी छात्र से कभी नहीं किया। उनका ध्यान ग्राते ही मैं ग्राज भी नतमस्तक हो जाता हूँ। क्रूर होते हुए भी वह ग्रत्यन्त कुशल तथा परिश्रमी ग्रध्यापक थे।

इस सम्बन्ध में दो व्यक्ति सदा मेरी दृष्टि में समाये रहते हैं। एक मास्टर टाहला राम थे जो प्राइमरी कक्षा के ग्रध्यापक होते हुए भी ग्रत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तित्व के स्वामी थे। वह ग्रपने समय के ग्रत्यन्त कुशल ग्रभिनेता थे। तथा कस्बे की रामलीला तथा ग्रन्य सांस्कृतिक कार्यक्रमों के प्राण थे। दूसरे एक प्रधानाचार्य पं० रामस्वरूप थे जिन्होंने ग्रपनी चतुरस्र योग्यता के कारण शीघ्र ही ख्याति प्राप्त करली थी। वे धार्मिक प्रवृत्ति के ग्रार्यसमाजी प्रचारक होते हुए भी रामलीला में परशुराम का ग्रभिनय इतनी स्वाभाविक कुशलता से करते थे कि समां बांध देते थे। उन्हों ने मुझे ग्रार्यसमाज के सिद्धान्तों का सर्वप्रथम उपदेश दिया तथा ग्रपने धार्मिक ग्रन्थों के ग्रध्ययन की ग्रोर प्रवृत्त किया। इन दोनों महानुभावों के सहज स्नेह के कारण मैं ने भी ऐसे कार्यों में भाग लेना ग्रारम्भ कर दिया तथा रामलीला में लक्ष्मण ग्रथवा भरत का ग्रभिनय करने लगा जो बहुत पसंद किया गया। स्यात् स्वल्पकाय तथा ग्राकृति का प्रभाव भी लोगों की प्रशंसा का कारण रहा हो।

इस की प्रेरणा से मैंने पांचवी कक्षा में ही समस्त श्रीमद्भागवत का पारायण दो बार कर लिया! ग्रौर ग्रपने ही घर में कार्तिक मास में उर्दू ग्रक्षरों में लिखित भागवत की कथा ग्रारम्भ कर दी। प्रति-

रात्रि दो तीन घण्टे मेरे फूफा जी तथा परिवार के अन्य लोग मिट्टी के तेल के लैम्प के प्रकाश में कथा सुना करते थे। षष्ठी कक्षा की ग्रीष्म ऋतु की तपती हुई दोपहरी में जब घर के अन्य लोग मजे से निद्रा का आनन्द लेते थे, स्कूल का काम समाप्त करने के पश्चात् मैं मुंशी नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, द्वारा प्रकाशित महाभारत के उर्दू अनुवाद का पारायण करता था। और वर्ष भर में उसे समाप्त कर लिया। उस के संस्कार आज तक मेरे हृदयपटल पर अङ्कित हैं। श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन तथा द्रौपदी के चरित्र तभी से मेरे जीवन को प्रभावित करने लगे। निर्भीकता, शौर्य, सत्यनिष्ठा तथा विपत्तियों को सहन करने की क्षमता तथा सुदृढ़ आत्मविश्वास ने मेरे मन में घर कर लिया। शायद लोग इसे अत्युक्ति या आत्मप्रशंसा समझें, किन्तु यह सर्वथा सत्य है कि जीवन में मेरा आजतक भय से परिचय नहीं हुआ। मैं न तो किसी व्यक्ति से डरा हूँ और न ही अन्धकार में भी रात्रियों में घनघोर जंगलों में अकेले मीलों यात्रा के समय जंगली पशुओं या चोर डाकुओं के विचार से उत्पन्न होने वाले भय से साक्षात्कार हुआ है। बारह-तेरह वर्ष की आयु में घटाटोप अन्धकार से घिरे विशालकाय वृक्षों के गहन और सुंसान जंगलों में छह-सात मील चलकर दो बजे रात को घर पहुँच जाना साधारण सी बात रही है। इस विषय में जहाँ महाभारत के वीरों की शौर्यपूर्ण गाथाओं का प्रबल प्रभाव मुख्य कारण था, वहाँ फूफा जी तथा पिता जी का प्रोत्साहन भी जिम्मेदार था। पिता जी, जो स्वयं भी अर्धरात्रि के घोर अन्धकार में राजाज्ञा को भंग करके नहर तथा सरकारी सम्पत्ति को हानि पहुँचाने वाले दुर्दान्त दस्युओं पर आक्रमण करने से तनिक भी नहीं झिझकते थे, मुझे भी निर्भीकता का अनवरत उपदेश देते रहते थे। और फूफा जी तो सैनिक परम्परा में पले ही थे। मैं समझता हूँ कि यदि मुझ से प्रश्न किया जाये कि अध्यापकत्व के अतिरिक्त मेरे समक्ष द्वितीय कौन से व्यवसाय का विकल्प रहा है, तो मेरा स्पष्ट उत्तर है, सैनिक–वृत्ति।

इस सैनिक प्रवृत्ति का एक हेतु और भी है। मुझे शैशव काल में ही नैपोलियन बोनापार्ट की उर्दू में लिखी एक अत्यन्त रोचक जीवनी के अध्ययन का अवसर मिला। उसकी मैंने अनेक बार आवृत्ति की और हरबार नवीन आनन्द, उत्साह तथा उल्लास का सञ्चार मेरे हृदय में हुआ। आज भी उस पुस्तक के पन्ने मेरे हृत्तल पर अङ्कित हैं। महाभारत के शौर्यपूर्ण उदात्त चरित्रों के बाद आज भी मेरे मन में नैपोलियन की जीवनगाथा का प्रबल प्रभाव अक्षुण्ण है।

उन्हीं दिनों मैंने उर्दू में गीता भी पढ़ी, जिसके गूढ तत्त्व को समझने की क्षमता तो कहां थी, किन्तु एक सात्त्विक आस्था का सञ्चार अवश्य हुआ। इसी बीच ग्रीष्म अवकाश में प्रतिवर्ष पिताजी के पास जाने का अवसर मिलता था। मेरी माताजी ने मुझे नागरी अक्षरों का ज्ञान कराया और मेरे हाथ में आर्यसंगीत रामायण पढ़ने को थमा दी। नाटकाकार यह रामायण इतनी रोचक लगी कि मैंने बीस बार पढ़ डाली होगी। इससे मुझे हिन्दी पढ़ने का अभ्यास हो गया। उन दिनों पञ्जाब में हिन्दी केवल डी० ए० वी० या सनातन धर्म विद्यालयों में पढ़ाई जाती थी। अन्यत्र नहीं।

दुर्भाग्य वशात् जब सातवीं कक्षा में केवल बारहवें वर्ष में पदार्पण ही किया था कि मॉंटगुमरी मण्डलान्तर्गत कस्सोवाल नामक स्थान पर प्लेग के प्रकोप से मेरी माता जी की मृत्यु का वज्रपात हुआ। इस महमारी में मेरी छोटी बहन सुमित्रा तथा एक नौकर को भी जान से हाथ धोने पड़े। पत्र द्वारा इस

दुःखद समाचार को प्राप्त करके सारे घर में कोहराम मच गया, किन्तु होनी बड़ी बलवती होती है। विधाता कब किसी की आहों की परवाह करता है। विवश होकर इस अनिर्वचनीय आघात को भी सहन करना ही पड़ा। मैं और मेरी तीन बहनें मातृ-वियोग के दुःख सहने को रह गये।

सातवीं कक्षा के मध्य में ही मिट्ठा टिवाना त्याग कर अपने पैतृक नगर साहीवाल के गवर्नमेण्ट हाईस्कूल में प्रवेश लेना पड़ा। दो मास तक मियादी ज्वर से पीड़ित रहकर भी परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। सभी अध्यापक अत्यन्त प्रसन्न थे। मुझे स्मरण है अंग्रेजी में १५० में से १३५ अङ्क पाये थे। किन्तु सभी अध्यापकों के आग्रह के बावजूद भी मुझे वहां की पढ़ाई पसंद नहीं आई क्योंकि वहां 'घर का काम' नहीं दिया जाता था। अंग्रेजी के अतिरिक्त वहां संस्कृत या फारसी या अरबी भी पड़नी पढ़ती थी। सातवीं कक्षा के अन्त में वहां मुझे संस्कृत लेनी पड़ी किन्तु मैं अच्छे अङ्क पाकर उत्तीर्ण हो गया। विद्यालय के अध्यापकों तथा घर वालों के समझाने के सभी प्रयत्न व्यर्थ गये और आठवीं कक्षा में मैंने मॉण्टगुमरी की तहसील तथा अनाज एवं कपास की मण्डी चीचावतनी के हाईस्कूल में प्रवेश लिया। तथा प्रथम बार होस्टल का जीवन आरम्भ किया। त्रासदी यह हुई कि वहां संस्कृत के पठन-पाठन का कोई प्रबन्ध नहीं था, अतः मुझे फारसी लेनी पड़ी। आठवीं कक्षा में फारसी लेकर भी मैंने छात्र वृत्ति की परीक्षा में उत्तम अङ्क प्राप्त किये, किन्तु उन दिनों पञ्जाब में छात्रवृत्ति के विषय में खेतीहरों को विशेष रियायत दी जाती थी। अतः मुझ से १३२ अङ्क कम पाने वाले एक मुसलमान छात्र को वृत्ति दे दी गयी। मेरे मन पर गहरा आघात लगा।

नवीं कक्षा में विज्ञान तथा फारसी साथ साथ चलती रहीं। दिसम्बर मास में संस्कृत तथा अरबी के अध्यापन की स्वीकृति आ गयी। मैंने तुरन्त फारसी त्यागकर संस्कृत ले ली। उस कक्षा में केवल तीन हिन्दू छात्र थे। दो ने संस्कृत को अपनाया, मैंने अत्यन्त परिश्रम पूर्वक परीक्षा की तैयारी की, किन्तु पण्डित चेला लाल जी ने ५०/१५० अङ्क दिये। कक्षा में मेरा स्थान प्रथम या द्वितीय रहता था, अब पञ्चम हो गया, मेरे रोष का ठिकाना न रहा, मैंने पण्डित जी से दृढ़ता पूर्वक प्रतिवाद किया तथा संस्कृत त्याग देने की धमकी दी। दूसरे छात्र ने तो फेल हो जाने के कारण त्याग ही दी थी। अब पण्डित जी बहुत चिन्तित हुए। पिताजी से मिले, मुझे घर बुलाकर बहुत प्यार किया, और अढाई आने वाली गीता प्रेस गोरखपुर की गीता भेंट की। मैं मान गया।

चीचावतनी की एक और घटना का उल्लेख करना चाहता हूँ जो मेरे स्वभाव तथा आत्मसम्मान की भावना पर प्रकाश डालती है। पण्डित गौरीशङ्कर अंग्रेजी के बहुत योग्य अध्यापक थे, तथा नेसफील्ड की प्रसिद्ध ग्रामर अत्यन्त परिश्रम पूर्वक पढ़ाते थे। एक दिन किसी प्रश्न का उत्तर बहुत से छात्रों को नहीं आया। मुझे भी नहीं आया। वह दो दो तीन तीन डण्डे सभी को लगाते आये, मुझे भी जड़ दिये। उस समय तक प्रथम बार समस्त कक्षा के समक्ष इस प्रकार अपमानित होने पर मुझे बहुत धक्का लगा। अगले दिन पूरी तैय्यारी से कक्षा में गया, प्रश्न पूछा गया, उत्तर आता था, रोषवश दिया नहीं, फिर वही डण्डे। तीसरे दिन भी ऐसा ही हुआ। पण्डित ने डण्डे रसीद कर दिये, किन्तु पूछा पढ़ना-लिखना बन्द कर दिया है क्या? मैंने दृढ़ता पूर्वक उत्तर दिया पढ़ता हूँ, उत्तर आता भी है, देता नहीं, अभी सुन लीजिये। किन्तु दुःख इस बात का है कि दो वर्षों में केवल एक भूल को भी आप क्षमा नहीं कर सके।

यदि आप मार से ही सुधारना चाहते हैं तो और मार लीजिये। इस उत्तर का पण्डित जी पर गहरा प्रभाव पड़ा, वह हतप्रभ से मेरी ओर देखते रहे, प्यार से कहा, बैठ जाओ। घर बुलाया, अत्यन्त स्नेह पूर्वक मिठाई खिलाई। तबसे मैं जैसे उनके घर का अंग ही बन गया।

दुर्भाग्यवश दसवीं कक्षा में कुछ ही अङ्कों से प्रथम श्रेणी से वञ्चित रह गया।

अभी मैं अष्टम कक्षा में ही था कि पिताजी ने दूसरा विवाह कर लिया। मैं उन्हें मौसी जी कहने लगा। वह मेरी ही अवस्था की अत्यन्त सुन्दर तथा स्नेहिल थीं। मैं होस्टल में रहता था। आठवें दसवें दिन घर आता था। समावस्था के कारण हम दोनों भाई बहन के समान एक दूसरे से बहुत प्यार करते थे। पिता जी दौरे पर जाते तो वह मेरे बिना खाना तक नहीं खाती थीं। उन्हें यही चिन्ता रहती थी कि आज कौन सी चीज बनाई जाय जो मुझे अच्छी लगती हो। नौकर चाकरों की कमी नहीं थी। मेरे घर पर होने पर ऐसा लगता था जैसे उन्हें मेरी देख रेख के सिवा और कोई काम ही न हो। मुझे सजाने-संवारने से उन्हें एक विशेष प्रसन्नता होती थी। उन्हें स्वयं भी सजने-संवरने का बहुत शौक था।

छुट्टियों के दिन उल्लास भरे दिन होते थे। किसी बात पर मेरे रूठ जाने पर वह बड़े प्यार से मनातीं, तनिक सा मुख मैला देखकर जैसे तिलमिला उठतीं। मुझे प्रसन्न देखकर अपार सुख का अनुभव करतीं। दिन घड़ियों में बीत जाते, घड़ियां पलों में। मेरे सगे सम्बन्धियों तथा और लोगों ने सौतेली मां का जो भयावह चित्र खींचा था, वह सब काल्पनिक था। मेरा भी सदा यही प्रयास रहता था कि उन्हें कोई ऐसा अवसर न मिले कि मेरे व्यवहार पर उंगली उठा सकें। जंगल में निवास था, किन्तु पिता जी, मैं और मौसी जी तीनों मिलकर जंगल में मंगल का समां बांध देते थे। पिता जी बहुत अच्छा गाते थे, किन्तु उनके पास समय कम होता था। तो भी घर का वातावरण अत्यन्त मधुर, सुखद, उल्लासपूर्ण और स्नेहसना रहता था।

मेरे नये ननिहाल भी मूलतः 'नमक मियानी' की उसी गली के निवासी थे, जिसके पहले। वह भी मिश्र बेलीराम की दौहित्री के वंशज थे। नाना जी लाहौर में गवालमण्डी में रहते थे। यौवनावस्था में उन्होंने भी सैनिक कार्यालय में नौकरी की थी। किन्तु अब उन्होंने डेयरी फार्म खोल रखा था। वह पक्के देशभक्त थे। उन दिनों १९३९ में लाहौर कांग्रेस का रोमाञ्चकारी अधिवेशन हुआ था। वह मुझे भी साथ ले जाते, मैंने महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू तथा अन्य नेताओं के दर्शन तभी किये थे। वे दिन भी क्या उथल-पुथल तथा हलचल के दिन थे इसे वही जानते हैं, जिन्होंने देखा है। आज के तथाकथित देश-भक्त नेताओं के ऐश्वर्यपूर्ण, स्वार्थपरायण, तथा निश्चिन्त एवं शक्ति मदमस्त जीवन की उनके त्यागमय, विपत्तियों, आक्रान्त तथा जोखम भरे जीवन से क्या तुलना। खैर मेरे नाना जी कट्टर आर्यसमाजी विचारों के थे। अतः उन्होंने फार्मन क्रिश्चियन कॉलेज के स्थान पर मेरा प्रवेश डी. ए. वी. कॉलेज, लाहौर में करवाने पर बल दिया। पिता जी की प्रबल इच्छा थी कि मैं अभियन्ता बनूं। अतः शुद्ध वैज्ञानिक पाठ्य-क्रम लेने पर बल दिया। मुझे रसायन शास्त्र भौतिकी, गणित तथा अंग्रेजी के विषय लेने पड़े। किन्तु रसायन शास्त्र में मुझे पर्याप्त कठिनाई होती थी। एक वर्ष तो डी. ए. वी. के मुख्य होस्टल में रहा। वहां अध्ययन के साथ मल्लयुद्ध तथा गतका की शिक्षा भी प्राप्त की। मल्ल युद्ध तो दो महीने के बाद त्याग दिया, क्योंकि उससे थकान तथा बहुत तड़के उठने के कारण अध्ययन में बाधा पड़ती थी। किन्तु

गतका में मैंने अपने कालेज का प्रतिनिधित्व विश्वविद्यालय की स्पर्धा में किया था। उसके बाद मैं विद्यार्थी आश्रम, गुरुदत्त भवन में रहने लगा। वहां मैंने लाठी चलाने की शिक्षा प्राप्त की। यहां तक कि चार लठैतों से लोहा लेने की क्षमता प्राप्त कर ली। बड़ौदा की व्यायामशाला से प्रशिक्षित एक सज्जन आर्योपदेशक विद्यालय में अध्ययन करते थे, उन्हीं ने इस विद्या की शिक्षा दी थी। उन दिनों हिन्दू-मुस्लिम दंगे पञ्जाब में अक्सर छोटी-छोटी बातों पर हो जाते थे। अतः हिन्दुओं में आत्मरक्षा की एक प्रबल लहर चल रही थी। व्यायाम तथा लाठी प्रशिक्षण के फलस्वरूप मेरा शरीर पुष्ट हो गया।

वहीं पर आर्यसमाज का विशाल पुस्तकालय था और पं० बुद्ध देव विद्यालङ्कार प्रभृति आर्य विद्वानों के जोरदार तथा प्रभावशाली व्याख्यान होते रहते थे। उनसे प्रभावित होकर मेरा मन वैदिक साहित्य के अध्ययन की ओर झुक गया और जैसे तैसे इण्टरमीडियेट पास करके मैंने संस्कृत के अध्ययन का निश्चय किया। सरगोधा में एक पाठशाला थी जहां काशी से अध्ययन करके लौटे हुए एक पण्डित जी शास्त्री के विद्यार्थियों को तैय्यार किया करते थे। मैंने प्राज्ञ की परीक्षा देने का निश्चय किया। वहां दस बारह विद्यार्थी दो-दो वर्ष तक पढ़ने के पश्चात् भी परीक्षा से भयभीत थे, क्योंकि माध्यम संस्कृत था। मैंने अक्तूबर मास में प्रवेश किया और मई मास में परीक्षा हुई तो परिणाम आश्चर्य जनक था, मैंने पञ्जाब भर में द्वितीय स्थान प्राप्त किया, और उनमें से कई अनुत्तीर्ण रह गये।

मैंने ओरियेण्टल कालेज में विशारद में प्रवेश प्राप्त किया, वहां पं० कवितार्किक पं० नृसिंह देव जैसे विद्वान् थे। कुलपति ए० सी० बुलनर थे। एक दिन वह कक्षा में आए। मेरे विषय में जानकर बहुत प्रसन्न हुए और मन लगाकर अध्ययन के लिये प्रोत्साहित किया। किन्तु उसी हास्टल में एम० ए० के एक छात्र श्री वसिष्ठ रहते थे। उन्होंने मुझे अन्य संस्कृत के विद्यार्थियों से रहन-सहन, आकार प्रकार तथा बातचीत में भिन्न पाकर संस्कृत में एम. ए. करने का परामर्श दिया। मैंने डा. रघुवीर की विद्वत्ता की ख्याति सुन रखी थी। अतः सनातनधर्म, कॉलेज में बी. ए. में प्रवेश ले लिया। तथा संस्कृत में आनर्स कोर्स ग्रहण किया। किन्तु मुझे बड़ी निराशा हुई, क्योंकि उनका ध्यान अध्यापन से कहीं अधिक विदेशों के अपने अनुभवों की कथायें सुनाने की ओर अधिक था। मैं सम्पूर्ण मन से अध्ययन में मग्न हो गया। आनर्स की कक्षा ओरियण्टल कालेज में भी लगनी थी। जहां प्रो० जगन्नाथ जी अग्रवाल के सम्पर्क में आने का अवसर मिला, यह बहुत परिश्रमी, हंसमुख तथा विद्यार्थियों से सहानुभूति रखने वाले अध्यापक थे। डा. रघुवीर उन दिनों महाभारत के विराट् पर्व के पूना संस्करण का सम्पादन कर रहे थे, मुझे उत्सुक छात्र देखकर उन्होंने मुझे भी विराट् पर्व की एक प्रति को दक्षिणात्मक संस्करण से तुलना का कार्य सौंप दिया, जो मैंने अत्यन्त परिश्रम पूर्वक सम्पन्न किया। वह कहा करते थे, मुझसे कुछ सीखना है तो अनुसन्धान की प्रकिया सीखो। ये परीक्षा की पुस्तकें तो कोई शास्त्री भी पढ़ा सकता है। उनकी बात की सत्यता का अनुभव बाद में हुआ। किन्तु छात्र का मुख्य उद्देश्य तो परीक्षा में उत्तीर्ण होना होता है। बी. ए. के छात्र के समक्ष अनुसन्धान की ऊंची २ बातें करना अटपटा सा लगता था, जो सर्वथा स्वाभाविक था। येन केन प्रकारेण अपने ही प्रयत्नों के बल पर विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में छुट्टी के दिन १२–१२ घण्टे अध्ययन करके बी० ए० आनर्स की परीक्षा उत्तीर्ण की। आनर्स में मेरा स्थान पञ्जाब में द्वितीय रहा।

अंग्रेजी के अध्यापकों में आचार्य पी० एन० मौलिक का नाम कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता। वह विद्वत्ता का ठाठें मारते हुए अथाह सागर थे। वह अत्यन्त गम्भीर किन्तु सहानुभूति पूर्ण प्राध्यापक थे, जिनकी अध्ययनशीलता तथा सरस्वती सेवा ने मुझे अपार प्रेरणा प्रदान की। उनकी स्मरणशक्ति भी अद्‌भुत थी। उपनिषदों, योगसूत्रों तथा अन्य संस्कृत सूक्तियों के उद्धरणों की झड़ी लगा देते थे। अकेले वर्ड्‌सवर्थ पर पन्द्रह व्याख्यान तो बी.ए. में दे डालते थे। एम ए० में क्या करते होंगे, इसकी तो कल्पना ही की जा सकती है।

तृतीय विषय संसार का इतिहास था, जो प्रो० गुलशन राय पढ़ाते थे। बड़े प्रसिद्ध इतिहास वेत्ता, छोटे कद के किन्तु अत्यन्त रोबीले तथा प्रभावशाली अध्यापक थे। हमें पूरा पीरियड उनकी प्रतीक्षा करनी पड़ती थी, चाहे वह पीरियड की समाप्ति पर क्यों न आवें। वह उपस्थिति लेते समय पूरा नाम पुकारते थे, अतः उन्हें सभी छात्रों के नाम स्मरण थे।

उनकी एक अविस्मरणीय प्रवृत्ति सदा मेरे समक्ष रहती है। इतिहास के प्रश्नोत्तरों में जितनी अधिक कापियाँ लिखी जाती थीं, उतने ही अधिक अङ्क दिये जाते थे। एक बार उन्हीं उत्तरों पर मुझे ४७/१५० अङ्क दिये गये, अगली बार प्रायः उन्हीं उत्तरों पर ९८/१५०। अन्तर केवल पन्नों की गिनती का था। दूसरी बार खुला खुला लिख कर चार पाँच कापियां भर दी गयी थीं। अङ्क पाने की यह कला मैंने उन्हीं से सीखी थी किन्तु यह कला कहीं कहीं ही सार्थक हुआ करती है।

मेरे मन में वेद तथा वैदिक साहित्य के प्रति अपार श्रद्धा उत्पन्न हो चुकी थी। वेदान्त तथा योग की ओर आकृष्ट करने वाली सर्वाधिक प्रेरणादायक स्वामी विवेकानन्द की प्रभावशाली रचनायें सिद्ध हुईं, जिनसे मेरा परिचय बी. ए. में ही हो गया था। ग्रीष्मावकाश में मैंने उनके योग-वेदान्त सम्बन्धी प्रायः सभी ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया था। उन दिनों पिता जी पञ्चनद में नियुक्त थे। ग्रीष्म ऋतु की तपती दोपहरी में जब सब लोग आनन्दपूर्वक पंखे के नीचे सोते थे, मैं स्वामी जी के कर्म योग और राजयोग जैसे गूढ़ ग्रन्थों में लीन होकर उन्हें दीमक के समान चाटा करता था। उनका प्रभाव आज तक अक्षुण्ण बना हुआ है। मेरी अवस्था के अन्य विद्यार्थी उपन्यास पढ़ने का आनन्द उठाते थे, तो मैं दार्शनिक तत्त्वों के प्रतिपादक इन गहन ग्रन्थ सागरों में से प्राचीन विचाररत्नों को खोजने का प्रयास करता था। ज्यों ज्यों इनकी गहराइयों में पैठता गया उत्सुकता बढ़ती ही गयी। इसी धुन में मैंने मोहिनी आश्रम, लाहौर, से प्रकाशित योग तथा मिस्मरेजम सम्बन्धी कुछ पुस्तकों को भी पढ़ा, जिनमें ध्यान को केन्द्रित तथा मानसिक शक्तियों में वृद्धि कराने के कुछ व्यावहारिक सुझाव दिये रहते थे।

आर्य समाज के सम्पर्क में आने के कारण मैंने स्वामी दयानन्दरचित सत्यार्थप्रकाश को भी आद्योपान्त पढ़ा, जिसने एक ओर जहां वैदिक धर्म की श्रेष्ठता तथा प्राचीन आर्यों की आध्यात्मिक उत्कृष्टता की ओर आकृष्ट किया, वहां मध्यकालीन सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक पाषण्डों, कुत्सित रीति रिवाजों, तथा राजनैतिक अधःपतन के अन्तर्हित कारणों को भी आलोकित किया। मेरा पालन पोषण सनातन धर्मी वातावरण में हुआ था, इसलिये सनातन धर्म की दुर्बलताओं तथा कुत्साओं तथा अनभीष्ट रूढ़ियों के विरुद्ध सत्यार्थप्रकाश के प्रखर प्रहारों ने मेरे मानस में उथल-पुथल मचा दी। सनातनधर्म, मूर्तिपूजा,

विधवा, बालविवाह, नाना प्रकार के सम्प्रदायों तथा मतमतान्तरों में व्याप्त धार्मिक अनाचार, अस्पृश्यता तथा तज्जन्य अत्याचार, जादू-टोने, अन्धविश्वास, तर्कहीन श्रद्धा जैसे व्यापक प्रश्नों पर आर्यसमाजी उपदेशकों के अत्यन्त तीखे, तीव्र तथा तर्कपूर्ण प्रहारों ने मेरे मस्तिष्क को झकझोर दिया और मैंने स्वयं वैदिक साहित्य तथा इसी की सुदीर्घ परम्परा का गहरा अध्ययन करने तथा एक सुनिश्चित निर्णय पर पहुँचने की सुदृढ़ तथा सुनियोजित धारणा बनाली। सनातन धर्म महाविद्यालय अथवा डी० ए० वी महाविद्यालय में एम० ए० में संस्कृत के अध्ययनार्थ छात्रवृत्तियां उपलब्ध थी जो तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार अध्ययनकाल के व्यय के वहन करने के लिये बहुत सहायक हो सकती थीं। किन्तु मेरे मन की जिज्ञासा वहां के वेद सम्बन्धी पाठ्यक्रम से सन्तुष्ट न हो सकी, और मैंने कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रवेश का निश्चय किया, जहां के पाठ्यक्रम में किसी भी विषय में विशेषज्ञता के उपार्जन की ऐसी व्यवस्था थी, जिसकी आवश्यकता का अनुभव आज उत्तर भारत के अन्य विश्वविद्यालय भी करते हैं किन्तु स्वार्थ-स्पृहा, प्रवृत्तिशून्यता, अर्थाभाव तथा बौद्धिक दीवालियापन इस मार्ग के रोड़े हैं जो प्रगति में बाधक हैं। दिल्ली सदृश केन्द्रीय विश्वविद्यालय में भी जितनी अवहेलना वैदिक साहित्य की को गयी है तथा पुस्तकालय में वेदविषयक अनुसंधान की जो दुर्व्यवस्था है, वह सर्वथा अक्षम्य है। मेरा यह दृढ़-विश्वास है कि जब तक विशेषज्ञता-उपार्जन का विशेष प्रबन्ध नहीं किया जाता तथा विद्याव्यसनियों को विशेष सुविधायें प्रदान नहीं की जातीं, किसी भी विषय के विशेषज्ञ उत्पन्न नहीं हो सकते। जिस पुस्तकालय का पुस्तकालयाध्यक्ष भी सिर पटककर रह जाय और पुस्तक के विषय में जानकारी प्राप्त न कर सके, वहां अनुसन्धाता खाक छानने के सिवा कुछ नहीं कर सकता, यह मेरा अनुभव है।

खैर, मैंने अपना मार्ग सोच-विचार कर चुन लिया। पिताजी और मौसी जी के स्नेह तथा आशीर्वाद ने साथ दिया और मैं कलकत्ता पहुँच गया। मैं उन दिनों प्रायः कुल्लेदार पगड़ी तथा सलवार पहनता था, जुलाई ३५ के दिन थे, मैं आर्यसमाज मन्दिर, कार्नवालिस स्ट्रीट, में जा टिका। दूसरे दिन उसी वेष में विश्वविद्यालय जा पहुँचा। कुल्लेदार पगड़ी, लम्बी कमीज, उस पर छोटा कोट, सलवार तथा बूट पहने मैं संस्कृत विभाग तथा संस्कृत कक्षा की खोज में इधर-उधर घूम घूम कर चलती कक्षाओं में ताक झांक कर ही रहा था कि डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी के भ्राता डा० रामाप्रसाद मुखर्जी की अंग्रेजी की कक्षा में से एक छात्र निकला, और मुझसे उत्सुकतापूर्वक मेरे विषय में प्रश्न करने लगा। उसने बताया कि शनिवार को संस्कृत की कोई कक्षा नहीं लगती और मुझे अपनी अंग्रेजी की कक्षा में ले गया। मेरी वेशभूषा ने सभी की दृष्टि एकदम मेरी ओर खींच ली। एक मिनट के लिये डा० मुखर्जी भी उत्सुकतापूर्वक मुझे ताका किये। वास्तव में सभी ने मुझे 'काबुलीवाला' समझा था। उन दिनों मैं शरीर से अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट था तथा गौर वर्ण चेहरे पर रक्तिम आभा चमचमाती थी। कलकत्ता तथा बंगाल के नगरों में कुल्ला-सलवारधारी पठान निम्नवर्ग के लोगों में रुपये के लेनदेन के व्यापार के लिये अत्यन्त कुख्यात हैं। मुझे भी उन्होंने उन्हीं में से एक समझा।

किन्तु समझाने पर भी उनकी समझ में यह नहीं आया कि मैं पञ्जाबी हूँ और शर्मा हूँ। पञ्जाबी शब्द वहाँ सिख का पर्यायवाची है, क्योंकि उन दिनों वहाँ प्रायः सभी टैक्सी चालक तथा वान चालक सिख होते थे। अतः, उनके मानसपटल पर पञ्जाबी शब्द से दाढ़ी-केशधारी पगड़ी बांधे एक हृष्ट-पुष्ट

सिख का चित्र ही उभरता था। यहाँ तक कि होस्टल में दो वर्ष साथ रहने के पश्चात् भी एक छात्रा ने बड़ी गम्भीरतापूर्वक प्रश्न किया—'आप शर्मा हैं या पञ्जाबी ? यदि पञ्जाबी हैं तो आपकी दाढ़ी कहां हैं ? यदि शर्मा हैं तो पञ्जाबी कैसे हो सकते हैं" ? मैंने उन्हें समझाया तो सही, किन्तु स्पष्ट लगता था कि उनके मन में बात जमी नहीं और विरोधाभास बना ही रहा।

मुझे कलकत्ता विश्वविद्यालय के समीप मैडिकल कॉलेज के सामने वाले होस्टल में स्थान मिला। निरामिषभोजी होने के कारण मैं खाना मुहम्मद अली पार्क के निकटस्थ एक ढाबे में खाता था, जिसका स्वामी मेरठनिवासी बालेश्वरप्रसाद गुप्त नामक एक व्यक्ति था। आज विश्वास नहीं होता कि उन दिनों उस ढाबे में सात पैसे प्रति भोजन की दर से पेटभर खाना मिल जाता था।

एम० ए० में चार विषय सर्वसाधारण थे। शेष चार विशेष विषय से सम्बद्ध होते थे।

सामान्य विषय इस प्रकार थे—(१) ऋग्वेद—प्रथम अष्टक, सायण भाष्य तथा आधुनिक आलोचना सहित।

(२) सिद्धान्त कौमुदी। (३) भाषाविज्ञान एवं शब्द शक्ति-प्रकाशिका।

(४) संस्कृत साहित्य का इतिहास।

वेद से सम्बद्ध चार विषय थे—(१) ऐतरेयब्राह्मण तथा आश्वलायन गृह्यसूत्र।

(२) निरुक्त (३) ऋक् प्रातिशाख्य (४) छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषद्।

वेद के प्राध्यापक म० म० पं० अनन्तकृष्ण शास्त्री; म० म० पं० सीताराम शास्त्री शेण्डे; तथा डा० बटकृष्ण घोष थे। सिद्धान्तकौमुदी म० म० पं० सकलनारायण शर्मा, सप्ताह में केवल एक दिन पढ़ाते थे। भाषाविज्ञान के व्याख्याता विश्वविख्यात डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, डा० सुकुमार सेन तथा डा० क्षितीश चन्द्र चटर्जी थे। डा० अमरेश्वर ठाकुर संस्कृत साहित्य के इतिहास के व्याख्याता थे। शब्दशक्ति-प्रकाशिका प्रसिद्ध नैयायिक म०म० पं० फणिभूषण तर्क पढ़ाते थे। विशेष विषयों के अध्यापन का वितरण इस प्रकार किया गया था।

(१) ऐतरेय ब्राह्मण तथा आश्वलायन गृह्यसूत्र म० म० पं० सीताराम शास्त्री।

(२) निरुक्त—विभागाध्यक्ष, म० म० पं० विधुशेखर भट्टाचार्य।

(३) ऋक् प्रातिशाख्य—म० म० पं० सीताराम शास्त्री तथा डा० बटकृष्ण घोष।

(४) उपनिषदों के व्याख्याता, पं० अशोकनाथ भट्टाचार्य। इस प्रकार स्पष्ट है कि मुझे अपने समय के दिग्गज विद्वानों के चरणों में बैठकर विद्याध्ययन करने का स्ववसर प्राप्त हुआ, किन्तु आरम्भ में मुझे एक महती कठिनाई का सामना करना पड़ा। जो अध्यापक तो अबंगीय थे, वे तो संस्कृत में पढ़ाते थे, अतः कठिनाई नहीं होती थी। किन्तु जो बंगीय प्राध्यापक थे, उनमें से अधिकतर बंगला भाषा में विषय का प्रतिपादन करते थे, जो मेरे सिर के ऊपर से निकल जाता था, कुछ भी पल्ले नहीं पड़ता था। एक आध बार मैंने अंग्रेजी या संस्कृत भाषा में भाषण देने की प्रार्थना की भी, तो बंगीय छात्रों ने तीव्र विरोध किया, तो विवश होकर मुझे चुप्पी साधनी पड़ी। मुझे सदा खेद रहेगा कि उन छात्रों ने मेरी वास्तविक कठिनाई को समझते हुए भी उसकी निष्ठुरतापूर्वक अवहेलना की। यद्यपि वे संस्कृत में अन्य अबंगीय प्राध्यापकों के भाषण सदा सुनते और समझते थे, तथा अंग्रेजी भली-भाँति जानते थे, तो भी उनकी भाषा

से सर्वथा अनभिज्ञ परदेसी छात्र की वास्तविक कठिनाई से उन्हें कोई सहानुभूति नहीं थी। तीन मास के भीतर ही मैंने न केवल बंगला को समझने अपि तु उसमें बोलने का भी अभ्यास कर लिया। फिर कोई कठिनाई न रही।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के वास्तविक निर्माता तथा इसे संसार के मानचित्र में अङ्कित करने वाले परम महिमाशाली दिवंगत न्यायमूर्ति डा० सर आशुतोष मुखर्जी को संसार के कोने-कोने से किसी भी जाति, देश या राष्ट्र के परम मनीषी विद्वानों को कलकत्ता विश्वविद्यालय में लाकर इसकी प्रतिष्ठा की सतत अभिवृद्धि का श्रेय प्राप्त होता है। भारतमाता के उस उदारमना सपूत का कीर्तिस्तम्भ यह विद्याकेन्द्र आज अपने आदर्शों से विमुख होकर अन्य विद्याकेन्द्रों के समान ही संकुचित प्रान्तीयता तथा व्यक्तिगत स्वार्थों की रंगस्थली बनता चला जा रहा है, इसे देखकर उस दूरदृष्टा उदारचेता विशालहृदय मनस्वी के मन पर क्या बीतती होगी ? दुःख तो यह है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् इस प्रकार की संकुचित तथा कुत्सित मनोवृत्ति को स्वार्थी राजनैतिक नेताओं ने सर्वत्र ही प्रोत्साहन प्रदान किया है। इसी कारण इन विद्याकेन्द्रों में मध्यम श्रेणी के निष्कर्म एवं स्वार्थसाधक षड्यन्त्रकारी अध्यापकों का जमघट दृष्टिगोचर होता है विद्याव्यसनी मनीषियों का दिन प्रतिदिन ह्रास होता जा रहा है।

सनातन धर्म महाविद्यालय, लाहौर, में ही मुझे प्रथमबार दर्द गुर्दा का रोग आरम्भ हुआ था, विचित्र बात यह थी, कि मैडिकल कालेज के एक प्रोफेसर एक दिन छोड़कर देखने आते थे, किन्तु वह इस साधारण से रोग का निदान एक मास के उपचार के बाद भी न कर सके। विवश होकर मुझे पञ्जनद जाना पड़ा, वहाँ के सिंचाई विभाग के डाक्टर ने देखते ही रोग का निश्चय कर लिया और एक ही बार औषध पिलाकर सूचीवेध पीड़ा को शान्त कर दिया। लाहौर में कालेज के दोनों डाक्टरों ने खाना-पीना बन्द कर रखा था और मास भर में मुझे हड्डियों का ढाँचा बना दिया था, वे इसे उदरपीड़ा समझकर लिक्विड पैराफिन ही पिलाते रहे। पञ्जनद में एक ही दिन में पीड़ा शान्त हो गयी और मुझे दूसरे ही दिन पूरा खाना-खाने की अनुमति मिल गयी।

यही दर्द गुर्दा कलकत्ता में भी एम० ए० की परीक्षा के दिन आरम्भ हो गया, मुझे मैडिकल कालेज में भर्ती किया गया, जहाँ एक्सरे से पता चला कि छोटी सी पत्थरी गुर्दे में बन गयी है। किन्तु इसे निकाला नहीं गया, क्योंकि सन् १९३७—३८ तक इसकी शल्यचिकित्सा भयावह मानी जाती थी। मैं परीक्षा में न बैठ सका। दुर्भाग्यवश अगले दो वर्षों में भी मुझे विधि की इसी विडम्बना का शिकार होना पड़ा। किन्तु इस बीच में मैंने काशी में, डी० ए० वी० कालेज के अन्तर्गत संस्कृत विद्यालय से मध्यमा (साहित्य) तथा तत्कालीन गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज से वेद (नैरुक्त प्रक्रिया) शास्त्री की प्रथम दो खण्डों की परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण करली। अगले वर्ष एम० ए० की परीक्षा में सम्मिलित हो सका। आठ दिन में आठ पत्र समाप्त हो गये। कलकत्ता में ऐसा रिवाज था कि यदि प्रश्न-पत्र संस्कृत में हों तो उत्तर संस्कृत में देना चाहिये। यदि प्रश्न-पत्र अंग्रेजी में हो, तो उत्तर अंग्रेजी या संस्कृत में दे सकते थे। तदनुसार भाषा-विज्ञान तथा संस्कृत-साहित्य के इतिहास के अतिरिक्त सभी उत्तर संस्कृत में ही देने पड़े। ऋक्प्रातिशाख्य विषयक उत्तर अंग्रेजी में ही देने पड़े। दुर्भाग्यवश मेरा परीक्षापरिणाम ५९·५ प्रतिशत रह गया। आजकल

तो अनेकत्र ऐसी स्थिति में पाँच अङ्क देकर अगली श्रेणी दे दी जाती है, किन्तु वहाँ एक अत्यन्त योग्य छात्र को केवल एक अङ्क से प्रथम श्रेणी से हाथ धोना पड़ा था। अध्यापकों की संस्तुति को भी नहीं सुना गया। मेरे तो चार अङ्क कम थे। मेरी प्रार्थना को तो कौन सुनता। किन्तु जैसा कि उन अध्यापकों के प्रशस्तिपत्रों से स्पष्ट प्रकट होता है, मेरे विषय में भी सभी को खेद ही रहा। वेदविषय के केवल एक छात्र नमिगोपाल सेन (?) को प्रथम श्रेणी प्राप्त हुई थी।

काशी में मेरा सम्पर्क स्व० पं० रामनारायण मिश्र तथा पं० काशीराम इस्सर जी से हुआ। पं० रामनारायण जी तो डी० ए० वी० कालेज के कर्णधार ही थे। पं० काशीराम जी संस्कृत पाठशालाओं के अवकाश प्राप्त निरीक्षक थे। दोनों ही महानुभावों से मुझे अनन्य स्नेह तथा समादर प्राप्त हुआ। पं० काशीराम जी इस्सर यद्यपि अपनी आयु के ७० से अधिक वर्षों को पार कर चुके थे तो भी उनके पौने छहफुट से अधिक ऊँचे छरहरे किन्तु पुष्ट शरीर पर रखी लम्बी किन्तु मजबूत ग्रीवा पर भूरे केश श्मश्रु से युक्त झुरियों से रहित भरापूरा, पोठोहारी पौरुष की तेजस्विता से सुशोभित होता हुआ भी विनम्रता, शालीनता तथा मृदुलभावनाओं से परिमण्डित मुखमण्डल प्रत्येक सम्पृक्त व्यक्ति को आकृष्ट किये बिना नहीं रहता था। उनका घर तो मेरे लिये पितृगृह तुल्य बन गया था। उनका स्नेहिल स्वभाव, हर मिलने वाले के लिये अपने भीतर आत्मीयता को समेटे हुए प्रभावशाली व्यक्तित्व, सात्त्विकता की छटा बिखेरता हुआ स्वच्छ, निर्मल मनस्तल सभी मिलकर किसको मुग्ध नहीं कर लेते थे। उनके आस-पास एक विशेष प्रकार की शान्ति से समन्वित मनस्तुति मुझे घेरे रहती थी। उन्हीं पण्डित जी की कृपा से मुझे भारत के तन्त्र-विद्या के अद्वितीय मर्मवित्, योगशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् एवं साधक, संस्कृत कालेज के भूतपूर्व प्राचार्य, सरस्वतीभवन ग्रन्थमाला के अत्यन्त सुयोग्य सम्पादक, म० म० पद्मविभूषण, डा० गोपीनाथ क़विराज जी महाराज के चरणारविन्द में बैठकर लगातार एक वर्ष तक योगदर्शन के गहन अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। योगविद्या के परम मर्मज्ञ, सरस्वती के अनन्य उपासक, प्रभु के एकनिष्ठ भक्त, निखिल विद्या निष्णात्, कविराज जी के अतुल वैदुष्य की गहराई मैं बैठने का प्रयास तो बहुतों ने किया, किन्तु कौन सौभाग्यशाली उसके तल को स्पर्श करने में सफल हो सका, यह कह सकना कठिन है।

संस्कृत महाविद्यालय में पं० भगवत् प्रसाद जी मिश्र मेरे यजुर्वेद के अध्यापक थे। कात्यायन श्रौतसूत्र, याज्ञवल्क्य शिक्षा, निरुक्त प्रातिशाख्य प्रभृति विषयों का अध्यापन आपने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक किया। इनकी विशेषता यह थी कि प्रबुद्ध विद्यार्थी जहाँ कहीं ऐसा प्रश्न कर देता था, जिसके विषय में वह सुनिश्चित उत्तर नहीं दे सकते थे, वहाँ स्पष्ट कह देते थे, इस विषय में और विचार कर लेंगे। प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पं० विद्याधर जी गौड़, यद्यपि हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राध्यापक थे, तो भी मुझ पर उनकी विशेषकृपा थी, वाजसनेय प्रातिशाख्य के विषय में चर्चा होने पर कई ऐसे अवसर आये जब अत्यन्त उदारता-पूर्वक अपनी पुस्तक में प्रश्नवाचक चिह्न लगाकर पुनर्विचार करने का आश्वाशन दिया, क्योंकि मैंने ऋक् प्रातिशाक्य का अध्ययन एम. ए. में आलोचनापूर्वक कर रखा था। अतः तुलनात्मक दृष्टि से वा. प्राति-शाख्य के प्रतिपाद्य विषयों पर विचार करने के अनेक अवसर थे। जिन विषयों पर मेरी शङ्काएँ बनी रहती थीं, उस विषय में तत्कालीन प्राचार्य डा० मङ्गलदेव शास्त्री जी के पास समाधानार्थ जा पहुँचता

था। वह भी मेरे अध्यवसाय से प्रसन्न होकर मुझ पर कृपा दृष्टि रखने लगे। एक बार पोस्टाचार्य कक्षा में उन्होंने निरुक्त पर व्याख्यान देने आरम्भ किये। मैं भी वहाँ जिज्ञासु के रूप में पहुँचने लगा। निरुक्त से सम्बद्ध अनेक शङ्काएँ और प्रश्न मेरे मन में भी उठते ही थे, जिनका समाधान आज भी अपेक्षित है। उन्हें जब मैंने डा० मङ्गल देव जी के समक्ष उत्थापित करना आरम्भ किया तो दस दिनों में ही डा० साहिब ने कहा, 'यही सब प्रश्न तो विचारणीय हैं, जिनकी ओर इन लोगों का ध्यान आकृष्ट करने के लिये इस व्याख्यान माला को आरम्भ किया गया है। तुमको इन कक्षाओं से विशेष लाभ नहीं होगा, क्योंकि तुम इनसे पूर्व परिचित हो। मैंने उनकी आज्ञानुसार वहाँ जाना बन्द कर दिया। यही अवस्था प्रातिशाख्यों के सम्बन्ध में भी रही। परिणामस्वरूप डा० साहिब ने मुझे २१) की विशेष छात्रवृत्ति प्रदान की। जब मैं शास्त्री परीक्षा में उत्तीर्ण होकर घर लौटा तो श्री के. एम. मुंशी महोदय ने डाक्टर साहिब से अपने बम्बई स्थित विद्याभवन के लिये एक अनुसन्धाता-व्याख्याता की मांग की, तो डाक्टर साहिब ने अत्यन्त कृपा पूर्वक मेरे नाम का सुझाव देकर मेरे पास सूचना प्रेषित कर दी। कुछ दिनों में नियुक्ति पत्र आ गया। किन्तु उन दिनों युद्ध के दिन थे, पिताजी ने इतनी दूर भेजना उचित न समझा। किन्तु यह निर्णय भविष्य के लिये हानिकारक सिद्ध हुआ। मैंने पिताजी को समझाने का बहुत यत्न किया, किन्तु वह नहीं माने। मैं समझता हूँ कि यदि मैं वह नियुक्ति उस समय स्वीकार कर लेता तो मेरी स्थिति आज की स्थिति से कहीं अच्छी होती। मैं न जाने कहाँ पहुँचता। किन्तु भाग्य को कौन बदल सकता है?

शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् मेरा निश्चय आचार्य की परीक्षा देने का था। किन्तु, लाहौर जाते ही नाना जी ने बताया कि दोआबा कालेज, जलन्धर में संस्कृत के अध्यापन का स्थान रिक्त है, आवेदन पत्र भेज दो। मेरे मना करने पर भी वे आवेदन पत्र टाईप करवा लाये और मुझे हस्ताक्षर करने की आज्ञा दी जो मुझे माननी पड़ी।

दो सप्ताह के भीतर साक्षात्कार का पत्र आ गया। प्राचार्य मुकन्दलाल धवन तथा श्रीमती लज्जावती ने साक्षात्कार किया, तथा तुरन्त नियुक्ति पत्र प्रदान कर दिया। वेतन केवल सौ रुपये था। किन्तु कलकत्ता विश्वविद्यालय के हमारे एक प्रथम श्रेणी के प्रथम स्थानस्थ साथी को तो उन दिनों साठ ही रुपये मिले थे, यह सन्तोष कर लिया। उन दिनों दस रुपये वार्षिक वृद्धि दी जाती थी। जब मैं कालेज में पहुँचा तो पता चला कि वहाँ पूर्व पण्डित जी के लौटाने की माँग के पोस्टर लगे हुए थे। पता चला कि किसी अनैतिक कार्य में उनके साथी का हाथ होने के कारण एक छात्रा ने आत्महत्या कर ली थी। तो दोनों को ही निकाल दिया गया था। एक पण्डित प्यारे लाल कार्य कर रहे थे, वह कन्या महाविद्यालय में भी अध्यापनार्थ जाया करते थे। मुझे भी प्राचार्य महोदय ने वहाँ जाने का आदेश दिया। किन्तु दो दिनों के बाद ही प्राचार्या कु० लज्जावती के कहने पर मुझे केवल छात्रों को ही पढ़ाने का आदेश दिया गया। पूर्व-घटित काण्ड में लिप्त दर्शनशास्त्र के अध्यापक सुन्दर व्यक्तित्व रखते थे, सम्भवतः ऐसी ही किसी आशङ्का के कारण कन्या महाविद्यालय मेरे लिये भी वर्जित क्षेत्र घोषित कर दिया गया। दूध का जला छाछ फूंक फूंककर पीता है।

बी. ए. के छात्र पण्डित प्यारे लाल जी से किसी कारण सन्तुष्ट नहीं थे। दोनों कक्षाओं में कुल

चार छात्र थे। मुझे इस असन्तोष की पृष्ठभूमि का पता नहीं था। प्राचार्य महोदय ने मुझसे पूछा कि क्या बी. ए. की उत्तरार्द्ध की कक्षा लेने को तय्यार हूँ, मैंने शालीनता वश कह दिया कि जब पण्डित जी पढ़ा रहे हैं तो मेरे लिये उस कक्षा को लेना उचित न होगा। पढ़ाने को तो जैसी आपकी आज्ञा होगी, पढ़ा लूँगा। किन्तु बाद में पता चला कि यह मेरे लिये व्यावहारिक चातुर्य का अभाव सिद्ध हुआ। यदि मैं उस शालीनता के चक्कर में न पड़ता तो मुझे विभागाध्यक्ष बना दिया जाता। मेरे निषेध को मेरी दुर्बलता समझा गया। यही चातुर्याभाव तथा सीधापन सदा मेरे मार्ग का रोड़ा बनता रहा है। तो भी विद्यार्थी मेरे ही साथ लगे रहते थे। सप्ताह में एक दो बार वह अवश्य मेरे घर पर पूर्वपठित पाठ की पुनरावृत्ति के लिये आते थे। सामान्य हिन्दी भी पढ़ानी पड़ती थी। यह कक्षा सप्ताह में दो बार लगती थी। इसमें छात्रों की संख्या बहुत अधिक रहती थी। परिचयाभाव के कारण एक बड़े घर के छात्र ने कक्षा में अनुचित व्यवहार किया, मैंने अन्त में उसे बुलाकर समझाने का प्रयत्न किया, किन्तु वह सुधरा नहीं। अन्त में मैंने उसे २५) का दण्ड देकर कक्षा से एक मास के लिये निलम्बित कर दिया। प्राचार्य महोदय ने मुझे तो कुछ नहीं कहा किन्तु एक मास के बाद तक भी दण्ड वसूल नहीं किया, न ही क्षमा किया। उसकी सिफारिश कार्यकारिणी के सदस्य ने यह कहकर की कि वह छात्र कालेज में बहुत से छात्रों के प्रवेश कराने में सहायक हुआ है अत: दण्ड उसका रद्द कर दिया जाय। मैंने उन महोदय से स्पष्ट कह दिया, कि इतने उपयोगी छात्र के लिये इतनी छोटी सी धनराशि आप ही क्यों नहीं दे देते। वही खिसिया कर रह गये। अन्त में उसे दण्ड देना पड़ा। तब से पूरे कालेज में मेरी धाक जम गई। पुन: किसी को मेरे साथ उद्दण्डता करने का साहस नहीं हुआ। इस बीच मेरी नियुक्ति गुजरां वाला में हो गयी। किन्तु जलन्धर के प्राचार्य ने मुझे जाने नहीं दिया। अक्तूबर १९४२ से अप्रैल १९४७ तक मैं वहीं रहा।

मेरा निवास स्थान मुस्लिम मुहल्ले से लगा हुआ था, उसी में मेरे सहयोगी जीवविज्ञान के प्राध्यापक प्रो० मदान भी रहते थे। वे भी दो ही प्राणी थे। देश का बटवारा सुनिश्चित हो चुका था। जलन्धर तथा उसके आस-पास पठानों की कई बस्तियां थीं, जहाँ के मुसलमान बड़े उग्र स्वभाव के थे। सन् १९४७ के होली के दिनों में ही पञ्जाब के अनेक स्थानों पर साम्प्रदायिक दंगे होने लगे थे। जलन्धर में भी तनाव बढ़ गया था। हम दोनों प्रोफसरों ने पड़ौस के मुसलमानों से सम्पर्क करके उन्हें किसी भी शरारत के भयावह परिणामों से सचेत कर दिया और अपने निर्भीक व्यवहार से उन्हें विश्वास दिला दिया कि हमारे पास किसी भी आक्रमण के विरुद्ध प्रतीकार के साधन हैं। हमारे मकान और उनके मुहल्ले के बीच केवल पाँच फुट की गली थी। हम रात भर बारी-बारी अपने चौबारे की खिड़की में बैठकर उन पर दृष्टि रखते। एक बार एक मुसलमान ने हमारे मकान पर गोफिया से लोहे का एक डला मारा। हमने तुरन्त मुहल्ले में इस प्रकार के दुष्कृत्यों के दुष्परिणामों से सचेत करते हुए अपने समक्ष उसे बुलवाकर क्षमा याचना कराई। उन्हें इस बात का विश्वास हो गया कि हमारे पास आग्नेय अस्त्र हैं, जबकि हमारे पास तलवार और कुल्हाड़ी के सिवा कुछ भी नहीं था।

'हिम्मते मर्दां मददे खुदा'। उस भयावह स्थिति में भी मुझे भय से साक्षात्कार नहीं हुआ। उस मुहल्ले में भी मैं इस प्रकार निश्चिन्त घूमता था जैसे जङ्गल में सिंह। वहाँ से शीघ्र ही मेरी नियुक्ति

ऐंग्लो संस्कृत कालेज, खत्ता में हो गयी। कुछ ही मास के अनन्तर व्यापक दङ्गे आरम्भ हो गये। एक दिन मैं, मेरी पत्नी तथा हमारे एक और सम्बन्धी नियमानुसार घूमने निकल गये। हमें आने वाले खतरे का कुछ-कुछ आभास था। जब हम लौट रहे थे तो शहर से बाहर ही दो तीन सिख तलवारें सूते हुए हमारी ओर आये, और डाँट कर बोले, आपको घूमने की सूझ रही है, कुछ होश भी है, शहर में दङ्गे आरम्भ हो गये हैं, अभी सूचना मिलेगी तीन हिन्दू लापरवाही से घूमते हुए मारे गये। मैंने अत्यन्त शान्त भाव से कहा, 'इसकी चिन्ता में आप क्यों परेशान हो रहे हैं, हम अपनी रक्षा स्वयं कर सकते हैं आपको नहीं पुकारेंगे।' हमारे सम्बन्धी ने जब रिवाल्वर निकाला तो वे सिख चुपके से एक ओर चल दिये और हमारे देखते-२ एक मुसलमान को धराशायी कर दिया। फिर तो रक्तपात का ऐसा ताण्डव आरम्भ हो गया कि कहते नहीं बनता। हमारा मकान शहर के एक दम बाहरी मुहल्ले में था, जहाँ सिखों विशेषतः छोटे-मोटे कारखानेदार लुहारों की संख्या अधिक थी। वहाँ भी रात के समय रक्षादलों का सुव्यवस्थित सङ्गठन करने में मैंने जी जान से ऐसा सहयोग दिया कि मुहल्ले के सभी निवासी अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखने लगे। आस-पास चहुँ दिशाओं में रात्रि के समय अग्नि की धू धू करती हुई दुधर्ष लपटें आकाश को स्पर्श करती दिखाई देती थीं। सहस्रों निरीह तथा निर्दोष व्यक्ति इस क्रूर नरसंहार में खण्ड खण्ड करके उन्हीं के मकानों में भस्मसात कर दिये गये। मनुष्य कितना खूंख्वार तथा नृशंस हो सकता है, इसका साक्षात् अनुभव उन राजनैतिक उथल-पुथल के दिनों में हुआ, जिनमें भारत माता के अङ्ग प्रत्यङ्ग विखण्डित करके उसकी शोभाशालिनी सौन्दर्यमयी आकृति को ही विकृत कर दिया गया। इतिहास साक्षी है यह सब कुछ राजनीतिज्ञ नेताओं की स्वार्थसाधना की अपरिहार्य शक्ति लिप्सा का अनिवार्य एवं दुर्दान्त परिणाम था। जब मुझे वह निवास छोड़ना पड़ा, तो मुहल्ले वालों ने मिलकर मालिक मकान से कहा कि इन्हें हम नहीं जाने देंगे, किन्तु उनकी भो मजबूरी थी और मैंने भी नवीन व्यवस्था कर ली थी। मैं उनके इस अपार स्नेह का आभारी रहूँगा।

इस प्रसङ्ग में मैं अपनी धर्मपत्नी श्रीमती पुष्पावती शर्मा के अदम्य साहस, कर्त्तव्य निष्ठा, नेतृत्व शक्ति तथा मानसिक सन्तुलन की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता। जब पुरुष लोग रात्रि को रक्षाहेतु बाहर निकल पड़ते थे, तो इनके नेतृत्व में स्त्रियां मकानों की छतों पर ईंट-पत्थर, गर्म तेल तथा लाल मिर्च लेकर बैठ जाती थीं। हम लोगों ने इन लोगों को स्पष्ट कह दिया था कि यदि अवसर आये और हम लोग मारे गये, तो उनका क्या कर्तव्य होगा। वे सब इस जौहर को दोहराने के लिये तत्पर थीं, जो किसी समय काल की आँखों ने चित्तौड़ में घटित होता हुआ देखा था। अन्तर इतना था कि अग्निसात् होने के स्थान पर विष पीकर प्राणत्याग की प्रतिज्ञा थी। वहाँ मेरा परिचय अपने पुराने साथी, डी० ए० वी० कालेज, लाहौर, के छात्रनेता, पञ्जाब केसरी ला० लाजपतराय के पौत्र, और इस समय कालेज प्रबन्ध समिति के मन्त्री श्री बलदेवराय से हुआ, जिन्हें मैंने तो वहाँ जाते ही पहिचान लिया था किन्तु उन्हें परखने तथा निकट से देखने के बाद ही मैंने उन्हें अपना परिचय दिया था, यदि मैं उन्हें व्यर्थ की अकड़फूं करने वाले, अपने पद तथा प्रतिष्ठा का प्रदर्शन करने वाले या किसी प्रकार की अवहेलना वृत्ति से ग्रस्त पाता तो मैं कभी उन पर अपने पुराने परिचय का रहस्य न खोलता। पूरे एक वर्ष के बाद ही मैंने उन्हें अपना

परिचय दिया था, सुनते ही उन्होंने गद्गद् होकर गले लगा लिया। फिर तो उनका घर हमारा घर ही बन गया। हमारा नवीन निवास उनके निवास स्थान के ठीक पीछे था। हम आज भी अनन्य मित्र हैं। इसी बीच सनातन धर्म कॉलेज मुजफ्फरनगर, में संस्कृत प्राध्यापक की नियुक्ति के विषय में सूचना प्राप्त हुई, आवेदन पत्र भेज दिया, बुलाया भी गया, किन्तु नियुक्ति नहीं हो सकी। एक तो यह कारण रहा कि मेरे मुकाबले में एक डी०लिट्० थे, उनका साक्षात्कार विशेष नहीं था तो भी डिग्री तो उनकी बडी थी ही, दूसरा कारण जो बड़ा विचित्र लगा, यह था कि मैं सूटबूट और हैट पहने हुए था। चयनसमिति की सम्मति में मुझ जैसा 'गोरा साहब' संस्कृत क्या पढ़ायेगा। छह मास भी न बीतने पाये थे कि श्री शान्ति जी, जो पहले खन्ना में ही थे, के द्वारा २४ दिसम्बर सन् १९४९ को मुझे यहाँ तुरन्त आने का सन्देश मिला। तत्कालीन मन्त्री श्री गोपालराज स्वरूप जी की कोठी पर केवल उन्हीं से बातचीत हुई। उन्होंने बताया कि यहाँ के छात्र-छात्राएँ (केवल पाँच) बहुत 'तेज' हैं, उन्होंने उन डी०लिट्० महाशय को उखाड़ फेंका है। अतः तुम छुट्टी लेकर आओ तो ठीक रहेगा। मैंने तुरन्त कहा, 'आप जब चाहें मुझे निकाल सकते हैं, मैं छुट्टी के चक्कर में नहीं पड़ने का।' मेरे इस आत्मविश्वास से प्रसन्न होकर उन्होंने नियुक्ति-पत्र मेरे हाथों में थमा दिया। मैं ४ जनवरी सन् ५० को कालेज में उपस्थित हो गया और तीन मास बाद ही 'स्थायी' कर दिया गया।

उस समय अन्य प्राध्यापकों के अतिरिक्त दो का विशेष स्मरण आता है, एक इतिहास के विभूति भूषण मिश्र तथा द्वितीय राजनीति के क्षीराब्धि कृष्णन। मिश्र जी उस समय प्रॉक्टर थे तथा विद्यार्थियों में पर्याप्त लोकप्रिय थे, अपनी योग्यता के कारण वह शीघ्र ही गौहाटी विश्वविद्यालय में नियुक्त हो गये। कृष्णन बड़ी विचित्र प्रकृति के थे। वह अत्यन्त वाचाल हंसमुख तथा सफल अध्यापक थे। कभी-कभी मेरी कक्षा में आ बैठते थे, उपनिषदों में विशेषरुचि रखते थे। बड़े मनमौजी व्यक्ति थे। शीघ्र ही वह रेलवे सर्विस में उच्चपद पर आसीन होकर चले गये। इनके पश्चात् मुझे प्रॉक्टर का पद सौंप दिया गया। श्री सुरेन्द्र कुमार सिन्हा की नियुक्ति राजनीति-विभाग में तथा डा० विश्वनाथ मिश्र की हिन्दी विभाग में कॉलेज खुलते ही हो गयी। डा० सिन्हा ने आते ही कालेज में उथल-पुथल मचा दी। वह अत्यन्त वाचाल उच्चाकांक्षी तथा पदलोलुप व्यक्ति थे। अपने से ऊँचे प्रत्येक व्यक्ति को नीचा दिखाने में उन्हें आनन्द आता था। उनकी इस प्रवृत्ति के प्रथम शिकार अंग्रेजी विभाग के अध्यक्ष प्रो० ओमप्रकाश बने। वह अपेक्षाकृत सरल स्वभाव होने के कारण उनसे दबते रहे। मुझे भी उनकी महत्त्वाकांक्षा का निशाना बनाने का भरसक प्रयत्न किया गया, किन्तु मेरे भिन्न प्रकार की मिट्टी का बना होने के कारण मेरा कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सके।

मैंने कालेज की प्रायः प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कमेटी पर कार्य किया है। प्रायः बीस वर्ष तक स्थानापन्न प्राचार्य, तथा पन्द्रह वर्ष तक मुख्य प्रॉक्टर के पदों पर कार्य किया। मैं कह सकता हूँ कि मुख्य प्रॉक्टर के रूप में जिस लगन परिश्रम तथा तत्परता से कॉलेज में अनुशासन बनाये रखने का कार्य मैंने किया है, और जितने जोखिम उठाये हैं, उतने आज तक कालेज के इतिहास में किसी ने नहीं उठाये। इस कार्य में अन्य साथियों ने मुझे पूरा सहयोग प्रदान किया। उन सहयोगियों में सर्वोपरि श्री एन० के० महेश्वरी हैं,

जिन्होंने प्रत्येक अवसर पर मेरा साथ दिया, तथा निर्भीकतापूर्वक उद्दण्ड छात्रों को दण्ड दिलाने में पूर्ण सहयोग दिया। जितने महत्त्वपूर्ण निर्णय मेरी अनुशासन समिति ने लिये वे अपने आप में एक रिकार्ड हैं। जिस निष्पक्षता, साहस, कर्तव्यनिष्ठा का परिचय मेरे साथियों ने दिया, मैं उनका सदा आभारी रहूँगा। एक बात का खेद मुझे सदा रहा है और रहेगा कि कई बार अनुशासन समिति के सर्वथा उचित निर्णयों को अकारण ही सम्भवतः किसी दबाव में आकर या अनुचित नरमी के कारण-निरस्त करने की प्रवृत्ति रही है, जो किसी भी प्रशासनिक मानदण्ड से उचित नहीं ठहराई जा सकती। फलस्वरूप हमारे प्रयत्नों का अभीष्ट प्रभाव तथा परिणाम कॉलेज के दैनिक जीवन पर नहीं पड़ सका। किन्तु हमारे अधिकार सीमित थे, अतः हम लोग हताश होकर चुप हो जाते थे और उद्दण्डता को लगातार प्रोत्साहन मिलता रहा। इस प्रोत्साहन के कारणों में जाने की आवश्यकता नहीं।

कॉलिज की प्रायः प्रत्येक महत्त्वपूर्ण समिति तथा उसके निर्णयों से मैं सदा सम्बद्ध रहा हूँ, तथा कॉलेज की उन्नति में जो वृद्धि हुई है, उसमें यदि मैं अपने योगदान की चर्चा करूँ तो इसमें कुछ भी अनुचित न होगा।

संस्कृत-विभाग के सञ्चालन तथा इसकी विविध गतिविधियों में मुझे मेरे साथियों से सदा पूर्ण तथा एकनिष्ठ सहयोग मिलता रहा है। मुझे एक भी ऐसा अवसर स्मरण नहीं है जबकि हमारे विभाग में लेशमात्र भी मतभेद या वैमनस्य का आभास भी मिला हो या मुझे अपने साथियों की कार्यप्रणाली या कर्तव्यनिष्ठा के विषय में एक शब्द भी कहने का अवसर प्राप्त हुआ हो। संस्कृत के परीक्षा परिणाम ही इस सामञ्जस्य के प्रमाण हैं।

कॉलिज के वाहर दो विश्वविद्यालयों से मेरा सम्बन्ध रहा है। पहले मैं आगरा विश्वविद्यालय के बोर्ड ऑफ संस्कृत स्टडीज का तीन वर्ष तक सदस्य रहा हूँ। तदनन्तर मेरठ विश्वविद्यालय की पाठचक्रम समिति, अनुसन्धान समिति, विद्वत्-परिषद् तथा कलासङ्काय का छह वर्षों तक सदस्य एवं संयोजक रहा हूँ। वहाँ भी मैंने संस्कृत पाठचक्रम तथा अनुसन्धान क्षेत्र में जहाँ तक वन पड़ा, सुधार व संशोधन करने का प्रयास किया। किन्तु मानना पड़ेगा कि संस्कृत शिक्षा के क्षेत्र में बद्धमूल जड़ता, रुढिवाद एवं परिश्रम के अभाव के कारण किसी भी क्रान्तिकारी सुधार की आशा करना तक तब व्यर्थ है जब तक इन सुधारों तथा संशोधनों को अनिवार्य रूप से ऊपर से लादा नहीं जाता। छह वर्ष के सतत प्रयत्नों के बाद मैं अपने साथियों को विशेषज्ञतापरक पाठचक्रम की आवश्यकता का विश्वास दिला सका, दो बार पाठचक्रम बनाकर प्रस्तुत भी किया, किन्तु परिणाम वही ढाक के तीन पात। शेष बहुत से विषयों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो चुके हैं, संस्कृत पाठचक्रम का मूल ढाँचा वही है जो १९५० में आगरा का था। अपने सहयोगियों और साथियों के स्नेह के परिणामस्वरूप मैं मेरठ विश्वविद्यालय अध्यापक परिषद् के उपप्रधान तथा अनुसन्धान गोष्ठी के प्रधान पद पर भी इस परिषद् के प्रतिष्ठापन से अद्ययावत् आसीन हूँ तथा नाममात्र को मेरठ विश्वविद्यालय की संस्कृतशोध पत्रिका का प्रधान सम्पादक भी हूँ, यद्यपि इसके सञ्चालन का सम्पूर्ण श्रेय हमारे अनुज डा० महेशचन्द्र भरतीय को है।

जैसा कि उपरि वर्णित विवरण से स्पष्ट है, मुझे आरम्भ से ही वैदिक विषय से विशेष लगाव रहा है। अनेक विषयों पर लेख लिखने के बाद भी मेरी अन्तरात्मा वैदिक विषयों में ही रमती है। परिणाम-

स्वरूप मैंने १९६० से ही वैदिक साहित्य का सांगोपांग इतिहास लिखने की योजना बना ली थी तब से अब तक इसी योजना की पूर्ति में दिनरात संलग्न हूँ। पूना, दिल्ली, वाराणसी और होशियारपुर तो कई बार जाकर एतद्विषयक सामग्री का संग्रह करता रहा हूँ, किन्तु खेद है कि मेरठ विश्वविद्यालय के अधिकारियों को इस विषय के महत्त्व के सम्बन्ध में विश्वास न दिला सका। विगत कुलसचिव महोदय तो वैसे ही संस्कृत के नाम से चिढ़े रहते थे, उन्होंने पूना में एक मास तक अध्ययनार्थ केवल सौ रुपये प्रदान कर के बड़ा तीर मारा था, सम्भवतः इसलिए भी कि चाटूकारी मेरे बस की बात नहीं है। खैर, अपने ही बलबूते पर इस महान् कार्य को सम्पन्न करने में संलग्न हूँ।

पाकिस्तान से उजड़ कर आए पिता जी के पास अपने छोटे-छोटे बच्चों के भरण-पोषण के साधनों का अभाव था। मुझ से छोटा भाई उस समय सोलह वर्ष का भी न था। मुझे कुल मिलाकर १५०) मासिक वेतन मिलता था। भाग्य ने उन्हें मध्यप्रदेश के राजनन्द गाँव में जा पटका। बारह-तेरह प्राणियों का पेट पालने का प्रश्न सामने था। पिता जी को दुर्भाग्यवश पक्षाघात के रोगने दबोच कर चारपाई पर डाल दिया। मौसी जी के साहस और छोटे भाई देवेन्द्रकुमार के अध्यवसाय के परिणामस्वरूप दो जून पेट भरने के लिये एक छोटी सी दुकान खोल ली गयी। जिसके सहारे इतने बड़े कुटुम्ब का भरणपोषण कैसे होता था, इसकी कल्पना ही की जा सकती है। किन्तु सदा की भाँति पञ्जाबियों की विपत्तियों के सिर पर पाँव रखकर खड़ा हो जाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति तथा सहज धैर्य के सहारे उस सोलह वर्षीय बालक तथा उससे कुछ ही बड़े बहनोई श्री जयचन्द्र की अजेय हिम्मत ने अद्भुत काम किया और उस नगर में अपने पाँव जमा लिये। चार वर्ष बाद अकस्मात् ही मौसी जी का देहावसान हो गया। पिता जी '५७ तक चारपाई पर एड़ियाँ रगड़ते रहे। धीरे-धीरे भगवत्कृपा से सभी बच्चे पढ़-लिख कर योग्य बन गये, चार बहनों का विवाह भी किया गया। अब सभी भाई-बहन अपने-अपने घर सुखी हैं। केवल एक भाई अविवाहित है। मैं फिर दोहराऊँगा—

"हिम्मते मर्दां मददे खुदा"

पिता जी के स्वर्गवास हो जाने के बाद सभी भाई मुझे बहुत आदर और सम्मान देते हैं और बहनें स्नेह सम्भार। यह उनकी शालीनता और सौजन्य ही है, वरना मैंने तो उनके लिये कुछ भी नहीं किया, न ही कुछ कर सकने योग्य ही था। उनके बच्चे ही मेरे बच्चे हैं, और उनका अनन्य स्नेह ही मेरा सम्बल। भगवान् उन सभी को प्रसन्न रखे, दीर्घायु करे।

———



श्रीमती एवम् श्री कुन्दन लाल शर्मा

The problem of incest in Yame-Yami Dialogue

The dialogue between यम and यमी in the Rg.Veda (X10) has been a subject of controversy among the Indologist since long. It has further led to speculations regarding to the origin of human race whose progenitors have been supposed to be these twin brother and sister. Recently this problem of incest has been raised again by Dr. R. N. Dandekar[1] and supported by Rev. H. Heras[2] I would like to discuss the problem in a little detail to see whether there is any real ground on which these savants have raised the edifice of 'incest in the Vedic literature or it is simply a figment of imagination raised due to some evidence, again real or imaginary, in the traditions of some other prople in this vast world of various customs and beliefs.

Let us first have a bird-eye view of various theories regarding the personality and character of Yama. A. Weber conceived of Yama as 'parting day' and यमी as 'night'.[3] Maxmuller regarded Yama as 'Day' and his sister यमी as 'night'.[4] J. Ehni regarded Yama as deified form of the 'setting-sun', his father विवस्वान्, being the 'rising sun'.[5] Kuhn[6] as well as Bergaign[7] thought Yama to be none else than Agni in the form of lightining and यमी as sound of thunder. यास्क has described Yama as a god of midregion as well as that of heaven.[8] Hillebrandt[9] as a consistant exponant of Lunarism as against Solarism of Maxmuller, propounded the view that because Yama and विवस्वान् are contrasted in Vedic mythology, (Rg X.64.3; 92.11-12; A, V XVIII.2.32), therefore Yama cannot be a Solar god; hence automatically he must be regarded as a Lunar god (cf J. Br. I. 28).

In Rg. I. 85.3 we find Yama's "deathless birth" clearly referred to.

---

1. B. C. Law Comm. Vol. P. 194 ff.
2. Journal of Indian History, Vol. 32 Pt. III P. 309-317,
3. Vedische Beitrage.
4. 'Lectures' as quoted by J Muir, O.S.T.V.P. 269 (Hindi=H).
5. 'Ursprunglicha Gottheit des Ved Yama' and 'Der Vedische Mythus des Yama'.
6. Heraukunst der Feures Und des Gottertranks.
7. La Religion Vedique.
8. C.f. Nir. 10·19·2 and 12.28.2.
9. Ved. myth. I P. 338.

Here Griffith and J. Ehni both see reference to the rising sun[10]. Hence Yama has a separate identity of his own. Meyer[11] regards Yama as the alterego of living man. It is rather strange that he should see no reference to Yama as a god in the Veda. There are several stanzas in the Rg Veda itself where in he is either mentioned as one of the gods or is shown to live with them in the same habitat.

'यमं पश्यासि वरुञ्च देवम्' (Rg X. 14.7)
'सूर्यमासा चन्द्रमसा यमं दिवि' (Rg. X. 64·3)
'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वान माहुः' (Rg. I. 164.46)
'इदं यमस्य सादनं देवयानं यदुच्यते' (Rg. X. 135.7)
'यस्मिन् वृत्ते सुपलाशे देवैः सम्पिबते यमः' (Rg. X. 135·1

Yama has been clearly mentioned among the Visvedevas (Rg. X. 92. 11-12, A.V. XVIII-2.33; T.S. II. 1.4.3 and II. 6.6.4)[12]

Roth[13] Hopkins[14], Oldenberg[15] and Scherman[16] all regard Yama as a human being and the progenitor of the human race. Dr. Dandekar has discussed all these views and seeing through the difficulties in accepting them in toto has used the appellation 'god-man' for Yama[17] but has accepted the incest theory and has recognised him as the first progenitor of human race. Secondly he thinks Yama to be 'originally' a hermaphrodite who "seems' to have separated itself into two-a male and a female-for the sake of procreation of human race,"[18] and has thus tried to establish that although in यम-यमी सूक्त (Rg. X. 10) Yama is shown to be protesting strongly against the advances or यमी for a sexual intercourse, intended for the procreation of human race, yet "the impression derived from that hymn is that inspite of the apparently immoral motif of incest, Yama and Yami were then actually regarded as the first parents of the

10. Ehni-'Der Mythus des yama', P. 62; see also J. Br. I. 28.
11. Indogermanischen Mythen.
12. See Macdonell, Ved. Myth. P. 326 H.
13. ZDM. G. IV.
14. P.A.O.S. 1891; Rel. Ind. P. 138 ff.
15. Rel. des Veda.
16. Festschrift fur K. Hoffman & Materialien zur Geschichte des Visions-literature.
17. B. C. Law Comm. Vol. P. 200.
18. Ibid. P. 200.

human race."[19] Gradually the hermaphrodite Yama gave place to a pair of twins who were regarded as the parents of mankind. According to him his hermaphrodite character is indicated by his name 'Yama' meaning a 'bisexual being.'

He has inspired Rev. H. Heras to reopen this issue of incest and procreation.[20]

Let us first have a look on the personality and charactor of Yama as actually depicted in the Vedic literature. Rg veda itself (X. 17. 1–2) has given us the back ground of his birth from Vivasvan, the Sungod and Saranyu, the daughter of Tvastar.

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीदं विश्व भुवनं समेति
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश ।
उपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्य कृत्वी सवर्णामदर्दुर्विवस्वते
उताश्विनावभरद्यत् तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः ॥

"Tvastar prepares the bridal of his daughter, hence the entire world assembles; but yama's mother, spouse of great Vivasvan, vanished as she was being carried to her dwelling. From mortals they (gods) hid the immortal lady, made one like her and gave her to Vivasvan Saranyu brought to him the Asvin brothers and deserted both the twinned pairs of children."

Based on these obscure hints in the Samhita Saunaka has given us a story which tells us that Yama and Yami were one of the twins, yama being the elder. The other twin pair begot on Saranyu by Vivasvan was Asvinau. Manu also was the son of Vivasvan but from the lady substitute for Saranyu. (Br. D.–VI. 162–VII–6). Here Saranyu herself is said to leave Vivasvan and substitute another lady in her place. Matsya Purana (11. 2. 4) has Samjuna as the name of the daughter of Tvastri (11. 3.) and the mother of Yama-Yami. See also R. g. IX. 113. 8; X. 14, 1; (=A. V. XVII. 1. 49); X. 14. 5.; 58. 1. ; 60.10) where yama is described as vaivasvata It is to be noted that Vivasvan and Saranyu both are described as immortals who brought forth both the pairs-Yama-Yami and Asviuau of whom As vinau, at least, are recognised as gods at all hands, even if we leave aside yama and yami for the present. Yama has been described as a mortal who was the first to have died and gone to the

19. Ibid. 195-196.
20. Journal of Indian History, Vol. XXXII, Pt. III, P. 309-317.

world beyond.[21] He was also the earthly king[22]. He chose death for the sake oi the gods[23] at the same time his birth has been declared to be deathless[24]. Hence it is quite possible that originally he was a human being, later raised to god-hood[25]. Ribhus were also men (मर्तासः) later raised to the position of gods[26]. Yama is not a king of the earth only[27] but rules over the heavens and the Pitriloke[28]. Because he is the king of this earth, it is essential for the sacrificer to ask his permission for Agni Cayana and Sacrifice on any piece of land, here[29]. It has been said that he was taken from this world to the heavens by the gods in exchange for Agni who was despatched to this world, There the Pitrs made him their king[30]. In that world yama is described as sitting under a shady tree laiden with foliage and drinking some with the gods, especially the king. Varuna[31]. As a king of heavens, he gathers hosts of man there[32] and bestows on them dwellings adomed with water and beams of light[33] after he recognizes them as his own men[34].

He has two watch dogs with four eyes. dark hue and distended mostrils, who guide the people to the pathway to the heaven[35]. These dogs have been variously interpreted by the Vedists as sun and moon[36], as constellations[37] as

21. A. V. XVIII. 3. 13. ('यमो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्') M. S. I. 5. 12. ('यमो वा अम्रियत')
22. T.S. II. 6.6.64.
23. R.g. X. 130.4.
24. R.g. I. 83·5.
25. See Narasimha Purana 13.32
26. R, G. I. 110·4
27. T. S. III. 4·5·1
28. R. V. IX. 113.8.X.14.1; 7; 15; A. V. XVIII. 1.49, 54; 60; 2.3 (=T. Ar. VI. 5.1);
29. T. S. V. 2.3.1; M. S. I. 6.12;
30. T.S. II. 6.6.4.
31. R. G. X. 135.1;
32. R. G. X. 14·1;
33. R. G. X. 14.9 (=A. V. XVIII. 1·55)
34. A. V. XVIII. 2.37.
35. R. g. X. 14.8-10.
36. Bloomfield, J.A.O.S. 1893, P. 163-172
37. Weber, Ind. Stud II P. 298

forms of yama and yamı[38] as morning and evening times[39], death demons[40] and Asvinau[41]. Yama carries a fetter (Padvisa)[42] with which he ties down the sinners. Agni is the messanger for yama as he is for other gods.[43] Although yama has been equated with death[44] yet death has been described as the messenger of yama[45]. Owls and pigeons are also regarded as the messengers of yama[46]. The messengers of yama and death have bendistinguished (नयनाभूत् मृत्युप्रदूता यमदूता— A.V.8-8-11. As we have seen above yama died as the first mortal, but he died for the gods and did not chose a life-eternal for the good of man.[47]

देवेभ्यः कमवृणीत भृत्युं प्रजायै कममृतं नावृणीत
वृहस्पतिं यज्ञमकृण्वत ऋषिं प्रियां यमस्तन्वं प्रारिरेचीत ॥
नुः (देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं प्रजायै किममृतं नावृणीत ।
बृहस्पतिर्यज्ञमतनुत ऋषिः प्रियां यमस्तन्वमारिरे च) (ऋ. वे. ।८।३।४)

This verse is quite obseure. Various commentators have offered various explanations.[48] Still we can be sure that yama gave up his own dear body for some cause of man-which we do not exactly know. But an advantage has arbitrarilly been taken of this obscurity and the 'self immolation' of yama has been interpreted to be for the sake of "procreation of human race" (प्रजायै), and this act of procreation is taken to be perpetrated by yama on none else than his real sister यमी, as 'hinted' in this यम यमी diologue in the R. g. veda (X. 10) "in which the Vedic-poet has tried to preach a serman on R.ta-moral law—but undoubtedly without success and there "seems" to be, therefore, no reason to doubt that the hymn contains... ...unmistakable traces... ...of the incestuous union.[49]

---

38. Bergaigm, La. Rel. Ved. I. P. 92-93.
39. Maxmuller, Lectures II, P. 595
40. Arbman, Rudra.
41. N. Aiyyangar, Indo-Aryan Mythology.
42. R.g.X. 97·16 (=A. V. VII. 117·2); A. V. VI. 96·2
43. R. g. X. 19.13; A. V. XVIII. 2·1; T. Ar. VI. 5.1;
44. A. V. VI. 26.3.
45. A.V. XVIII. 2.27
46. R. g. X. 165.4.5.
47. R. g. X. 13.4. cf. A. V. XVIII. 3.41
48. See Say, Udgitha, Griffith, Ludwig, Ehni, Ved-Mythus, P. 160-162
49. Dandekar, Loc. cit. P. 205

Let us study the relevant portions of the said hymn and test the reality of these assertions based on the purely subjective 'hints' and suppositions

The diologue opens with the request of यमी—"My friend, I would draw near to me in friendship, should he have gone even beyond the farthest ocean. That he begat a grandson to his sire on earth considering wisely the future days."[50]

There upon yama replies—"Thy friend loves not the friendship which renders her who is near in kindred as a stranger" (Her who is of the same form as one of different category Say.) Sons of the mighty Asura, the Heroes, supporters of heavens see far around them" Yami in support of her plea, points to the inner desire of the gods in this respcct—"In fact these immortals want this progeny of the only one mortal. May thy mind be set in mine; mayest thou enter my body as a procreating husband.[51] Yama firmly rejects this plea and asks her—"Shall we do now what we never did afortime, we who spake righteously now talk unrighteously ? Please note the words—"न यत चकृमा कद्धनूनम्" in order to forestall any suggestion that such was the custom among the ancient Aryans even of pre-vedic times as the hymn is taken to be far older than the R. g. Veda[52]

यमी in her intense passion for sexual intercourse tries to counter this agrument even by a falseanalogy—"Even in the god Tvastar, The Vivifier, taking all forms, the creater, made us consorts. None violates his holy ordinances; the heaven and earth know about this (fact) of ours." Yama snubs her as 'wanten woman' and rejects her advances firmly. But यमी still insists on enjoying the same bed with yama with whom she is in intense love and invites him to unite with her like the two wheels of a car (through the axle)[53]. Yama warns her that the ever awake gods are keeping watchful eyes on every act that they commit and tells her to go and seek some one else to unite like the wheels of a car[54]. यमी prays to सूर्य to bestow long life of yama and by implication takes full responsibility for any sin involved in the act upon herself. She also cites the example of nature where no such taboos are observed[55]. But yama firmly refuses to swerve

50. R. g. X. 10.1
51. R. g. X. 10·3
52. Rev. H. Heras, Journal of Indian History, XXXII P. 314.
53. R. g. X. 10·7
54. R. g. X. 10·8
55. R. g. X. 10·9

from the path of righteousness[56]. यमी entreats him again to hold her in close embrace[57]. Much has been made of the phrase "Kimu Svasa Yannirrti nigacchat" used here taking to mean "is she a sister if Destruction cometh (to her brother on account of her) on" utter extinction of human race (takes place)[58]. But she complaints of being 'anatha' in thc presence of her brother. She wants no "Calamity" to befal her brother too. To read more than this in this phrase is to give vent to too much of imagination.

Yama again refuses to oblige her[59]. यमी accuses him of being a heartless weakling[60], but Yama rejects her firmly and finally—"Embrace some one else Yami ? Let some one else enfold thee as the woodbine rings the tree. Win thou his heart, and let him (win) thy fancy; and he shall form with thee a blest alliance'[61].

Nothing could be more outspoken, unequivocal and explicit rejection of यमी is advances than these words of Yama. It is total and unambiguous. Hence it is perversity of facts and a figment of our own imagination to postulate and impase the act of cohabitation on Yama. The complaint of ambiguity[62] and the charge of insest[63] leveled against Yama do not stand the test of scrutiny. Yama, in his blatent refused to oblige यमी, has turned down he advances as sinful, unprecedented and immoral in the eyes of both god and man. Perhaps these critics expected the Vedid-poet to say in so many words, "Then, broken hearted and dismayed यमी went away schrieking and sobbing, threw herself in her bed and wept bitterly, cursing her moralistic and weakling brother of morbid mentality." Then only the drama would have been free from all ambiguity. No body will stand up and say that suggestiveness in literature is an innovation of the classical period or that it has been imported into this country by the literatores accompanying the army of Alexander of Mecedonia. It is very much there in the Rg

56. R. g. X. 10·10
57. R. g. X. 10·11
58. Griffith tr. and note; Heras. Loc. cit.
59, Rg. X. 10.12
60. Rg. X. 10·13
61. Rg. X. 10·14
62. Winternitz-H. I, Lit. I, p, 93, Cal. Univ. 2nd ed.
63. Dandekar, Loc. cit. Heras, Loc. cit. P. 309 ff; Macdonell, Ved. Myth. P. 330 (H.) Chaukhamba.

Veda But Bloomfield has thought it fit to make a jeering remark which sounds jarring to a discerning ear. He says ' We may imagine Yama finally saying, "Any how, don't let us beat the devil about the stump." Nothing could be more unjust to that embodiment of morality—Yama—than to let the imagination run riot in such an irresponsible manner.

The charge of "an attempt to clear Yama of the guilt of incest"[64] "and to make the ancient hymn of Yama and यमी a vehicle for a sarmon on Ria—moral law, but without success"[65] is absolutely untenable. As we have seen Yama's rejection of यमी's approaches is categorical, there is no proof of the involvement of Yama in any immoral act, hence there is no qestion of 'clearance' of any crime here.

There is only one case in the intire Vedic literature which can be called a case of incest, in which Prajapati falls in love with his own daughter, ushas or dyau, who tried to evade him by assuming the form of a doe and whom Prajapati followed in the form of deer. The gods became enraged over this heinous act of Prajapati and angry Rudra either aimed an arrow to pierce him or actually pierced him as a punishment[66]. The source of this legend lies in two obscure hymns of Rg. Veda itself[67] which may represent as has been explained, only a symbolic similitude[68] but the rage of the Gods and consequent piercing of his body by Rudra is significant from our point of view in this context. This shows very clearly that neither the gods nor the men of the vedic times could countenance such an outragious act even on the part of Prajapati and punished him appropriately. But the legend has come down to us in a more elaborate form thah hinted in the Rg. vəda and no attempt has been made to suppress or alter the facts as reported by tradition or to clear "Prajapati of his guilt". Neither have over ancient writers made any attempt to re-interpret the legend to turn it into a "moral sermon". A similar statement occurs in Br. Up.[69] where the lady (Satarupa as given by puranas and accepted by Shankara) complains of the unbecoming behaviour of Prajapati. No attempt has been made to alter the facts.

64. Ibid. P. 174
65. Dandekar, Ibid, P. 205
66. M. S. IV. 2·12; S. Br. 1·7·4 1; A. Br. III. 33; Panc. Br. VIII 2·10
67. Rg. X. 61. 5-7; II. 71·5
68. See Griffith on Rg. X. 61 5-7, note and Maxmuller N.A.S.L. P. 129,30: Muir O.S.T. Vol. IV. P. 4[illegible], 47
69. I. 4.3-4

and 'clear' Prajapati of his immoral act. There are scores of legends of gods' unbecoming deeds which have come down to us without any attempt at mitigating their guilt. Then how and why should they have chosen to clear a comparatively minor god like Yama of an immoral act in this case only where there is no proof of any immoral act and consequently no need 'to clear' him was required. Had there been any such thing in the so called 'original' legend, I am sure, it would have come down to us in its unmitigated and unmutilated form. When ever our ancient writers disapproved of anything unwanted, out of date or repugnant to society, they used to declare such actions ideas or institutions as 'kali varjya'. When sacrifies like As'vamedha, Gomedha and institutions like Niyoga, Sannyasa, or offering meat al Sraddha, became repugnant to society, they declared them out of date but never deleted altered or tempered with the texts. They openly believed in the dictum—"Yadyapi Sudham Loka Viruddham na karaniyam na caraniyam" and hence they prepared a long list of such institutions, rituals and performances which do not fit in the modern society[70].

Hence it is needless to speculate and imagine the ideas and institutions which never existed and for which no proof exists.

The protagonists of the incest theory have found a few pegs to hang it upon. They have tried to compare Yama with Ymir of Icelandic mythology, Yin and Yang of Chinese tradition, Matoome and Matoomyan of Basutes, Yin and Yimesh of Iranian mythology, who are supposed to have been brothers and sisters responsible for the procreation of human race[71].

My difficulty in not agreeing with these scholars is that in the absence of any proof of actnal incest on the part of Yama in the Rgveda, these comparisons have no meaning. It will be a denge principle to vouchsafe for the existance of every institution in every part of the world on account of its existance in one or even more regions. Iceland or Basutos have certainly nothing in common with India or China to merit comparison only in the field of incest or human procreation through it. Egyptians could marry even their mothers after the death of their fathers, and Iranians could marry their sisters, But such an institutions never existed in India. So far as human procreation is concerned, Maxmuller asserted long ago that "there is not a single word in the Veda pointing to Yama and Yami as the first couple of mortals, the Indian Adam and Eve ... ...if Yama had been the first created of men, surely, the vedic poets inspeak-

70. See the list in H.D.S. by P.V. Kane.

71. H. Heras, Loc. cit. P. 309-10; Dandekar, Loc. cit.

ing of him, could not have passed this over in silence."[72] And this assertion stands uncontradicted & true even today. Even if on the scanty basis of one doubtful utterance of Yami in a single passage of A. V. quoted above or even on the basis of Narasimha-Purana[73] of doubtful traditional veracity, we admit that Yama was a human being, where is the evidence even to suggest that he was the first progenitor of hnman race or that he committed incest for this laudable purpose on his real sister Yami. If we believe in the assertion of Purana that Yama attained Devatava later, we must also believe in the reason for such an attainment, that he did not cave into the immoral suggestions and advances of Yami and stuck to his guns firmly. Narasimha Purana (circa 400–500 A. D.)[74] has given us a detailed paraphrase of the vedie diologue[75]. which has been termed as samvada (13.6) Puratana Itihass (13·6) and Upakhyana (13·38,[76]. Purana follows the Rgvedic version very closely and declares the very idea of incest not only as Mahapataka. but 'Pasunam dharma' and 'Lokavidvista dharma' (13·19) which corroborates the conclusion reached by Yama in the diologue; and that there has been no incest.

The protagonists of the incest must furnish answer to the question whether there were no human beings before 'the first-human being', Yama, procreated the human race.' If so, who could the 'other' whom Yami could embrace for her satisfaction. Yama told her—"Anyam usu tyam yamyamya u tvam Parisvajate", If there wera other hvman beings also before the so called incest, then do they not find any contradiction in their assertion that Yama was first human being? However if Yama was the first human being the real credit of creating the human specie must go to Vivasvan and Saranyu. Vivasvan is said to have created Manu, the royal seer also, of course, on savarna substitute for Saranyu.[77] That human race was already, created is shown by the cradition which considers Vaivasvata Manu as the seventh in order. Svayambhuva Manu is said to have created the human race[78]. Dr. Dandekar thinks that Manu was later substituted for

---

72. Lectures on the science of Language, II series, P. 521.
7 . Nar. Pul 13.36
74. R. C. Hazrastudies in the upapuranas, P. 242
75. Ch. 1?, 1-32
76. See 'Yama-Yami' Dilogue by S. G. Kantawala, JOIBVO IXV, 509-5
77. Br. D. VII. 2; (Rajarisi); R. V. X. 17·2
78. According to M. Smrti Vaivasvata Manu is the VII Manu (I. 162) see also M. Bharata I. 75·12 c. f. Vedic Index I. P. 13. according to it Vivasvata Manu is mythical.

Yama as the progenitor of human race ! But he has cited no evidence for this view.

He has also a serted that Yama was a harmephrodite perhaps on the authority of Macdonell[79] who has taken his clue from Schermrn[80] without any corobo-rative evidence from Rgveda or any other vedic-text. He has discu·sed the formation and meaning of the word Yama in this context and has come to the conclusion that this word can not be formed from Yam—'to restrain', due to the difficulties of accentuation. According to him Yama means 'bisexual being' which cannot be drive from Yam—'to restrain', on account of the difficulties of Vedic accentuation w ich it would create[81]. When we impose a peculiar meaning of our own on a world, never used in the language the difficulties of grammer and semantics are very natural; otherwise there are only two words 'Yam and Yama' with various shades of meanings used in the vedic and post-vedic literature. And both of them can be formed according to the rules of Panini by adding either of the suffixes—'ac'[82] or—'ap'[83] or=ghani[84].

Now let us turn to the arguments and conclusions of Rev. H. Heras. He finds this pattern of human generation in Rg. X. 72. 4—5 and refers to "other parallelisms o Yama and Yami to be seen in the Iranian mythology" by Carnoy P. 312[85]. This hymn presents a symbolic riddle which has not yet been finally solved but there is no doubt that these verses can in no way be regarded as giving us a pattern of human generation and have absolutely no relevance in the present context. Another example of procreation by the father on his daughter is that of Manu in Rg. X. 86. 23. It reads—

"Par'sur ha nama manavi sakam sasuva vimsatim." Bhadram bhala tyasya abhudi yasya udaramamayad... ...

'Daughter of Manu, Parsu, bare a score of children at a birth. Her portion verily was bliss although her burthen caused her grief[86]. There is nothing in this verse to show that the score of children born to her were those of Manu. But Rev. Heras has tried to implant them on Manu by adding a a mischeivous 'him' after 'bare'[87]. This parsu has never been heard of again[88]. So there is no incest here.

Srimadbhagavata[89] tells us that Brahma divided his ownself into two—Manv Svayambhuva and Satarupa—from whom all mankind is said to have sprung. In Vishnu Purana (IV.) Vaivasvata Manu is said to have performed a rite for getting a son but due to a mistake on the part of Hotar, a daughter named Ila was born. By the grace of the god—Mitra and Varuna—she turned into a boy. Sudyumua Maitreya, who, on account of a course of Isvara (Mahadeva) was

79. Ved. Myth. P. 328 (H.)
80. Visionsliteratur P. 142, n-1.
81. Ibid P. 209
82. Pa. III. 1.134
83. Pa. III. 3·63
84. Pa. III. 3·18
85. J. I. H. Ibid. P. 314; see Nir. XI. 23 on this above him.
86. Say. and Vankata have interpreted it differently.
87. Ibid. P. 312
88. See Griffith's note on it.
89. III, 12, . 1-56

again transformed into a girl and later became a wife of Budha and mother of Pururavas. Rev. Heras has taken this Manu as the hero of the flood legend who is supposed to have united with his daughter, Ida[90], to procreate the mankind after that great catastrophy[91].

But Rev. Heras has overlooked that great fact that this Ida is only a symbolical daughter of Manu as he was the first to 'seek' and introduce 'her' in the sacrificial ritual. Ida is only a holy libotion offered between the Prayaja and Anuyajya and consists of four preparations of milk (ghrta, dadhi, mastu and Amiksa or clarified butter, curd, whey and coogulated milk). I cannot believe that Rev. Heras did not know it, but has willfully ignored it as it suited his thesis.

Manu is told by her—"I am the blessing (Benediction); make use of me at the sacrifice... ...thou will become rich in offspring and cattle." Accordingly Manu made use of her as benediction in the middle of the sacrifice... ...[92]." "Through her he generated the race which is this race of Manu and whetever blessing he invoked through her, all that was granted to him.[93]

He must be a very ignorant person who will consider this Ida as the daughter of Manu in the real sense of the term and sence a case of incest here. Surely as asserted by Ida, Manu must have got cattle also 'through' her, though not mentioned there in so many words. Would Rev.Heras., then, propound the theory that 'cattle' where also procreated by Manu on his only daughter Ida? Rev.Heras. has tried to read in M. S. I. 5. 12 also the relation of both the brother and sister and husband and wife between Yama and Yami where there is no such reference at all.

'यमो वा अम्रियत, ते देवा यम्या यममपाब्रुवँस्ताँ यबपृच्छन्त्साब्रवीदद्यामृतेति । तेऽब्रुवन् न इयमिममित्थं मृष्यते, रात्रीं सृजावहा इत्यहर्वनि तर्ह्यासीन्न रात्रिस्ते रात्रिमसृजन्त, ततः श्वस्तनम भवन् । ततः सा तममध्यत, तस्मादाहुरहोरात्राणि वादाघं मर्षयन्तोति ।'

'Yama died; These gods spelled away yama from yami. They, when asked her, she said, "He died today." They said, "She does not forget him in this way, let us creat night," as there was only day at that time, no night. They created night, then it became 'tomorrow'; then she forgot him. Therefore they say, "It is the day and nights which make (me) forget all suffering.".

None of these examples correspond to our hymn under discussion, because in none of these legends the parties are related to each other as brother and sister or as a father and daughter, in the same sence as we understand it. The creations of Brahma or Purusa have been termed in the Puranas as Manasi Srsti. At the best these legends somewhat correspond to the Biblical accounts in the genesis where god is stated to have produced Eve from the rib or the side of Adam. Theirs are not the regular births like that of Yama and Yami from the union of a father and a mother. The birth of Aditi from Daksa and that of Daksa from Aditi cannot be explained away as a case of incest.

Therefore the idea of incest in the Yama-Yami diologue is a myth and that also created subjectively in tne mind of some scholars in durlng the last one century.

---

90. S. Br. I. 8·1·7-11
91. Ibid. P. 311
92. S. Br. I. 8·1·9
93. Ibid 10.

उर्वशी-पुरूरवसोराख्यानम्

सुविदितम् एवेदं समेषां संस्कृत-साहित्य-जुषां विदुषां यत् कालिदासेन स्व-रचितस्य विक्रमोर्वशीयस्य रूपकस्य कथावस्तु पद्मपुराणस्थस्वर्गखण्डाद् वा[1] मत्स्यपुराणाद् वाऽऽसादितम्[2]। कथेयम् अन्यत्र विष्णुभागवत-हरिवंशाऽऽदि-पुराणेष्व् अपि स्तोकम् अन्तरम् आश्रित्योपवर्णिता, कथासरित्सागरेऽपि च प्रकाराऽन्तरेण दर्शिताऽस्ति। परं सर्वेषाम् अमीषां कथा-वस्तूनां मूलं शतपथ-ब्राह्मणे विद्यते, तस्याऽपि च मूलम् ऋग्वेदे परिनिष्ठितम् अस्तीति नाऽविदितं वेद-विद्या-विदाम्। यथाप्राप्तम् इदम् आख्यानम् आत्म-रूप-माधुर्येणाऽधरीकृत-ललना-कुलायाः स्व-विरह-व्याकुलीकृत-निखिल-सुराऽसुर-निकराया विबुध-वाराङ्गनाया उर्वश्या दिग्-दिगन्त-व्याप्त-यशो-धवलिम्ना निराकृतराजहंसेन चन्द्रकुलाऽवतंसेन परम-पराक्रमाऽऽक्रान्त-त्रिलोकेनाऽवनि-पतिना पुरूरवसा समयपूर्वकं कृतम् उद्वाहम् आश्रित्योज्जृम्भते। ऋग्वेदेऽप्य् अनयोः प्रणयम् अवलम्ब्य वर्धते कथा-सूत्रम्-इदम्। तत्र विरह-दुःख-दाहदह्यमान-मानसः पुरूरवा ऊढपूर्वां परं परित्यज्य निर्गतां स्वां पत्नीम् उर्वशीम् अकस्माद् अवलोक्य तां प्रतिनिवर्तयितुम् अनुरुणद्धि। परम् अकरुण-हृदया सा नाऽस्मिन्न् अनुकम्पते। अपि त्व् एनं पुरूरवसं समय-भङ्गाऽभियोगेनाऽभियुज्य—

'पुरूरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना वात इवाहमस्मि'।[3]

इति कथयन्त्य् आत्मनो दुरापत्वं च प्रतिपादयति। पुनः प्रार्थ्यमाना च 'परेह्यस्तं नहि मूरमापः'[4] इत्येवं साधिक्षेपम् उपेक्षते। पुनर् अपि प्रतिनिवृत्तये प्रचोदिता सामर्षं तम् अधिक्षिप्य 'न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता'[5] इत्य् उपदिशन्ती स्वर्-लोकम् उद्गच्छति।

उर्वश्यां पुरूरवसः पुत्रस्य जन्म-विषयेऽपि संकेतोऽत्र प्राप्यते। वाजसनेयि-ब्राह्मणे चैतद्-विषयकाः संकेता विस्तरेण द्रष्टुं शक्यन्ते। तथाहि पुरूरवसम् अवलोक्य मनसिज-वशीकृत-मानसोर्वशी 'प्रतिदिवसं त्रिवारम् आत्मकाम-वासनां ममेच्छानुरोधात् पूरयितुम् अर्हसि, किन्तु तल्पाऽतिरिक्तं नग्नं त्वां दृष्ट्वा गन्धर्वेषु प्रतिनिवर्तिष्ये' इति समयं कृत्वा तत्-सविधे चिरम् उषित्वा गर्भम् अधत्त इत्येवं तत्र संकेतितम् अस्ति।

मर्त्यलोके तस्याश् चिरप्रवासाद् उद्विग्न-मनसां गन्धर्वाणां मनसि तत्-प्रत्यावृत्ति-विषये चिन्तोदिता। ततस् ताम् आनेतुं ते तत् पर्यङ्कोपनिबद्धयोर् ऐडकयोर् एकतरं चोरयामासुः। गन्धर्वैर् अपह्रियमाणं पुत्रकम् अवलोक्योद्विग्नमना देवाङ्गना राजानं 'वीर-शून्योऽयम् उद्देशः प्रतीयते यतो दस्यवो मे पुत्रकम् अपहरन्ती'ति साधिक्षेपम् अवोचत्। अत्राऽन्तरे ते द्वितीयम् ऐकडम् अपि स्तेनयामासुः। तद्

१. डा० हरदत्तशर्मा, पद्मपुराण एण्ड कालिदास।
२. आठल्ये तथा भावे, विक्रमोर्वशीयम्, भूमिका, पृ० १६.
३. ऋग्वेद, १०,१५, २.　　४. तत्रैव, १०,९५,१३.
५. ऋग्वेदः १०,९५,१५.

दृष्ट्वोर्वशी पुनर् अपि तथैवैनम् उत्साहितवती। पुरूरवाश् च तस्या ईदृशैर् अधिक्षेप-वचनैर् अमर्षाऽऽपूरितचित्तः कार्यम् अकार्यम् अविचार्य समय-वचनं चाऽपि विस्मृत्याऽपरिहितवसन एव तल्पाद् अनल्पोत्साहेनोत्प्लुत्य दस्यु-वर्गोत्सादनार्थम् उच्चचाल। अवसरम् ईक्षमाणा गन्धर्वा नग्नं तं ज्ञात्वा विद्युतं जनयाञ्चक्रुः। चञ्चलाऽऽलोकाऽऽलोकिते राजप्रासादे राजानं तथाविधं दिग्वसनम् अवलोक्य समय-वचनाऽनुरोधात् तिरोबभूवोर्वशी। तदारभ्य प्रियतमा-विरह-परितापम् असहमानो दूयमान-मानसो विक्षिप्त इवेतस्ततः परिभ्रमन् पुरूरवाः कुरुक्षेत्रम् आससाद। तत्रोर्वशीं द्रष्टुकामो भ्रमणं कुर्वन् एकदाऽन्यतः प्लक्षाऽऽख्यायाः सरस्याः तट-प्रदेशं वव्राज, तत्र च सर्वा अप्सरस आतय[६]-रूपेण जलक्रीडां कृतवत्यः। उर्वश्य् अपि ताभिः साकम् आसीत्। तया च तत्र परिभ्रमन् स विलोकितः, स्व-सख्यश् च प्रतिबोधिताः। अयम् एव स मनुष्यो येन साकम् अहम् एतावन्तं कालम् अवात्सम्। सख्यस् तस्या वचनं श्रुत्वा 'अस्माभिः पक्षिरूपं विहाय स्वकीयं वास्तविकं रूपम् अङ्गीकरणीयम्' इति ऊचुः। ऐकमत्यं चाऽङ्गीकृत्य पुरूरवसः समक्षम् एव पक्षिरूपं विहाय स्वकीयेन रूपेण प्रादुर्बभूवुः। पुरुरवा अप्सरसां गण-मध्ये ताम् अभिलक्ष्य पुनः ऋग्वेदोक्त-नयेन निवर्तयितुं आयासीत्। परं तया स निराकृत एव। एवं तया निराकृतोऽसौ भृशं दुःखितोऽभवत्। दुःखिनं तं विलोक्योर्वशी 'पुरूरवो मा मृथा' इत्यादिकं वाक्यं पुरूरवसं प्रत्य् अकथयत्। इत्थम् उक्ति-प्रत्युक्तिभ्यां विलीन-हृदयोर्वशी 'संवत्सरस्याऽन्तिमायां रात्रौ त्वं ममाऽन्तिके शयनं करिष्यसि। तथा सति ते मयि पुत्रो भविष्यती'ति विज्ञाप्य तिरोहिता। यथासमयं च राजा तत्राऽऽगच्छत्। आगतं च तं प्राप्योर्वशी 'प्रातर् गन्धर्वास् तुभ्यं वरम् एकं दास्यन्ती'ति व्यज्ञापयत्। परं पुरूरवा आह—तम् उपायम् अहं न जानामि येन त्वत्-प्राप्तिर् भवेद्, अतस् तम् उपायं त्वम् एव कथयेति। सा च त राजानं 'हे गन्धर्वाः! युष्माकं मध्येऽहम् एको भवानीत्येवं प्रार्थय गन्धर्वान् प्रति' इत्येवं प्रार्थनीयं वरम् उपदिश्य निर्जगाम।। तेनाऽपि च तथैव प्रार्थ्यमाना गन्धर्वास् तस्मै स्थाल्याम् अग्निं स्थापयित्वा प्रददुः। 'अनेनाऽग्निनेष्ट्वाऽस्माकम् एकस् त्वं भविष्यसी'ति च तं प्रत्य् उक्तवन्तः। सोऽपि गन्धर्वोक्तेन विधिनेष्ट्वा गन्धर्वेष्व् एको बभूव, पुत्रं च लेभे।[७]

शौनकीय-बृहद्देवतायाम् इयं कथा रूपांतरं गता। उर्वशी-पुरूरवसोर् ऊक्त-प्रकारेण सम्पन्ने विवाह-सम्बन्धे ताभ्याम् असूयन् आखण्डलम् तादृश-स्नेह-सन्दानं खण्डशः शकलीकर्तुम् अशिषत् पार्श्ववर्ति वज्रम्। तस्याऽपरिमेय-माया-प्रभाव-जनितोन्माद-वशाद् इतस् ततः परिभ्रमन् एकदा स मनो-मुग्ध-कारिणीं सखीभिः सह वारि-विहारं कुर्वतीम् उर्वशीम् अपश्यत्। किन्तु पुनः पुनः प्रार्थ्यमानाऽपि सा निवर्तितुं न प्रावर्तत। तं प्रति च 'अप्राप्याऽहं त्वयाद्येह स्वर्गे प्राप्स्यसि मां पुनः' इत्य् अवोचत्।

महाभारते तु कथेयम् अन्यथाऽनुसन्धेया। बुधाद् इलायां जातो वीर्यमदान्वितः पुरूरवा ब्राह्मणैर् विग्रहं कृत्वा तेषां वनरत्नादिकं बलाद् अपाहरत्। सनत्कुमारेणाऽनुशिष्टोऽप्य् असाव् उत्पथम् अभिनिविशमानो महर्षि-शाप-वशाद् विनाशम् उपगतो गन्धर्वेषु विद्यमानान् अग्नीन् उर्वश्या सहितान् असाव् एवमं लोकम् आनयत्। तद्-अनन्तरम् उर्वश्यां तस्य षट् पुत्रा अजायन्त।[८]

---

६. आतयः=जलचरपक्षि-विशेषस्यैषा संज्ञा।

७. श. ब्रा० ११, ५, १।

हरिवंश-पुराणे च—

तेजस्वी दानशीलश्च यज्वा विपुलदक्षिणः ।
ब्रह्मवादी पराक्रान्तः शत्रुभिर्युधि दुर्जयः ।
सत्यवादी पुण्यमतिः काम्यः संवृतमैथुनः ।
अतीव त्रिषु लोकेषु यशसाऽप्रतिमस्तथा[९] ॥

इत्येवं पुरूरवसश् चरित्रम् अन्यथैव चित्रितम् अस्ति, यशसा च तस्य समस्तम् अपि जगद् आच्छादितं वर्णितं विद्यते । कथा-सूत्रं च तत्रत्यम् इत्थम्—ब्रह्म-शाप-वशाद् गंधर्व-कन्योर्वशी मर्त्यलोकम् आसाद्य पुरूरवसोऽभ्याशम् उपागत्य शतपथब्राह्मणोक्त-प्रतिज्ञाऽनुरूपं समयम् अनुष्ठाय तं वरयामास । उर्वशीम् उपयम्याऽसौ तया सह नाना-कुसुम-कलाप-सुशोभितेषु नयनाऽभिराम-रमणीयवन-पर्वत-प्रदेशेष्व् अमन्दम् आनन्दं कामसुखं चाऽनुभवन्न् एकोनषष्टि-वर्षाणि यापयामास । अस्मिन्न् अन्तरे स तस्यां सप्त सूनून् अजनयत् । ततो ब्राह्मणोक्तनयेनोर्वशी राजानम् उज्झित्वोज्जगाम । मन्मथोन्माद-मथिताऽन्तस्तलोऽप्सरोमार्गण-व्यग्रः पृथिवीं परिभ्रमन् स कुरुक्षेत्रे 'प्लक्षतीर्थे' हैमवत्यां पुष्करिण्याम् अन्याभिर् अप्सरोभिर् वारिविहारं कुर्वतीं ताम् अपश्यत् । ततो पुरूरवसा प्रार्थ्यमाना सा 'एकां रात्रिं मया सह निवत्स्यसी'त्य् उवाच । तथाहि—

उर्वशी चाऽब्रवीदेवं सगर्भाऽहं त्वया प्रभो ।
संवत्सरात्कुमारास्ते भविष्यन्ति न संशयः ।
निशामेकाञ्च नृपते निवत्स्यसि मया सह[१०] ॥ इति ।

शिष्टा कथा ब्राह्मणोक्ताम् कथाम् एवाऽनुसरति । महाभारते तयोः षडेवाऽऽत्मजा उल्लिखिताः । तेभ्यो व्यतिरिक्तो विश्वावसुर् अत्रोपवर्णितः । शतायुर् इत्यस्य स्थाने च श्रुतायुर् लिखितः।

षड्गुरुशिष्येण तु वेदार्थ-दीपिकायाम्—एकदा दीक्षितयोर् मित्रावरुणयोर् दिव्यरूपाऽन्विताम् उर्वशीम् उद्वीक्ष्याऽस्खलद् वीर्यम् । निरापराधाऽपि ताभ्यां शप्तोर्वशी मर्त्यलोकम् इयाय । अतः सा चत्वारि वर्षाणि पुरूरवसश् चाऽन्तिक उवास, तद्-अनऽतरं चोक्तरीत्या परित्यज्यैनं परावव‍ृते ।

विरह-विह्वलस् तद्-अन्वेषण-रतो राजा मानसस्य तीरेऽप्सरोभिः साकं विचरन्तीम् एनाम् उद्वीक्ष्य कातरो भूत्वाऽऽत्म-निवेदनम् अकरोत् । परं सा तथा कर्तुं नोद्यताऽभूद्, अपितु 'इतो व्रज' इति च तं प्रत्य् उवाचेत्थंनिरूपिता कथेयम् ।

अत्र गन्धर्वाणां स्थाने देवैर् उरणक-द्वयम् अपह्रियत इति विशेषो द्रष्टव्यः ।

मत्स्यपुराणे तु विक्रान्तो यशस्वी राजा पुरूरवाः प्रतिदिनम् इन्द्रं द्रष्टुं याति । एकदा विहायसा रथेन गच्छन् असौ केशिना दैत्येन सचित्रलेखाम् उर्वशीम् अपह्रियमाणाम् अपश्यत् । दानवेन्द्रम्

८. महाभारतम् आदिपर्व, ७५, १८-२५ ।
९. हरिवंशपुराणम्, २६, १-३ । १०. तत्रैव, २६, ३६, ३७ ।

अवजित्याऽसाव् इन्द्रायोर्वशीम् अर्पयित्वेन्द्रस्य सख्यम् अवापाऽनेन प्रियकर्मणा। एकदा भरतेन लक्ष्मी-स्वयंवराऽऽख्यरूपकम् अभिनयार्थं प्रवर्तितम्। तत्र नृत्यन्त्य् उर्वशी पुरूरवसम् अवलोक्य कुसुमशर-शर-प्रहार-पीडिता भरतेनाऽऽदिष्टम् अभिनयं विस्मृत्य नृत्ये स्खलनम् अकरोत्, तां तथा दृष्ट्वा तस्याश् च कामोन्माद-जनित-प्रमादम् असहमानो भरतः 'पञ्चपञ्चाशद् अब्दानि भूतले लता भूत्वाऽस्य वियोगम् अनुभविष्यसि पुरूरवाश् च पिशाचत्वं गमिष्यतीति शापम् अदात्। अनेन व्यतिकरेणोर्वशी-पुरूरवसोर् मिथः संयोगाऽनन्तरं दीर्घ-कालिको वियोगोऽजायत। तयोर् अष्टौ पुत्राश् चोदपद्यन्तेति कथा-सन्दर्भश् च वर्णितोऽस्ति।

भागवते प्रकाराऽन्तरेणोपक्रान्तेयं कथा शतपथब्राह्मणोक्त-नयेन चाऽवसीयते। पुरूरवसो रूपौदार्य-शीलैश्वर्य-विक्रमाऽऽदिगुणान् नारदेनेन्द्र-भवने जेगीयमानान् निशम्य स्मर-शराऽऽर्दितोर्वशी मित्रा-वरुणयोः शापान् मर्त्यलोकम् आसाद्य नृपाऽन्तिकम् उपातिष्ठत। पूर्वोक्तविधिना च परस्परं समयं विधाय परिणीय च तां पुरूरवाः—

रममाणस्तया देव्या पद्मकिञ्जल्कगन्धया।
तन्मुखामोदमुषितो मुमुदेऽहर्गणान् बहून्॥[11]

इति वचनात् तया सह रममाणो बहुसमयम् अनैषीत्। तत उर्वशीम् इन्द्र-लोकेऽनवलोकयन् महेन्द्रो गन्धर्वास् ताम् आनेतुम् अचोदयत्। ब्राह्मणोक्त-प्रकारेण निर्गतायाम् उर्वश्याम् उन्मत्त इव समन्तात् परिभ्रमन् विभ्रान्त-मनाः पुरूरवाः कदाचित् कुरुक्षेत्रे सरस्वती-नद्यां पञ्चभिः सखीभिर् विहरन्तीम् अन्तर्वत्नीम् उर्वशीम् उपालक्ष्यैनाम् आत्म-निवेदन-पूर्वकम् आनेतुम् अयतत। परम् उर्वशी तस्य निवेदनम् अस्वीकृत्योवाच—

क्वापि सख्यं न वै स्त्रीणां वृकाणां हृदयं यथा।
स्त्रियो ह्यकरुणाः क्रूरा दुर्मर्षाः प्रियसाहसाः॥
घ्नन्त्यल्पार्थेऽपि विस्रब्धं पतिं भ्रातरमप्युत।
विधायालीक-विश्रम्भमज्ञेषु त्यक्तसौहृदाः।
नवं नवमभीप्सन्त्यः पुंश्चल्यः स्वैरवृत्तयः॥[12]

इति ब्राह्मणोक्त-नयेनोपस्तुतेभ्यो गन्धर्वेभ्यो प्राप्ताम् अग्नि-स्थालीम् एव मोहवशाद् उर्वशीं मन्यमानस् ताम् आदाय अटवीतोऽटवीं परिभ्रमन्न् असौ कालान्तरे प्रबोधम् उपागम्याग्नि-स्थालीम् अरण्ये परित्यज्योर्वशीम् आध्यायन् स्वगृहे चिरम् उवास। त्रेतायां सम्प्रवृत्तायाम् एतस्य मनसि त्रयी प्रादुरभूत्। स पुनस्तत्रैवाऽगाद् यत्र पुराऽग्नेः स्थालीम् अक्षिपत्। तत्र शमी-गर्भम् अश्वत्थम् एकम् उपलभ्याऽस्माद् अरणी-द्वयं सम्पाद्योर्वशीलोककाम्यया मन्थनेनाऽग्नि-त्रयम् उत्पाद्य गन्धर्व-लोकम् अयासीत्।

सेयं कथा गृहीताऽन्यथा कथासरित्सागरे सद्भिरेव सरसताम् उपैति। नन्दन-वने विहरन्तं परम-

११. भागवतपुराणम्, ९, १४, २५।

१२. भागवत०, ९, १४, ३६-३८।

वैष्णवं पुरूरवसम् उद्वीक्ष्योत्कण्ठितोर्वशी काम-परवशताम् उपागमत् । पुरूरवा अपि तद्-अङ्ग-लावण्येन वन्य-करीव करेणु-गन्धेनाऽऽकृष्यमाणऽनङ्ग-शर-शरण्यताम् उपेत्याऽमराङ्गनाऽङ्ग-परिष्वङ्गाऽर्थम् उत्सुकीभूयाऽऽङ्ग्ष्व् अङ्गार-दाहम् अन्वभूत् । तस्येदृशीम् अवस्थां विलोक्य दर्शनार्थम् उपागत-नारद-मुखेनेन्द्रम् उर्वशीम् ऐलायाऽर्पयितुम् आज्ञापयामास हरिः । नारदः पुरूरवसा सहेन्द्रम् उपागत्योर्वशीम् अस्मै दापयामास । दिव्याङ्गनाम् आदाय मर्त्यलोकम् आससादाऽमरालयात् पृथिवी-पतिः । एकदा दानवैः सह सञ्जाते सग्राम-संरम्भे साहाय्यार्थं समाहूतः पुरूरवाः स्वर् लोकम् अगात् । कदाचित् तत्र संप्रवृत्ते नृत्योत्सवे स्खलिताऽभिनयां रम्भाम् अवलोक्योपाहसन् नराधिपः । तद्-विषये सविशेषम् अनुयुक्तः पुरूरवाः प्रत्यवोचत् । 'जानेऽहमुर्वशीसंगात्तद्वेत्ति न तुम्बुरुर्' इति । तत्रैव सन्निहितम् तुम्बुरुर् ईदृशीम् अयश-स्करीम् अखर्व-गर्वोक्तिम् आकर्ण्य 'उर्वश्यास्ते वियोगः स्यादाकृष्णाराधनाद् इति' शापम् अस्माय् आदिशत् । ततोऽकस्माद् एवोर्वशी गन्धर्वैर् अपहृता । शाप-दोष-जन्यम् इमम् अशनि-पातम् इव विपत्-सम्पातम् अवबुध्य राजा बद्रिकाऽऽश्रमे कृतेनोग्रतपसा हरिम् आराध्य तत्-प्रसादेनोर्वशीम् आसाद्य तया सह चिराय रममाणः पृथिव्याम् उवास ।[१३]

एवं विविधं परिवर्तनम् अङ्गीकुर्वाणा नाना-रूपधरेयं कथा कालिदासस्य कला कृति-कोविदं करम् आकलय्य रूपक-रूपेण रुपान्तरम् आसाद्य सहृदयानां हृदयान्य् आवर्जयति । कविकुल-गुरु-कालिदासेन कथावस्त्व् इदं कुत आसादितम् अस्मिन् विषये सन्ति विदुषां विप्रत्तिपत्तयः । तथाहि—केचन पद्मपुराणम् आश्रित्य विक्रमोर्वशीयं प्रणिनायेति मन्वते ।[१४] अपरे मत्स्य-पुराणम् एवाऽस्य त्रोटकस्याऽऽधार-भित्तिर् अस्तीति समामनन्ति ।[१५] किन्तु मत्स्यपुराणोक्तं कथास्वरूपं स्वतन्त्रं वा कालिदास-प्रतिपादित-कथानकाऽऽश्रितम् एव वेति पुराणनिर्माण-काल-निर्णयाऽभावे निश्चेतुम् अशक्यम् ।[१६] विष्णु-पुराण एवाऽस्य रूपकस्य मूल-रूपम् अन्वेषणीयम् इति च परे गवेषणा-विशारदा अभ्युपगच्छन्ति ।[१७]

वस्तुतो यत्किञ्चिद् अपि कथावस्तु कालिदासेन स्वीकृतं तद् आत्म-सात् कृत्वा रूपकेऽस्मिन् सर्वथाऽभिनव-रूपेणोपबृंहितम् इत्य् आलोचना-कृद्भिर् ऐकमत्येन स्वीक्रियते । तथाहि—

दानवेन्द्रात् केशिनश् चित्रलेखा-द्वितीयाम् उर्वशीम् उद्धृत्याऽप्सरोगणं चित्ररथेन सहैवेन्द्र-सकाशं प्रेषयति पुरूरवा न तु पुराणोक्त-दिशा स्वयं प्रापयति, मदन-बाण-हतस्य पुरूरवसः कामयमानाऽवस्थाया वक्ष्यमाणत्वात् । विटपलग्नैकावली-प्रसङ्गश् च शाकुन्तलोक्तेन तत् सन्निभेन प्रसङ्गेन संवदति ।[१८]

---

१३. कथासरित्-सागर, ३, ३, ४-३० ।

१४. डा० हरदत्त शर्मा, (पद्मपुराण एण्ड कालिदास); विण्टरनित्स, हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट्रेचर, भा० १, पृ० ५४ टि० १) ।

१५. आंठल्ये तथा भावे, विक्रमोर्वशीयस्य भूमिका, पृ० १६ ।

१६. द्र० सु० क० दे० (हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर); दासगुप्त सं०, भा० १, पृ० १३८ टि० २ ।

१७. सु० कु० दे० (हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर) ।

१८. तु० अभिज्ञानशाकुन्तलम्, २, २३; विक्र०, १, १५, तः उत्तरम् ।

रूपक-वस्तु-विकासाऽर्थम् औशीनरी-चरित्र-चित्रणम् अपि कालिदासोपज्ञम् एव । निपुणिका-नैपुण्येन विदूषकात् प्रणय-रहस्योद्भेदन-विधिर् अपि कवि-कल्पना-प्रसूतः । विदूषक-सकाशात् परिभ्रष्टम् अकस्माद् देवी-हस्तम् उपागतम् उर्वशी-प्रेषित-प्रणय-पत्रम् पुरूरवसो लज्जानिमित्तम् आपद्यते । एतेन व्यतिकरेणैतस्याऽवदातं चरित्रम् अन्तःपुरेषु दाक्षिण्यातिरेकश् च प्रेक्षावताम् अक्षिगोचरताम् आयाति । मणि-हर्म्य-दृश्यम् अपि सर्वेषाम् आमोदाय कल्पते । लक्ष्मी-स्वयंवराऽवसरे कालिदासेन पुरूरवसः स्वर्गे सान्निध्यम् आवश्यकम् इति परिहृतम् । तस्मिन्न् अवसरे लक्ष्मी-भूमिकायां वर्तमानोर्वशी वारुणी-भूमिकायां वर्तमानया मेनकया पृष्टा 'सखि ! समागता एते त्रैलोक्यसुपुरुषाः सकेशवा लोकपालाः एतस्मिंस् ते भावाऽभिनिवेश इति ।......ततस् तया पुरुषोत्तम इति भवितव्ये पुरूरवसीति निर्गता वाणी'[१९] अस्माद् विस्खलनाद् उपाध्यायेन भरत-मुनिना 'येन ममोपदेशस् त्वया लङ्घितस् तेन न ते दिव्यं स्थानं भविष्यती'ति सा शापाऽऽस्पदीकृता । पुराणाऽपेक्षया शापाऽऽदेशोऽप्य् अत्र बलवत्तरं कारणम् आवहति, प्रसङ्ग-संगतिं चासज्जततिराम् प्रेक्षणाऽवसाने पश्चात्तापेन लज्जाऽवनत-मुखीम् उर्वशीम् अव-लोक्या-ऽनुकम्पा-कातरीभूतो महेन्द्रस् ताम् अवोचत् 'यस्मिन् बद्धभावाऽसि तस्य मे रणसहायस्य राजर्षेः प्रियम् अत्र करणीयम् । सा त्वं यथाकामं पुरूरवसम् उपतिष्ठस्व यावत् स त्वयि दृष्ट-सन्तानो भवेद्'[२०] इति । महेन्द्रस्याऽयं शापस् तस्याः परमोपकाराय कल्पते; परम्परा-प्राप्तम् अश्लीलत्वम् अपाकृत्य कथाप्रसंगे रमणीयताम् आपाद-यति च । 'त्रिः स्म माह्नः श्नथयो वैतसेन'[२१] इति वेदोक्तस्य विचित्रस्य समयस्य स्थाने महेन्द्रेणाऽभिहितस्य याथाकाम्यस्य वरीयस्त्वम् अत्राऽऽकलनीयम् । शाकुन्तल इवाऽत्राऽपि शापो नागस्कृतो नित्य-निग्रहायाऽपितून्मार्गात् सन्मार्गे विनिवेशाय कल्प्यते । चतुर्थेऽङ्क उर्वश्या लता-रूपेण परिणतिम् उपपादयितुम् उदयवती-प्रसंगोऽपि कवेर् नाट्य-नैपुण्यम् आविष्करोति ।

तत्रैव पुरूरवसो वाचालताम् उद्भाव्य तन्-मुखेन नाना-रूप-धरा सुषमा-करा प्रकृतिर् उपवर्ण्यते । तेन च वर्णनेन रसिक-जन-मानसे सरसता सञ्चार्यते, नयनाऽभिराम-रामणीयकम् अक्षि-समक्षम् अवतार्यते । संगमनीयमणि-प्रसंगोऽपि कवि-कल्पना-कौशलम् आवेदयति । महेन्द्रस्य शापवशाद् आयुषश् च्यवनाऽऽश्रमे निक्षेपः, पुत्र-दर्शनाऽनन्तरम् उर्वश्याः प्रस्थान-काले पुरूरवसि च वन-गमनाय कृत-निश्चये नारदेनाऽऽनीतम् इन्द्रस्याऽनयोर् यावज्-जीवम् अवियोग-शासनम् इत्यादि-स्थलानि रूपकस्यास्य यथाशास्त्रं सुखान्तत्वम् आपादयन्ति । सामाजिकानां सन्तोषाय च कल्पन्ते । मूलम् आमूलचूलम् अन्यथा कृत्वा कविना नूनम् अस्मिन् रूपके रूप-माधुर्यम् आवेशितम् इति मतिमताम् अत्र मतम् अवसीयते । एवं नानाविधा कथेयं विकासम् उपगता । परं प्रकृतम् अपास्य सूक्ष्मेक्षिकया निरीक्ष्यते चेत् सुनिगूढम् अर्थान्तरम् एवात्र प्रत्यक्षीक्रियते वेद-विद्या-विशारदैः ।

वेदे प्रतिपादितानां देवतानां स्वरूप-निर्धारणविषये विदुषां विद्यते महती विप्रतिपत्तिः । तत्-तद्-देवता-स्वरूप-विषये विद्यमानेयं विचिकित्सा न किलाऽऽधुनिकी परञ्च सुदूरम् अधिरोहति प्राङ्-

१९. विक्र० तृतीय० मिश्रविष्कम्भकः ।

२०. विक्र० तृतीय० मिश्रविष्कम्भः ।

२१. ऋग्वेदः, १०, ९५, ५ ।

नैरुक्तसमयम् अपि । तत्र हि प्राक् प्रवर्तमानानाम् ऐतिहासिकाऽऽध्यात्मिक-याज्ञिक-नैरुक्त-नैदान-प्रभृतीनाम् अनेकेषां वेद-व्याख्यान-मार्गाणाम् उल्लेखः क्रियते यास्काचार्यैः । तत्र किम् इतिहासप्रसिद्धं वा चन्द्र-वंशोत्पन्नम् इहलोके वर्तमानं राजान वाऽऽश्रित्य वैदिक-देवता समुदायाद् एकं द्योतमानं देव-विशिष्टं वाऽवलम्ब्य प्रवर्तते कथासूत्रम् इदम् इति विचारितम् आचार्य-प्रवरैः ।

अनवगत-संस्कारेषु निगमेषूर्वशी-पदं पठद्भिर् यास्काचार्यैर् विस्पष्टम् अङ्गीकृताऽस्य दुरूहता । यदम् इदं व्युत्पादयद्भिस् तैर् उक्तम्—'उर्वश्यप्सरा उर्वभ्यश्नुते ऊरुभ्याम् अश्नुते उरुर्वा वशोऽस्याः'[२२] इति । तत्र भाष्यं कुर्वन्तः स्कन्दस्वामिनस् तु 'उरु महत् स्थानं यशो वा व्याप्नोतीति उर्वशीत्यवगमः । ऊरुभ्याम् अश्नुते सम्भोग-काले कामिनं वशीकरोति शिल्पाचारकुशलेत्यर्थः । ऊर्वशिनीत्यवगमः । उरुर्वा महान् वशः कामोऽस्या महेच्छेत्यर्थः । व्यधिकरणे वा बहुव्रीहिः । बहुषु कामोऽस्याः, बहूनां वा कामो यस्याम् इति उरुवशेत्यवगमः'[२३] इति प्रतिपादयन्ति । उर्वशी-दर्शनान् मित्रा-वरुणयोः स्कन्नाद् रेतसो वसिष्ठजन्माऽभिवादिनी ऋग अत्रोदाहृता—

उतासि मैत्रावरुणो वशिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधि जातः ।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करेत्वाददन्त ॥[२४]

'हे वसिष्ठ ! उर्वश्याः सकाशान् मनसोऽधिजातो मैत्रावरुणस् त्वम् असि । उर्वशी-दर्शनाद् मित्रा-वरुणयोः रेतः स्कन्नम् । देवानां स्वभूतेन ऋगादि-लक्षणेन ब्रह्मणा विश्वेदेवा अन्तरिक्षे पतितं त्वाम् अधारयन्ते'ति स्कन्दस्वामी । 'मा भूमौ पतेद् इति कुम्भस्योपरि उदकेऽन्तरिक्षे वा त्वाम् अधारयन्ते' ति च दुर्गाऽऽचार्यः ।

मध्यम-स्थाना देवता विद्युद् अप्य् उर्वशीति यास्केनैवाऽग्रे निर्दिष्टम् ।[२५] तत्रोर्वशी-शब्द-निरुक्तिम् 'उर्वभ्यश्नुते' बहूदकं व्याप्नोति, उरुर्वा वशोऽस्याः महान् अस्याः काम उदके' इति व्याख्याति दुर्गाचार्यः ।

मध्यम-देवताऽभिवादिनीयम् ऋग् उदाह्रियते—

विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद् भरन्ती मे अप्या काम्यानि ।
जनिष्टो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः ॥[२६] इति ॥

तत्र यास्क इत्थं व्याख्याति—

'विद्युदिव या पतन्ती द्योतत हरन्ती मे अप्या काम्यान्युदकान्यन्तरिक्षलोकस्य यदा नूनम् अयं जायेताऽद्भ्योऽध्यप इति । नर्यो मनुष्यो नृभ्यो हित नरापत्यम् इति वा । सुजातः सुजाततरोऽथोर्वशी प्रवर्द्धयते दीर्घम् आयुः'[२७] इति । स्कन्दस्वामी च 'या विद्युदेव (स्वार्थे न) पतन्ती मम अप्संघातरूपाणि काम्यानि मां प्रति प्रापयन्ती द्योतते तस्याः सकाशाद् अन्तरिक्षस्योपरि सुसम्भृतो नृभ्यो हितश् चोदक-संघात उत्पन्नः । सस्य-निष्पादन-द्वारेणोर्वशी दीर्घम् आयुः प्रवर्द्धयति । 'यस्माद् अन्नमयाः प्राणाः' 'सर्वम

२२. निरुक्तम्. ५, १३ ।
२३. तत्रैव स्कन्दस्वामी ।
२४. ऋग्वेदः, ७, ३३, ११ ।
२५. निरुक्तम्, ११, ३५ ।
२६. ऋग्वेद, १०, ९५, १० ।
२७. निरुक्तम्, ११, ३६ ।

अन्ने प्रतिष्ठम्' इत्येवं व्याख्यानम् अकरोत् । तेनैव तत्रैतिहासिक-पक्षोऽपि व्याख्यातः । प्राग्-उदाहृतायाम् अपि (ऋ० ७, ३३, ११) ऋचि मध्यम-स्थानीय-देवता-परं व्याख्यानम् अपि स्कन्द-स्वामिना कृतम् ।[२८]

कोऽयं पुरूरवा इति जिज्ञासायाम् आचार्यो यास्कस् तं मध्यमस्थानासु देवतासु पठित्वा 'पुरूरवा बहुधा रोरूयते' इति प्रत्यपादयत्[२९] । तत्र 'विज्ञायते हि वायुः (वाताः [देवराजः]) प्राण (प्राणाः[देवराजः]) एव पुरूरवाः' इति ।···अनेक-विधम् अत्यर्थं स्तनयित्नु-लक्षणं शब्दं करोतीति पुरूरवाः' इति स्कन्दस्वामी दुर्गश् च व्याख्यातः । उक्तम् अपि 'पुरुरवा असीति प्राण एव तत्'[३०] इति ।

तस्यैषा ऋग् उदाहृता—

समस्मिञ्जायमान आसत ग्ना उतेमवर्द्धन्नद्यः स्वगूर्ताः ।
महे यत्त्वा पुरूरवो रणायावर्द्धयन् दस्युहत्याय देवाः ।।[३१]

'हे पुरुरवः ! यदा मेघेन सह महते संग्रामाय दस्युभूतस्य मेघस्य दुर्भिक्षादेर् वा हननाय त्वां माध्यमिका देवा मरुदादयो वर्धयन्ति, तदा अस्मिस् त्वयि जायमाने सम्भूयाऽऽपस्तिष्ठन्ति, 'नद्यः' 'नदना आपः' इति दुर्गः । रश्मयः इति च स्कन्दः । स्वयं-गामिन्यो भूरवैनं वर्धयन्ति इति च स्कन्द-दुर्गयोर् आकूतम्[३२] । स्कन्दस्वामिनैतिहासिक-पक्षोऽपि लक्ष्यीकृत्य व्याख्यातः[३३] । अत्रोक्त-युद्ध-विषये 'अपां च ज्योतिषश् च मिश्रभावकर्मणो वर्षकर्म जायते । तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति' इति निरुक्तोक्तिर् अनुसन्धेया[३४] । ऋग्वेदश् चाऽत्र प्रमाणम् ।

तद्यथा—

यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु ।
मायेत् सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से[३५] ।।

देवाऽसुर-युद्धानि मायामात्रम् इति सुस्पष्टम् आदिष्टम् अत्र श्रुतौ । दुर्गाचार्येणाऽस्मिन् विषये 'तस्माद् आहुर् नैतद् अस्ति यद्दैवासुरम्' इत्य् एवं प्रमाणान्तरम् उपन्यस्तम्[३६] ।

तस्माद् उर्वशी विद्युद्, वायुः पुरूरवा इति नित्य-पक्ष-विचक्षणाः । विद्युतः पक्ष-द्वयम् आलक्ष्यते[३७] । चञ्चलालक्षणोदीप्ति-प्रधाना माध्यमिका देवतेति 'विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद्, इत्यत्र[३८], 'उर्वशी वा बृहद्दिवा···'[३९] इत्यत्र च सिद्धवत् कृत्वोक्तम् ऋषिणा ।

शब्द-प्रधाना माध्यमिका वाग् इला-शब्द-वाच्या स्तनयित्नु-लक्षणं वात-रूपं पुरूरवसम् उत्पादय-

---

२८. द्र० निरुक्ते ५, १४ स्कन्द-भाष्यम् ।
२९. निरुक्तम् १०, ४६ ।
३०. तु. मै० सं० ३, ९, ५ ।
३१. ऋग्वेदः, १०, ९५, ७ ।
३२. निरुक्तम्, १०, ४७ ।
३३. तत्रैव, १०, ४७ ।
३४. तत्रैव, २, १६ ।
३५. ऋग्० १०, ५४, २
३६. निरु० २, १६ ।
३७. द्र० निरु० ५, १३ स्कन्दस्वामी ।
३८. ऋग० १०, ९५, १० ।
३९. तत्रैव ५, ४१, १९ ।

तीति वेद-वचनैर् अभिधीयते । तथाहि—'अभि न इला यूथस्य माता स्मन्नदीभिर् उर्वशी वा गृणातु' इति ।

अत्र 'यूथस्य' मरुद्-गणस्य 'माता' निर्मात्रीला माध्यमिका वाक् । 'नदीभिः' गङ्गादिभिर् इति सायणः, नदनाभिर् अद्भिर् इति स्कन्दः । 'स्मत् सह नः अभिगृणातु' अभिष्टौतु इति स्कन्दः, अभिस्तनयतु इति च दुर्गः व्याख्याने विशेषः । कीदृशीला ? इत्यत्र 'उर्वशी' 'बह्वाकाश व्यापिनीति' इलाया विशेषणम् इति स्कन्द-स्वामी व्याख्याति 'वा शब्दः समुच्चये'[४०] इति च पठति । तद् एवं माध्यमिकी वाग् इला वात-समूहस्य मातेति स्पष्टम् उदीरयति श्रुतिः । वात-रूपश् च पुरूरवा इति तु प्राङ्निर्दिष्टम् एव । अत इलाया अपत्यं पुमान् ऐलः पुरूरवा इति सिध्यति ।

पुरूरवस उर्वश्याम् आयुर्-आख्यः पुत्रोऽजायतेति पौराणिकी कथा कालिदासाऽऽदिभिर् अनेकैः सूरिभिर् अनुसृतेति तु पूर्वम् उपनिबद्धम् । अस्मिन् विषयेऽपि श्रुतिर् एवाऽनुसन्धेया, साऽपि अपावृणोति निगूढान् भावान् । तद्यथा—'उर्वशी वा बृहद्दिवा गृणानाऽभ्यूर्ण्वाना प्रभृथस्यायोः', शिषक्तु न ऊर्जव्यस्य पुष्टेः'[४१] । अत्र महादीप्तिः शब्दयन्ती प्रकषण सम्भृतस्याऽयनशीलस्य मनुष्यस्य ज्योतिषो वोदकस्य वाऽऽच्छादयन्ती मध्यम-स्थाना विद्युद् अन्नस्य पुष्टये अस्मान् सेवताम् इति स्कन्दो दुर्गश् च[४२] । अयम् आयुश्-शब्दो वेदे मनुष्यः[४३], ऋषि-विशेषः[४४], वायुः[४५], अग्निः[४६], वय[४७] इत्य् अनेकेष्व् अर्थेषु प्रयुज्यमानो दृष्टिपथम् आयाति ।[४८]

'ज्योतिर् उदकं वे'ति यास्कः ।'[४६] उर्वशी-पुरूरवसोर् अथवा विद्युद्-वात-योर् अपत्यम् आयुर् अग्निर् वोदकं वा ज्योतिर् वा भवितुम् अर्हति । एतेषाम् एवाऽत्र सञ्चयो युक्ति-संगतः । मानियर-विलियम-विरचिते संस्कृत-कोषेऽग्निर् एवाऽनयोः पुत्रत्वेन निर्णीतः । किन्त्व् अन्नस्य पुष्ट्यर्थम् उदकम् एवाऽपेक्ष्यते न तु वह्निर् इति कृत्वोदकम् एवाऽत्र समीचीनोऽर्थो न तु वह्निर् इति भूयो विचारार्थम् आधीयते सुधीजन-समक्षम् ।

वैदिक-देवतावादम् अधिकृत्य निरुक्तकारोऽनेकान् पक्षान् उक्त्वा देवता-त्रितय-पक्षं निरुक्ताऽभिमतत्वेन प्रतिपादितवान् । तत्रैक-देवता-वादोऽध्यात्मम् इत्य् अद्वैतवेदान्तमताऽभिमतम् अद्वितीयाऽऽत्म-तत्त्वरूपं परम-ब्रह्मैवैका देवतेत्य् एवं प्रतिपाद्यते । 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुर्'[५०] इति श्रुतिर् अपि प्रतिपादयति ।

४०. निरु० ११, ४६ ।
४१. ऋग्० ५, ४१, २० ।
४२. निरु० ११, ४६ ।
४३. ऋग्वेदः १, ६०, ३; १, ७, २५; १, १३०, ६ ।
४४. तत्रैव १०, ४६, ४ ।
४५. तत्रैव १, १६२, १ ।
४६. तत्रैव १, १४०, ८ ।
४७. तत्रैव १, ६६, १ ।
४८. नि० ११, ४६ ।
४९. ऋग्वेदः १, १६४, ४६ ।
५०. तत्रैव ७, ४, ८ ।

अनुक्रमणिकाकारेणेदं पक्ष-द्वयं प्रदर्श्यैकदेवता-वाद-प्रतिपादनावसरे 'एकैव देवता महानात्मा स सूर्य इत्याचक्षते' इत्युक्तम्। ऋक्-सर्वाऽनुक्रमणी-कृता शौनकेनैव बृहद्देवताऽपि विरचितेति सम्प्रदाय-विदो वदन्ति। शौनकीये सम्प्रदाये शौनकाद् अनतिदूरे वर्तमानस्याऽन्यस्य कस्यचिद् कृतिर् इयम् इति मैक्डानल-मतम् अत्र विसंवदति। तथाऽपि प्राचीनोऽयं ग्रन्थ इत्यत्र नाऽस्ति सन्देह-लेशोऽपीति कृत्वा दवतः-विषये परम्परा-प्राप्तम् अत्रोद्धृतं मतं प्रामाणिकम् इति निश्चीयते। तत्र सूर्य एवैका देवतेति पक्ष-प्रतिपादनम् एभिर वचनैः कृतम्—

भवद् भूतस्य भव्यस्य जङ्गम-स्थावरस्य च।
अस्यैके सूर्यमेवैकम्प्रभवम्प्रलयं विदुः॥
असतश्चैव सतश्चैव योनिरेषा प्रजापतिः।
यदक्षरञ्च वाच्यञ्च यथैतद् ब्रह्मशाश्वतम॥

कृत्वैष हि त्रिधात्मानमेषु लोकेसु तिष्ठति।
देवान् यथायथं सर्वान् निवेश्य स्वेषु रश्मिषु॥
एतद् भूतेषु लोकेष्वग्निभूतं स्थितं त्रिधा।
ऋषयो गीर्भिरचंन्ति व्यञ्जितं नामभिस्त्रिभि.[५१]॥

एनम् एव पक्षम् अङ्गीकृत्योषसम् एवोर्वशीं मन्यमानैर् मैक्समूलरमहोदयैर् 'उर्विया विभाति'[५२] 'उर्विया विचक्षे'[५३] 'वरीयसी' इत्यादीनि विशेषणान्य् उषसो व्यापकत्वम् एव सङ्गिरन्त इति साग्रहम् अनुरुध्यते। उरून् बहून् अश्नुते इत्य् उर्वशी-शब्दस्य व्युत्पत्तिर् अपि उषसम् एव निर्दिशति। उरून् अञ्चति गच्छतीत्य् उषोवाची उरूची-शब्दोऽपि तम् एवाऽर्थम् उद्भावयति। यावनी-भाषायाः 'eurn' शब्दोऽप्य् उरु-शब्देन संवदति। 'Euryphesse', 'Eurykyde' 'Eurypyle' इत्यादयः शब्दा यावने पुराण-शास्त्रे नानाख्यानोपाख्यानेषूषसम् एवान्ततो व्यञ्जयन्ति। एतेषु विद्यमानः 'eur' इति पदांशोऽपि 'उरु'-पदेन संवदति। ऋग्वेदोक्ताख्याने पुरूरवा आत्मानं वसिष्ठ-शब्देनाऽऽख्याति। 'अन्तरिक्षप्रां रजो विमानीमुपशिक्षाम्युर्वशीं वसिष्ठः'[५४] इत्यत्र वसुमत्तमो दीप्तिमत्तमो वसिष्ठ इति व्युत्पत्त्या वसिष्ठ-शब्दः सूर्यस्य पर्यायः। अन्यत्र सूर्य उषसं कामयमानस् ताम् अनुदिवसम् अनुसरन्न् अप्य् अनासाद्य विरह-व्यथोन्मथित इव क्षीणतां यातीति पुराण-विजृम्भितोक्तिर् युक्तैव। 'सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषाम् अभ्येति पश्चात्'।[५५] दिवसाऽवसाने पश्चिमायां दिशि पुष्करम् अवगाहमानाम् उषसम् उद्वीक्षते सूर्यः किन्तु ताम् अनासाद्य हताशो हतप्रभ इव गृहम् अभिनिवर्तते, अस्तम् एति।

५१. बृहद्देवता १, २६१-१६३।
५२. ऋग्वेदः, १, ९२, ९।
५३. तत्रैव, १, ११३, ५।
५४. तत्रैव, १०, ९५, १७।
५५. तत्रैव, १, ११५, २।

सूयार्थं प्रयुज्यमानम् अन्तरिक्षप्रेतिविशेषणम् उर्वश्यर्थम् अपि प्रयुज्यत इति दृष्ट-पूर्वम् 'बृहद्दिवा' इति विशेषणम् अपि उषसम् एवाऽऽख्याति दीप्तियुक्तत्वाद् व्यापकत्वाच् च। उपोदे बीजगति-तले वर्तमानस्य प्राणिजातस्याऽऽयुर् वर्धयतीति 'अस्मे श्रेष्ठेभिर्भानुभिर्विभाह्युषो देवि प्रतिरन्ती न आयुः'[५६] इत्यादिनाऽवगम्यते। उर्वश्य् अपि प्राणिनाम् आयुर्-वर्धनाय कल्पत इत्य् अपि 'उर्वशी प्रतिरत दीर्घमायुः'[५७] इत्यादि-वेद-वचनैर् अनुमोद्यते। अतः सूर्य एव पुरूरवा उषा एवोर्वशीति मैक्समूलर-महोदयानां निर्बन्धः।[५८]

अस्मिन् पक्षे सूर्यस्यैलत्वम् अधुना प्रमाणीक्रियते। अग्निर् इलायाः पुत्र इति संहितायाम् एवाऽऽम्नायते। तद्यथा—

'अरुषस्तूपो रुशदस्य पाज इलायास्पुत्रो वयुनेऽजनिष्ट'।[५९]

अस्याऽग्नेर् बलं तेजःसमूहो दीप्तियुक्तोऽभूत्। आरोचमान-तेजः-संघोपेत 'इलाया' उषसः पुत्रोऽग्निर् 'वयुने' प्रकाशे प्रज्ञाने वाऽजायत इत्यर्थः। 'वयुनं' वेतेः कान्तिर् वा प्रज्ञा वेति' यास्कः।[६०] प्रातःकाल उषस आविर्भावाऽनन्तरम् अग्नेर उत्पत्तिम् अत्र द्रढयति श्रुतिः।

अग्नि-सूर्ययोर् अभेदोऽपि 'स न मन्येतायमेवाग्निरित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते'[६१] इति वदता यास्केनाऽभ्युपगतः, अपि च 'इमम् एवाऽग्निम् आत्मानम् एकम् आत्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति'[६२], इति एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' इति च मन्त्र-व्याख्याने अग्नेर् एवैकात्मत्वं प्रतिपादयन् 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'[६३] इत्यत्र सूर्यस्य जगदात्मत्वम् आपादयन्तीं श्रुतिम् अनुवदति नैरुक्तः। प्रभातायां रजन्याम् आयातायाम् उषसि यज्ञियोऽग्निः प्रज्वाल्यते, अनेनाऽग्निना साकम् एवाऽग्ने रूपान्तरम् आदित्योऽप्य् आविर्भवति। तथाहि—

उषा उच्छन्ती समिधाने अग्ना उद्यन्त्सूर्य उर्विया ज्योतिरश्रेत्।
देवो नो अत्र सविता न्वर्थं प्रासावीद् द्विपत् प्र चतुष्पदित्यै ॥[६४] इति।

अग्नि-सूर्ययोश् चाऽभेदः, तेनैव च सूर्य इवाऽग्निर अप्य् उषसं कामयते। प्रमाणत्वेन 'शुक्रः शुशुक्वाँ उषो न जारः पप्रा समीची, दिवो न ज्योतिः'[६५] इति ऋग् उपस्थापयितुं शक्या।

अत ऐलोऽयम् आदित्यो न पुरूरवसो व्यतिरिक्तः कश्चिद् अन्योऽस्ति। उषा एव इला-पद-वाच्येत्यपि श्रुति-प्रतिपादित एवाऽर्थः प्रतिभाति। आदित्यश् च नूनम् आयुषः सर्वेषां वयसः कारणम् इत्यत्र न कश्चित् सन्देहाऽवसरः। सूर्यम् एवैकं देवम् अभ्युपगच्छताम् इत्य् अत्र विषये इयम् एव सरणिर् इत्यलम अति-विस्तरेण।

---

५६. तत्रैव, ७, ७७, ५।
५७. तत्रैव, १०, ६५, १०।
५८. चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्कशॉप, भा ४ पृ० १०७ तः।
५९. ऋग्वेदः, ३, २९, ३।
६०. निरुक्तम्, ५, १५।
६१. तत्रैव, ७, १७।
६२. तत्रैव, ७, १८।
६३. ऋग्वेदः, १, ११४, १।
६४. तत्रैव, १, १२४, १।
६५. तत्रैव, १, ६६, १।

संस्कृतेः संकटम्

संस्कृत-शब्दस्य को नाम वाच्यार्थं, कोऽभिप्रायः, किम् आकूतम् इत्यत्र सन्ति तावद् विदुषां विप्रतिपत्तयः। परम्परातः प्राप्ता आचारविचाराः, लोक-व्यवहाराः, आध्यात्मिकाऽनुभूतयः सांसारिक समस्या-समाधान-प्रकाराः, शिक्षा-दीक्षादि-विधयः काव्य-संगीत-कला-कलापादर्शाः, सत्य दया-दाक्षिण्या-दिगुण-ग्रामाः, आर्थिक सामाजिक-राजनैतिकनीति-रीतयः सर्वम् इदं संस्कृति-पदवाच्यम् इत्यत्र प्रायेण समेषाम् ऐकमत्यं विद्यते, स्वल्प एव विसंवादः समापतति।

मा भूद् भारतीया संस्कृतिः संसारे कामं सर्व-प्राचीना, पुराणतम-संस्कृतिष्व् अन्यतमा त्व् अवश्यम् अस्ति। मिश्र-बाबुल-प्रभृति-प्राचीन-देशानां संस्कृतयस् तु कालेन कवलिता नाम-शेषतां गताः, किन्तु भारतीया संस्कृतिर् अद्यापि स्वकीयां पुरातन-श्रियम् आश्रित्यापि नूतन-परिधानम् आदधाना सर्वत्र समादरम् आप्नोति, प्रशस्यते च। विज्ञान-प्रधानेऽस्मिन् युगे पृथिवी-पृथुलता सङ्कोचम् आगता, विप्रकर्षः प्रतिदिनं विलुप्यते, देश-गतम् अन्तरम् अन्तम् आयाति। सुदूरस्था अपि जना द्रुत-गतिभिर् वायुयानैः स्वल्पनैव समयेन सन्निकर्षम् अनुभवन्ति। सन्निकर्ष-जन्य-सङ्घर्ष-वशात् सर्वोऽपि लोकः स्वकीयान् परम्परा-प्राप्तान् आचार-विचारान् विहाय परकीयान् व्यवहारान् अंगीकृत्य सङ्कर-संस्कृतिम् उत्पादयितुम् ईहते। अतोऽद्य न काऽपि संस्कृतिः स्वकीयेन विशुद्धेन रूपेण अवस्थातुं शक्नोति। तथापि सुसमृद्धाः, शक्ति-सम्पन्नाः प्रभाव-शालिनो देशाः स्वकीयां संस्कृतिम् अन्येषु विपन्नेषु क्षीण-शक्तिष्व् अधमर्णेषु देशेषु समारोपयितुम् ईहन्ते, 'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते' इति लोकोक्त्यनुरोधात् सर्वे निर्धना निर्बलाश् च हीन-भावनाऽऽक्रान्त-हृदया लोकाः स्वकीयं सर्वं हीनतरं क्षीण-प्रभावं च मान्यमानाः परकीयां नव-यौवन-सम्पन्नां नव-परिधानावृतां, नव-वयः-समुचित-केलि-कल्लोल-रतां चञ्चल-स्वभावां, मनोहराम् उत्प्रेक्ष्य कामुका इव वयः-परिणाम-परिपक्व-स्वभावां, प्रौढां, सुस्थिरां, गम्भीर-प्रकृतिम् अपि स्वकीयां संस्कृतिं परित्यजन्ति। परिणामतः पाश्चात्या संस्कृतिर् अन्याः सर्वाः परिभूय सर्वत्र समुज्जृम्भते। सङ्कर-जातिर् इव सङ्कर-संस्कृतिर् अपि उभय-पक्ष-गत-दोष-दुषिता स्वीकर्तुः कल्मषाय कल्पते, क्लेशाय सम्पद्यते। स खलु धावद्-अश्व-द्वयारूढोऽपटुर् इव नूनं विपत्तिम् एति। सप्रतिघातम् अधोमुखः पतति। संस्कृति-द्वय सङ्क्रान्ति-काले स्वगत-संतुलनं स्थिरीकर्तुम् असमर्थः किङ्कर्तव्य विमूढः सन् कर्तव्याकर्तव्यम् अजानानो जनः पापीयान् भवति, सर्वमान्यान् नियमान् उल्लङ्घते, भ्रष्टम् आचरति, सर्वत्र उपद्रवान् जनयति, उच्छृंखलतां प्रतिपद्यते। नव-संस्कार-जन्य-चाक-चक्यवशात् सञ्जात-दृष्टिदोषो वस्तुस्थितिम् अवलोक-यितुम् अक्षम उत्पथम् अवलम्बते। ईदृशी दुरवस्था शिक्षितेषु विशेषतोऽर्धशिक्षितेषु तेषु भारतीयेष्व् अपि दरीदृश्यते ये खलु विच्छिन्न-परम्पराः पाश्चात्याऽऽचार-व्यवहारस्य बाह्यरूपेणाऽऽकृष्यमाणाः पाश्चात्या-नाम् उन्नतेर् मूल कारणं गुण-गरिमाणम् अनुद्वीक्ष्य तेषां सामाजिक-संघटनं नैतिक-परम्परां चोपेक्ष्यैव तान् अनुकुर्वन्ति, 'इतो नष्टास् ततो भ्रष्टाः' इति लोकोक्तिम् अनुरुध्य तेषां दूषणान्य् एव स्वीकुर्वन्ति।

भारतीय-नियम-संयम-बन्धनानि परित्यज्य पाश्चात्य-नियमान् अस्वीकृत्य च त्यक्त-सर्वप्रतिबन्धाः स्वल्प-विद्या-गर्वदर्पितास् ते सामाजिक-नियमान् उल्लंङ्घ्य परम्पराम् उद्भज्य गुरुवचनम् अनादृत्य स्वैरिताम् अवलम्ब्य पैशाचिकम् आह्लादम् अनुभवन्ति । 'न खलु वयं नवीनाः पुरातन-परिपाटिषु विश्वसिमः, सर्वं पुरातनं समय-प्रतिकूलत्वाद् हेयं, सर्वं नवीनम् अनुकूलत्वाद् ग्राह्यं' चेति सन्ति तेषां कुतर्कोक्तयः । विचित्रा खलु मदान्धता आवृणोति तेषां मनांसि, सुदुर्बोधा बालिशता जडीकरोति तेषां चित्त-चेतनाम् । इदम् एव महद् संस्कृति-सङ्कटम् अद्योत्तिष्ठति राष्ट्र-सम्मुखे, किन्तु न कोऽपि दानवम् इव एनम् उद्वीक्षमाणः प्रतिभाति । पश्यन्न् अपि वा गज-निमीलितम् इवाऽऽचरन्न् उपेक्षते । किन्तु न कोऽपि तस्य गम्भीर्यम् अनुभवति ।

प्रथमतस् तेषां नव-संस्कृतानां व्यवहारः समाजम् अवहेल्य व्यक्तिगत-महत्त्वम् उद्भावयति । व्यक्ति-गत-महत्त्व भावना मनुष्ये उद्दाम-दर्पम् उपजनयति । अविनयम् उत्पादयति । विद्यायाः प्रथम फलं विनयं परिगणयति विचक्षणगणः । प्राचीनेषु भारतीयेषु विनीत-भावना प्राचुर्येण विराजमाना दृश्यते सर्वत्र समाजे । सामाजिकोऽयं गुणः परस्परं सौहार्दं सहानुभूतिं, समादरं च जनयति ।

विनयशीलो न कस्य हृदयम् आवर्जयति ? न कस्य मैत्रीम् उपजनयति ? न कस्य सद्भावना उद्भावयति ? अयम् एव सामाजिकः सद्गुणोऽद्य विलुप्यते । अनेन सहैव अस्य परिणाम-भूतो गुण-ग्रामोऽपि-शनैः शनैर् अदर्शनं याति । शुष्के स्रोतसि प्रवाहः कथं न क्षीयेत । अत एव भारतीयानां नवीना सन्ततिः सर्वत्र अविनय-शीलताम् उद्दण्डताम् च आविर्भावयति । प्रशासनिक-कार्यालयेषु कर्मचारिणां जनतया व्यवहारे दुर्गुणोऽयं विशेष-रूपेण प्रकटीभवति । हीन हीनोऽपि प्रशासन-कर्मचारी कार्यार्थिभिस् तथा उद्धतम् अविनीतं च व्यवहरति यथा कश्चिद् दण्ड-नायकोऽपराधिषु साधिक्षेपम्- आत्म-प्रभावं प्रतिष्ठापयितुम् उद्युङ्क्ते । विदेशीयैर् अस्योदीयमानस्य दुर्गुणस्य यत्र तत्र पत्रेषु भर्त्सनाऽपि क्रियते । विद्यालयेषु विद्यार्थिनो गुरुष्व् अविनयम् आचरन्ति, गृहेषु पुत्राः पितृषु धृष्टं व्यवहरन्ति । शिल्प-शालासु कर्म-कराः प्रबन्धकेषु, विपणिषु वणिजो ग्राहकेषु, यात्रासु यान-कर्मचारिणो यात्रिषु, यात्रिणो यात्रिकान्तरेषु, स्वामिनो भृत्येषु, भृत्याश् चाऽधुना स्वामिषु तथा व्यवहरन्ति यथा सर्वत्र पारस्परिक-विद्वेषो विराजते, सर्वत्र दुर्भावनोद्भिद्यते । समाजे सर्वत्र परस्परम् अविश्वासः, शिष्टताया अभावश् च परिलक्ष्यते ।

शिष्टाचारस्य ह्रासोऽयम् अन्यत्रापि स्व-प्रभावम् उपदर्शयति । अस्मद्देशे नारी सामाजिकानाम् आदरम् आदित एव अलभत । तस्या अनादरम् असहमानाः सहस्रशो युवानः स्व-प्राण-पणैर् अपि अपराधिनं दण्डयितुम् अयतन्त । रामायणे महाभारते चेदं प्रयाणीक्रियते । नारी-सतीत्व-रक्षार्थम् स्त्री-सम्मानं परिपालनार्थं सदैव भारतीयाः सन्नद्धा अभूवन् । रक्त-नदीर् अपि प्रवाह्य नार्या अपमानं प्रतिशोध्यैवाऽनेके भारतीया निर्वृत्तिं लेभिर इति सुविदितं विद्यावताम् । किन्त्व् अद्य शिक्षितम्मन्यैर् युवजनैश् चतुष्पथेषु सर्वजन-समक्षम् अपमान्यमानाम् न कश्चिद् अपि त्रातुम् उत्तिष्ठते, न कस्याऽपि बाहुः परिस्पन्दते, न कस्याऽपि मर्माहतं हृदयं खण्डशः परिस्फुटति । सर्वो जनो विचित्राम् एकाम् अनिर्वचनीयाम् उदासीनताम्

आस्थाय पुरतः प्रवर्तमानम् अनाचारं पश्यन्न् अपि न पश्यति । सर्वोऽयं विशालो देशः शनैः-शनैः षण्ढ-वसतौ परिवर्त्यमानः प्रतीयते । यत्र गात्र-सञ्चालन-पुरःसरं नृत्य-संगीतादिकं तु दिवारात्रं चलति किन्तु पौरुषोचितं कर्म क्रियमाणं न दृश्यते । कदा न खलु राक्षसत्रासिताः सीताः समुद्धर्तुं पुनर् अपि रामोऽवतरिष्यति, कदा नु खलु दुःशासन-सहस्र-समुत्पीडिता द्रौपदीः परित्रातुं भुज-दण्डाव् आस्फाल्य भीमः समुत्थास्यति । पाश्चात्येष्व् अद्य नारी सर्वत्र सम्मान्यते । तत्र नारीषु क्रियमाणा अपराधास् तीव्रां प्रति-क्रियां जनयन्ति जनहृदये ।

पाश्चात्य-प्रभावाऽभिभूता भौतिक-भावनाऽऽक्रान्त-हृदया अवधीरिताऽध्यात्म-विचारा येन केन विधिना धनोपार्जनैक-लक्ष्याः पाप-पुण्य-सत्यानृतविचार-विहीना धर्मं पाषण्ड इति, पापं कपोल-कल्पितम् इति, पुण्यं धूर्तस्वार्थसाधन-संकल्प इति कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य-विचारो लौकिक-साफल्याऽसाफल्याऽधीन इति मन्यमानाः सर्व-विधम् अनाचारं निःशकं निष्प्रत्यूहं च कुर्वन्तोऽपि समाजे धनाढ्यता-वशात् सम्मान-भाजनतां यान्ति । भ्रष्टम् आचरन्तोऽपि नेतारो भवन्ति । शासन-तन्त्रम् आत्मसात्-कृत्य सर्व-प्रकारम् अत्याचारम् आतिष्ठन्ति । एतैर् 'महाजनैर्' निर्मितेन मार्गेण अन्ये प्राकृतजना अपि सञ्चरन्ति । तेऽपि भ्रष्टाचारम् आश्रित्य समाज-हित-विरुद्धां स्वार्थ-साधन-प्रवृतिं परिपुष्णन्ति । केवलं धर्म-परायणा जनता कष्टम् आपद्यते । अस्मिन् विषये भौतिक-वादिनाम् अपि पाश्चात्यानां व्यवहारोऽत्युत्कृष्टो भवति । तेषां भारतीय-सामाजिक-दायित्व-भावना सर्वोपरि वर्तमाना तेषाम् आचरणं सन्मार्गे अभिनिवेशयति । अस्याम् अवस्थायां शिष्याणां मनसि विराजमाना सर्व-दायित्व-शून्यता नूनम् अनर्थ-करी सम्पद्यते । आधुनिक-भारतीया अधिकाराणां प्राप्त्यर्थं कर्ण-स्फोटकं क्रन्दनं कुर्वन्ति, कर्तव्यस्य चर्चाम् अपि न कुर्वन्ति । कर्तव्यस्येयम् अवहेलना राष्ट्रस्या-कर्त्तव्याऽधिकारयोर् विवेकस् तु दूरस्थः, कर्तव्य-चिन्ताऽपि परिहीयते । ऽधो-गतये सम्पत्स्यते । कर्त्तव्य-भावना-विहीनाः स्वकीयाम् एव समृद्धिं पुरस्कृत्य प्रवर्तमाना जना राष्ट्र-हिताय कल्प्स्यन्त इति दुराशामात्रम् एवास्ति । किन्तु राष्ट्र-हित-विरुद्धम् उच्छृखलं कार्य-जातं कियन्तं कालं व्यक्ति-गतं स्वार्थं साधयिष्यतीति न विभाव्यते विवेक-शून्येन स्वार्थि-समुदायेन । अन्ते तु विपद्-ग्रस्तेन राष्ट्रेण सह तेऽपि विनाशम् एष्यन्तीति स्वतः सिद्धो राद्धान्तः ।

राष्ट्र-हितं परिहृत्य स्वार्थ-साधने संलग्नो व्यापारि-वर्गो यथेच्छं मूल्य-वृद्धिं कृत्वा स्वीयं कोषं प्रपूर्य दारिद्र्योपहृतां जनतां क्षुत्क्षामकण्ठाम् अपि, मरणाऽऽसन्नाम् अपि क्षुत्पीडित-जठराम् अतिद्रुत-गत्या-कवलताम् आनयति वा धनपति-परिपन्थिनः साम्यवादिनो निमन्त्रयते वा । एवम् एव उत्कोच-हारिणः शासन-कारिणेऽपि स्वकीयम् उदरं संभृत्य असहायाम् अशिक्षितां च जनतां क्लिश्नन्ति, अवमन्यन्ते निर्भर्त्सयन्ति च । असन्तोषः प्रतिदिनं वर्धते, विधि-व्यवस्था क्षीयते, शासने विश्वासो विनश्यति । शासन-विरुद्धोऽयं ज्वालामुखी कदा विस्फोटम् एष्यतीति को नु जानाति । अप्रतिहत-गतिर् इयं स्वार्थ-साधने-च्छैवाऽत्र निदानम् । अत्युत्कटा धन-लिप्सा सदा राष्ट्रस्य विनाशाय कल्पते । योरुपीया अपि धनम् अर्जयन्ति, किन्तु तेषु वाटसन्-सदृशानां स्वार्थोत्सर्गिणां देश-भक्तानाम् अभावो नास्ति ये निज-हितम् अधरीकृत्य राष्ट्र-हितम् उन्नयन्ति । भारते वर्षे तादृशानाम् आत्मोत्सर्गिणां क्षीण-क्षीणापि संख्या

प्रतिदिनं क्षीयतेतराम् । इदम् एवाऽस्ति द्वयोः संस्कृतोर् मध्ये महद् अन्तरम् । अत एव ते प्रतिदिनम् उन्नति-पथम् आरोहन्ति, एते तु विगत-विंशति-वर्षेषु यथापूर्वम् एवावस्थिताः । केवलं केचिद् धनाढ्या आढ्यतरा जाताः, निर्धनास् तु निर्धनतराः ।

उद्दान्तोद्दण्डान् विनेतुम् ईश्वर-भयं समाज-भयं राज-भयं वा प्रभवति । केचिद् एवं शिष्टाः स्वयम् आत्मानं नियन्तुं यतन्ते । यत्र त्रिविधम् इदं भयं विलुप्यते तत्र साहसिकानां पाटच्चराणां च महोत्सवो भवति । भारते वर्षे त्रिविधम् अपि भयं सर्वत्र प्रवर्तमानम् आसीत् । अधुनातनेषु भौतिक-वादिष्व् ईश्वर-भयं तु न पदम् अपि कर्तुं शक्नोति, समाजस्य जर्जरतया उपक्षीणा नियन्त्रण-शक्तिः । मूर्ख-मताऽधीनं प्रजातन्त्रं न जातु उद्दण्डान् दण्डयितुम् उद्युङ्क्ते, यतो मतदानाऽवसरे त एव स्व-प्रभावेण पद-प्रत्याशिनः साहाय्यं सम्पादयन्ति । अतो नियन्त्रण-शून्यम् असंयतं निरस्ताऽनुशासनं राष्ट्रम् अधोगतिं प्रतिपद्यते चेत् किम् अत्राऽऽश्चर्यम् । सर्वविध-दायित्व-हीनैर् आन्दोलन-कारिभी राजनैतिक-नेतृभिः समाजे वर्धमानोऽम् असन्तोषो वर्तमानं वैषम्यं च स्वहस्त-गता पाञ्चालिकेवस्वार्थ-सिद्धये प्रयोक्ष्यते । स्वार्थ-सिद्धिर् इयम् अनवरतम् आन्दोलनम् अपेक्षते । अनियन्त्रितान्य् आन्दोलनानि कर्तव्याऽकर्तव्य-विवेक-बुद्धिम् अवसादयन्ति । अवसन्न-बुद्धिर् जन-समूहो राष्ट्रस्य सर्वविधावसादाय सम्पद्यते । अयम् एव अवसादो भारतस्य राष्ट्रिय-धमनिषु द्रुत-गत्या प्रसरति ।

चतुर्वर्गे धर्मानन्तरं परिगण्यमानोऽर्थः सर्वथा धर्मानुकूलो यदि स्यात् तर्हि श्रेयस्करो भवति, अन्यथाऽनर्थाय कल्पते । धर्म-प्रतिकूलैर् उपायैर् उपार्जितं धनम् अभिशस्तं परिहार्यं च भवति । नैकविधानि दूषणान्य् अप्रशस्तेन धनेनैव जायन्ते । पूर्वम् अपि धनिक-वर्गेण विधिनानि व्यसनानि सेव्यमानानि न्याय्ये पदे समारोपितानि । अद्यत्वे तु स्वयं-कृतस्य पापस्यौचित्यम् उच्चैर् उद्घोष्यते । गर्हितम् अपि कर्म चत्वरे निस्त्रपं कृत्वा धनिकाः सम्मानं लभन्ते । पाप-कर्म-कौलेन प्रख्यायन्ते । सम्मानिता अपि प्रकट-रूपेण धर्म-परायणा अपि व्यापारे व्यवहारे च सवत्र अनृतं, धूर्ततां, प्रवञ्चनां, वचनापलापं, कपटतां, व्यलीकतादिकं सर्वं वाणिज्यकर्मणि न्याय्यम् इति प्रतिपादयन्तो न जिह्रियति । कर-चौर्यम्, मूल्य-वर्धनम् अनुचितो लाभः, अवतोलनम्, अधिलाभ इत्यादि-दूषणानि भारतीये वाणिज्य-क्षेत्रे चिराद् रिक्थ-रूपेणाऽधिगतानि, तथापि तेषाम् औचित्यम् अद्यैव समाजे प्रतिष्ठाप्यते । चौर-व्यापारो दिनस्य प्रकाशे व्यक्त-रूपेण अनिबाधं क्रियते । पर-प्रवञ्चना-प्रवृत्तिः पराकाष्ठां गतेति कृत्वा विदेशीयाः साधारणेषु भारतीय-वणिजां प्रभावेणाऽस्मिन् देशे क्रियते । स्वकीये देशे तेऽन्यथा व्यवहरन्ति तत्र ते सत्पथम् आचरन्ति । अस्मद्-राष्ट्रस्य प्रतिमूर्तिर् एभिर् विदेशेषु स्वार्थ-परतया कलङ्क्यते इति महतः शोकस्य विषयः ।

पाश्चात्य-प्रभावेण विस्मृताऽऽत्मानो निरस्त-समस्त-संयम नियमः युवानः प्रायेण समाजे सर्वत्राऽनाचारम् अपि प्रचारयन्ति । तेषां नवचेतनादर्शने परस्त्री-स्पर्शाऽभिमर्शयोः न कोऽपि दोषो भवति । 'रतिर् नाम सर्वथा स्वाभाविको व्यापारोऽतो यौन-वासना-संयमनं न केवलम् अप्राकृतं कर्म, अपि तु स्वास्थ्य-हानिकरम् अपि भवति । को नाम कामस्योद्दामप्रवाहं नियन्तुं निवारयितुं वा प्रभवति । विश्वामित्र एवाऽत्र निदर्श-

नम्' इति कानिचिद् अपवाद-भूतान्य् उदाहरणान्य् उत्सर्ग-रूपेण स्वीकुर्वाणास् ते कामुकतायाः प्रचार प्रसारञ् च न्याय्यं मन्यमानाः समाजे नवीनता-व्याजेनाऽनाचारं विस्तारयन्ति। योजनाबद्धम् इदं कार्य-जातम् उच्च-वर्गे प्रचलति। क्वचिद्-नृत्य-संगीत-संवर्धन-व्याजेन क्वचित् सौन्दर्य-प्रतियोगिता-व्यपदेशेनैते काम-वासनाः पूरयितुं विविधाः सभाः संस्थाश् च सञ्चालयन्ति। विश्व-सुन्दरी-समारोहेषु यावद् धनम एते नारी-सौन्दर्य-विशेषज्ञा अपव्ययन्ति तस्य सहस्रांशम् अपि जन-हित-कार्येषु उपयोक्तुम् उद्यता न भवन्ति। नाऽपि सौन्दर्यप्रियास् ते मलिन-मलिनानाम् अवस्करपूर्णानां निर्धन-वसतीनां किट्टं कर्दमञ् च प्रमार्ष्टुम् एकां काकिणीम् अपि दातुम् ईहन्ते।

अस्मिन् विषये चल-चित्रेषु प्रदर्शिता अनियन्त्रिताः प्रणय-भावा असंयताः काम-केलयोऽश्लीलं गानञ् च साहाय्यं कुर्वन्ति। तत्र दृष्ट-श्रुतञ् च सर्वं जीवन-रंग-शालायाम् अपि नाटयितुम् ईहमानास् ते विद्यालयेषु सङ्कर-सभासु च नव-यौवन-सम्पन्नाभिर् विविध-वेष-भूषावृताभिर् अर्धनग्नाभिश् च आधुनिकाभिर् हास्य-विनोद-बहुलानि नृत्य-संगीतकान्य् आयोज्य अन्तर्निगूढाः काम-वासना समुद्दीप्य अभिसार-कर्मसु परस्परं प्रवर्तयन्ति। किन्तु परिणममानेषु तत्फलेषु किम् अपि दायित्वम् अस्वीकुर्वाणा कापुरुषा प्रायेण विवाह-प्रस्तावं प्रत्याख्याय नारी-जीवनं लोकापवाद-दहने दग्धुं परित्यज्य मृगयान्तरम् अन्वेष्टुम् आरभन्ते। स्वकीयकलमषं प्रक्षालयितुम् ईहमानास् ते भ्रूण-हत्याम् अपि न्यायसंगतां प्रतिपादयन्ति। यद्यपि पुराकालेऽपि निभृतं निगूढञ् च व्यभिचार-कर्म प्रावर्तत तथाऽपि पापस्य न्याय्यत्व-प्रतिपादने न केनापि यत्नः कृतः प्रतीयते। अद्य तु पापं पापम् एव न मन्यते आंग्लेष्व् अपि अभिजातः शिष्ट-सम्प्रदायोऽस्मिन् विषये समुचितां मर्यादां परिपालयति किन्त्व् अर्ध-योरुपीया भारतीयास् 'त्यक्तलज्जः सुखी भवेद्' इति लोकोक्तिम् अनुसरन्तो वृद्ध-जन-समक्षम् अपि अनर्गलं प्रलपन्ति।

वृद्धानाम् आयुर् एव सम्मानम् आवहति इत्य् अस्ति भारतीयः शिष्टाचारः। किन्तु पश्यामो वयम् अनुदिनं यद् युवानो वृद्धान् उपहसन्ति गुरून् अवजानन्ति, अभिवादनार्हान् तिरस्कुर्वन्ति। उन्मार्ग-गमिनस् तान् उपदिशन्तो गुरवो 'जानीमो' वयम् आत्म-हिताहिते, अलम् अतिप्रलापेनेति साधिक्षेपम् अवधीर्य निर्भर्त्स्यन्ते। वार्धके तिरस्कृतास् ते वराकास् तूष्णीम् आसते। 'अस्माकम् अपि जठरं न भ्रियते कथम् एतान् जरठान् वयं पालयामः' इत्युदरम्भरयस् ते पितराव अपि वार्धके परास्यन्ति। 'वृद्धजनपालनं प्रशासनेन कर्तव्यम्' इत्यस्ति तेषाम् आकूतम् किन्तु पाश्चात्येषु देशेषु प्रशासनपरिपालिता वृद्धा कीदृशं नारकीयं जीवनं यापयन्तीति त ज्ञायत एभिः।

पाश्चात्य-संस्कृतेः कलङ्कभूतं दूषणं सुरापानम् अस्मत्-समाजे द्रुतगत्या वर्धते। पुरुषातिरिक्ता आधुनिका नार्योऽपि व्यसनम् एतत् प्रतिपद्य आत्मानम् अभिजात-कुलान्तर्गतम् अभिमन्यन्ते। भारतीया संस्कृतिः सुरापानं महा-पातकेषु गणयति। किन्तु कीदृशो दैवदुर्विपाकोऽयं यत् तदेव दूषणम् अद्य तथा-कथिते 'उच्च-समासे' मुख-भूषणं संवृत्तम्। मद्यप-बहुले तस्मिन् समाजे निवृत्त-मद्यः सात्त्विको जनो विचित्राम् अनिर्वचनीयाम् उपेक्षाम् अनुभवति। प्रशासक-वर्गे मद्यप-समुदायस्य प्रबलत्वाद् एव कृत-

प्रयत्ना अपि केचित् सात्त्विकाः संसत्सदस्या मद्यपान-निरोधकं विधेयकं संसदि पारयितुम् असमर्था अभूवन् ।

मन्त्रि-वर्गस्याऽपि व्यसनेऽस्मिन्न् आकण्ठ-मग्नत्वाद् गान्धि-वादिभिर् आपाद-मस्तकं बलं प्रयुज्यापि मद्य-निषेध-विषये न मनाग् अपि सफलताऽधिगता । यद् दुर्व्यसनं देशाद् दूरीकर्तुं राष्ट्रपिता गान्धी सत्याग्रहं कृत्वा विदेशीयानां कारागारं वर्षाणि यावद् यातनाः सोढ्वाऽपि सर्व-सन्धि-वार्ताः सपाद-प्रहारं परिहृत्याऽत्याचारिणो देशाद् निरस्य राम-राज्य-स्थापनार्थम् अयतत. यद् दुर्-व्यसनं देशान् निरसितुं परः सहस्रा भारतीया विदेशीयसाम्राज्य-विरुद्धं प्राणपणैर् अभियुध्य पञ्चत्वं गतास् तदेव दुर्व्यसनम् अद्य परिपोषयितुम् अस्माकम् एव प्रशासनं देशे मद्यनिषेधान्दोलनम् असफल आपाद-मस्तकं यतते इति नूनम् आश्चर्यवहन् । भारतीयानां स्वाराज्य-सेनाभटानां राम-राज्यस्येदृशी कल्पना कदाऽपि नाऽऽसीत् । पूर्वोक्तम् अस्माकं मनोवाक्-कार्येष्व् असामञ्जस्यम् अत्र प्रमाणीक्रियते । न केवलं प्र-वयस्का एवाऽस्मिन् व्यस्ने निमुज्जन्त्य अपि त्व् अल्पव्यस्काश् छात्रा अपि दुर्व्यसनेऽस्मिन्प्रयन्ते दुराचारिभिः । पाश्चात्य-संस्कृति-सेविकाः कन्यका अपि महोत्सवेषु कणेहत्य सुरां पिबन्तीति भवति चिन्ता-विषयः । यद्यपि प्राचीनभारते वर्षे व्यसनम् इदम् अभिजातास्व् अपि नारीषु कासुचित्प्रवर्तमानं प्रमाणीक्रियते तथापि तासां संख्या अतीवस्वल्पा प्रतिभाति । कतिपय-राजगृहान् अतिनिम्नवर्गांश् चाऽपहाय सामान्यतो नार्योऽनेन दूषणेनाऽस्पृष्टा एवासन् । आधुनिकास् तूत्तम-मध्यम-वर्गीया अपि पश्चिमानुगा दूषणम् इदं भूषणं कृत्वाङ्गीकुर्वन्ति ।

लज्जा शालीनता च नारीणां भूषण-द्वयं सर्वत्र प्रशस्यतेतमाम् । किन्तु आधुनिका नार्यो महोत्सवेषु, विवाहेषु, जन-समारोहेषु च निस्त्रपं पुरुषैः सह राज-मार्गेषु नृत्यन्त्यो दृश्यन्ते । एवम् एव महानगर-स्थेषु सम्मिलित-विद्यालेषु युवजन-समक्षं कन्यका वेश्याजनोचित-हाव-भावप्रदर्शन-पुरःसरम् नृत्यन्त्यो दृश्न्ते । इदम् एकतस् तु युवकेष्व अनुशासन-भंग-प्रवृत्तिम् उपजनयति, अपरतश् च कन्यकासूच्छृंखलताम् आसञ्जयति । प्रवृत्तिर् इयं सर्वत्राऽऽलोच्यते, किन्तु प्रभावहीने समाजे यः कश्चिद् यत् किञ्चिद् अपि निर्भयं निर्बाधं च कर्तुम् अलम् अस्ति । सर्वविधाम् आलोचनां तिरस्कृत्य ते स्वमनोवाञ्छितं समुद्धतम् अपि व्यवहारं प्रतिपद्यन्ते ।

पापं शीघ्रं प्रसरति, अपराधः सङ्क्रामको रोग इव अभिवर्धते । अतः सामान्यतोऽभिजाताः प्रतीयमानाः स्त्रीश् चत्वरेषु नृत्यन्तीर् दृष्टवा निर्मल-चित्ताः कुलजाः कन्यका अपि 'तथैवाधुनिकं-प्रचलनम्' इति मन्यमानाः तथैव चिकीर्षन्ति । रोगश् चाऽयम् अप्रतिहत-गतिर् युवकमनःसु मूलम् आबध्नाति । नैषा शुभलक्षणा प्रवृत्तिः । किन्तु को नामैतां निवारयेद् को नाम शिष्टाचारान् पुनः प्रवर्तयेत् समाजे ।

भारतीयं प्राचीनं साहित्यं सर्वस्मिन्न् अपि विश्वस्मिन् लब्ध-प्रतिष्ठम् अनवद्यं चेति विदेशीया अपि विद्वांसः साहित्य-शास्त्रिणश् च मुक्तकण्ठम् उपघोषयन्ति, सोत्साहं च अधीयते स्वस्व-भाषासु सोल्लासम् अनुवदन्ति च । किन्त्व् अधुनातना भारतीया न केवलम् एतद् तिरस्कुर्वन्त्य् अपि तु तद्विषये मनाग् अपि न जानन्ति । अनभिज्ञा अपि ते दुरालोचनाद् न विरमन्ति । पाश्चात्य-साहित्य-पण्डिता अपि

भारतीयाः प्राध्यापका भारतीय-साहित्य-परिचय-वञ्चिता एव सन्ति। बहुभिस् तु कालिदास-नामाऽपि न श्रुतं स्यात्। को नामान्यस् तादृशो दौर्भाग्यवान् देशो यात्रात्म-पूर्वजान् विश्व-प्रसिद्धान् अपि न जानन्ति सुशिक्षिता विद्वांसोऽपि। संस्कृतिस् तु साहित्ये एवाऽभिव्यक्ति लभते। यत्र साहित्यम् एवोपेक्ष्यते तत्र संस्कृति-संरक्षणं कुतः क्रियते। भारतीयं दर्शन-शास्त्रं विश्व-दार्शनिक-साहित्ये विश्वधुरीणम् इति नाविदितं विद्यावताम्। सर्वप्राचीनम् इदं शास्त्रम् अद्यापि स्ववैविध्येन सूक्ष्मेक्षिकया च विस्मयम् आपादयति तत्त्वविदाम्। भारतीयेषु विश्वविद्यालयेषु तद् आनुषांगिकरूपेणैव अधीयते अध्याप्ते च। तत्रत्या दर्शन-शास्त्रिणः प्रायेणाऽनुवाद-मात्रम्-आश्रित्य भारतीय-दर्शनम् आध्यापयन्ति परदर्शन-प्रवीणा आत्मदर्शन-प्रहीणा मूलभाषानभिज्ञास् ते कथं नाम तत्त्वम् अवगाहन्त इति त एव जानन्ति। पाश्चात्यदर्शनम् अत्राऽपि प्राधान्यं भजते, राष्ट्रियं दर्शनम् अधरीकृत्य तद् सुधीजन-सम्मानम् अधिगच्छतीति न कस्य लज्जायै कल्पते इति आनुषङ्गिकमू इदं दर्शनं छात्राणाम् अपि समादरं कथम् अपनुयात्। अतः सर्वोपेक्षा-तिरस्कृतम् इदं दर्शनतत्त्वम् अनुदिनम् उपक्षीयते विद्यालयेषु। आचारविचार-स्रोतसि क्षीणे संस्कृति-प्रवाहो राष्ट्रचेतसि कथं प्रवहेद् इति विचारयन्तु राष्ट्रनायका जनहितैषिणश् च विदुषांवराः।

———

भारतीयं प्रजातन्त्रम्

यद्यपि भारते वर्षेऽतिप्राचीन-काले प्लातोर् अपि पूर्वम् आसीत् प्रजातन्त्र-शासन-प्रणालिर् आ सिन्धोर् आब्रह्मपुत्रम् अखिलार्यावर्त-व्यापिनी नैक-राज्येषु विराजमाना, यत्र जनता-निर्वाचिता सर्वाधिकार-सम्पन्ना शासन-समितिर् एव शासन-सञ्चालने सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रताऽऽसीत्, तथाऽपि काल-क्रमाऽनुसारम् अन्यैर् आचार-विचारैर् इयम् अपि विचार-धारा कालकवलताम् आपद्यत। व्यतीतायां विचार-प्रावृषि, क्षीणे लोकमानसेऽवसन्ने जनशक्ति-स्रोतसि, बहुलीभूते विवेक-धन्वनि, सरस्वतीव विनशने विनाशम् उपगतेयं संस्था-सरित्। कालाऽन्तरे विविधाऽऽक्रमण-कारिभिर् आत्म-शासनसञ्चालनाऽर्थम् आत्म-शासन-पद्धतयः समये समये समारोपिताः। अन्ततो गत्वा आंग्लैस् तत् सर्वम् उच्छिद्य स्वार्थसाधिका शासन-पद्धतिः प्रचालिता। ताम् एवाऽवलम्ब्य वयम् आत्मानं गौरवान्वितं मन्यामहे। दूरातिदूरे दुरासादे काले विलीना प्राचीना प्रजातन्त्र-शासन-प्रणालिर् अधुनोज्जीवयितुम् अशक्या। सर्वथा परिवर्तिता वयम्, अन्यथाभूताऽस्माकं विचार-सरणिर् विपर्यस्तास् तास् ता गौरवाऽस्पदीभूताः संस्थाः, विध्वस्ताऽसावोजस्विनी जन-जीवन-स्रोतस्विनी। सहस्राणि वर्षाणि दासीकृताः, स्वार्थ-साधन-पराः, लुब्धक-वृत्तयो विश्वास-घातिनोऽनृत-वादिनो मिथः कलहायमानाः, पर-प्रत्यय-नेय-बुद्धयः, पर-मुखाऽपेक्षिणः, कर्त्तव्य-पराङ्मुखाः, अधिकाराऽऽक्रोशिनो, देशधर्म-रक्षाऽनपेक्षाः, शासनाऽधिकारि-जन-रञ्जनपराः सर्वविध-व्यवस्था-भञ्जन-मनोरञ्जनाः, साधुजन-कपट-व्यञ्जना वयम् आत्मनो विगत-गौरवम् एव साक्रोशम् उद्घोषयामः। अतः प्राचीन-प्रजातन्त्र-शासन-प्रसङ्गोऽसङ्गतिम् एवातनोति।

प्रजातन्त्रे यदि प्रजा एव शासनम् उपेक्षेरन्, सुशासने कुशासने वोदासीनाः स्युः वैयक्तिक-स्वार्थ-साधनार्थं सामूहिक-हितम् अपास्याऽन्यायम् आचरेयुः, सर्व-विधम् उचितम् अनुचितं व्यवहारं निकारं वा निश्शब्दं निरुद्योगं च सहेरन्, सर्वप्रकारम् अत्याचारं वा निर्विरोधं मर्षयेयुः, दुःखं दारिद्र्यं वा समक्षम् उद्वीक्ष्याऽपि परिमार्ष्टुं न चेष्टेरन्, दुर्भिक्षे सुभिक्षे वाऽनासक्तम् आसीरन्, अन्यायम् अग्रे प्रवर्तमानम् अपि निरोद्धुं विरोद्धुं वैकीभूय नोत्तिष्ठेयुः, ईतिषु समापतितास्व् अपि संहत्य न प्रतिकुर्वीरन्, तदा कथं नाम प्रजातन्त्रम् अवस्थातुं शक्नुयाद् इति न जानीमहे। स्वार्थ-परित्याग-पूर्वकम् एकीभूय राष्ट्र-समुन्नति-साधनम् एव प्रजातन्त्रस्य मूल-भूतो मन्त्र इति प्रसिद्धम्। यत्राऽयम् उपेक्ष्यते यद्वा उपसर्जनीक्रियते तत्र प्रजा-तन्त्रं प्रवर्तत इति मुधावादः।

भारतवर्षे प्रजातन्त्रस्याऽधिष्ठान-भूता लोक-निर्वाचिता केन्द्रीया संसत् प्रान्तीयाश् च विधान-सभाः सर्वत्र स्थापिताः सन्ति। किन्तु तदर्थं निर्वाच्यमानानां सदस्यानां निर्वाचनाऽधिकारोमूढाऽतिमूढानां ग्राम्य-जनानां हस्ते निक्षिप्तो येन धूर्ताचार्यैं राजनीतिज्ञैर् अतिसरलतया विविध-प्रलोभनैर् नाना प्रवञ्चक-वचनैर् असत्य-संगरैर् विप्रलभ्यन्ते सरलास् ते ग्राम्यजनाः। व्यवहारज्ञानशून्याश् च दारिद्र्योपहताश् च दीनहीनाश् च ते प्रशासक-कर्मचारि-प्रभावेणाऽऽतङ्किता वा शासनाऽवहेलनाऽऽशङ्का-शङ्किता वा, धनलुब्धा

वा, दुष्परिणामक्षुब्धा वा सन्तो बहवः स्वमतम् अन्य-मताधीनं कुर्वन्ति । गुणाऽगुणोदासीनेऽस्मिन् शासन-तन्त्रे बुद्धिमन्तो मूर्खैः प्रशिष्यन्ते, निर्वाच्यमानाः सभ्या अपि कदाचिद् असभ्याः स्युर् इत्य् अत्र नास्ति काचिद् विप्रतिपत्तिः । अनियन्त्रिताचार-व्यवहारास् ते प्रतिहत-धर्माऽधर्म-विवेक-प्रसराः स्वशासनाऽधिकार-वशाद् वशीकृत्य सर्वाणि धनोपार्जन-साधनानि सम्पत्ति-संग्रहे समाजन्ति । न केवलं निर्वाचकानां, निर्वाच्या-नाम् अपि योग्यता-मानाऽभावान् नूनम् अयोग्यतैव संसदि विधान-सभासु च विराजते । शासन-तन्त्राऽन-भिज्ञास् ते तत्र क्रियमाणानि भाषणान्य् अपि अवगन्तुम् अक्षमा निद्रा-मुद्रित-नयना नयनाऽभिरामे संसद्-भवने दिवोत्स्वप्नायन्ते । परान्नघस्मरास् ते निद्रालवः स्व-स्वस्थानेषु घर्घरायन्ते । मत-दानाऽवसरे स्वदल-सचेतकेन चेतनाम् आपाद्यमाना हस्तम् उद्यम्य अर्धनिद्रिता एव सपक्ष-पोषं पुष्णन्ति राष्ट्रहितम् । एतदथम् एवैते निर्वाचिताः, इयम् एव तेषां राष्ट्रपरिचर्या । एवं भूतेषु जननायकेषु को दोषः प्रजानां यदि ते न कुर्वन्ति स्वकर्तव्यं, न वा चिन्तयन्ति स्वदेश-हितं, न बध्नन्ति परिकरं स्वराष्ट्ररक्षार्थं, न व्रजन्ति संसारे सत्कार-पात्रतां, न भवन्ति श्रद्धास्पदम् अन्यदेशीयानाम् । यदि तेऽनृतं वदन्ति, वञ्चकवृत्तिम् आश्रयन्ते, शठताम् आचरन्ति, तर्हि को नु खलूपालम्भस्याऽवसरः ।

सन्ति केचन शासक-दले बुद्धिमन्तोऽपि, विवेकवन्तोऽपि, सत्यवादिनोऽपि देशानुरागिणोऽपि, प्रजाहितैषिणोऽपि, गुणगणज्ञा अपि, शासन-तन्त्राभिज्ञा अपि, किन्तु स्वल्पसंख्यास् ते किम् अपि कर्तुम् असमर्था, न क्षमन्ते निरोद्धुं दुरितोपचयं, न पारयन्ते पापौघम् अपवारयितुम्, असहाया इवोद्वीक्षन्ते प्रतिक्षणम् उत्कर्षम् आपद्यमानम् असुरबलम्, अहोरात्रम् उपचीयमानं दानवदलम् । दलहितम् अभि-काङ्क्षमाणास्तेऽपि न समीहन्ते समाधातुम् एतां जटिल-जटिलां परिस्थितिम् । स्वदले विरोधोज्जृम्भाण-भियाऽनिच्छन्तोऽपि ते सर्वम् इदम् आत्मनिकृतिकारं पापाचारं तूष्णीम् एव मर्षयन्ति । बहुसंख्याकस ते राक्षसवृत्तयो धर्मध्वजान् एतान् न तृणम् अपि गणयन्ति । मन्त्रिपदेषु बहुमतानुरोधेन नियुक्तास ते आत्मीयान् एव पुष्णन्ति, मित्राण्य् एव धनैर् अर्चयन्ति, भ्रातॄन् एव पदेषु नियुञ्जन्ति, बन्धुभ्य एव पणपत्राणि प्रतिपादयन्ति, मुक्तहस्तेनोत्कोचं स्वीकृत्य मणिमुक्तारत्नराशीन् आत्मसात् कुर्वन्ति, नानाव्यसनेषु समासक्ता निर्धनधनैः स्वच्छन्दम् अभिरमन्ते । मन्त्रिगणम् एवामोद-प्रमोदासक्तम् अधिगभ्याधीनस्थाः कर्मचारिणोऽपि तेनैव मार्गेण गन्तुम् आरभन्ते । वित्ते दत्तचित्तास् ते कार्यगुणसम्पत्तिम् उपेक्षमाणा हेलयावहेलयन्ति लोकहितं, नाद्रियन्ते मनाग् अपि दारुणां दुर्दशां दरिद्राणाम् । परिणामतोऽनुशासनम् अधरीक्रियते, जनजीवम् अवधीर्यते, योजनाकार्याणि दुरवस्थाम् आपाद्यन्ते, उत्पादनं क्षीयते, अपरिमितं धनम् अवसीयते । सर्वत्रोत्कोचहारिभिः कर्मचारिभिर् उत्पीडयन्ते प्रजाः, कूटव्यवसायो निर्बाधम् अभिवर्धते, महार्घता निष्प्रति-बन्धम् उपचीयते, विद्यमानेऽपि खाद्यान्ने कूटवणिग्भिः कृषीवलैर् वाऽन्नस्य प्रच्छन्नागारेषु निगूढत्वाद् देशे दुर्भिक्षराक्षसो मुखं व्यादाय क्रमते भक्ष्याभावाद् बुभुक्षामृतिर् वदनं विजृम्भ्यासीदति । अवसीदन्ति प्रतिक्षणम् अभिमुखम् अभिवर्तमानम् अवसानम् ईक्षमाणा निस्सहायाः क्षुत्क्षामकण्ठाः कङ्कालभूता लक्षलक्षाणि भारतपुत्राः । सहायताभियानेषु क्रियमाणेष्व् अपि जननाय-कानाम् अधिकारिवर्गस्य च लुण्ठालुण्ठि चलति । लोकमतम् अवक्रेतुम् एते लोकसेवार्थम् उपन्यस्तम् अर्थजातम् आत्मसात् कुर्वन्तीति सुविदितम् अस्ति विदेशीयानाम् अपि । विगत-चीन-पाकिस्तान-युद्ध-

द्वयेऽपि मनुजाऽपसदैर् एभिः संगृहीतम् अर्थजातम् आत्मनो मनोविनोदार्थम् उपयुक्तम् इति जनप्रवादः कस्य न कर्णगोचरीभूतः, केन वा न श्रुतोऽस्य प्रतिश्रुतिः संसद्भवने। किन्त्व् एतस्याऽनुसन्धानार्थं नियुक्तस्याऽपराधाऽन्वेषणपरस्याऽधिकारिणः प्रतिवेदनम् अद्य यावन् न प्रकाश्यते। दलगतप्रतिष्ठा नूनं जनधनावलुण्ठनाद् अतिरिच्यते। एवम् एव 'जीप'-शस्त्र-प्रभृति-सम्बद्धा लोक-विकुत्सिताः परिवादा न पुनरुक्तिम् अर्हन्ति।

उत्तरोत्तरम् असफलताभाजां तिसृणां योजनानां कुप्रभावाद्, विदेशीयानाम् ऋणदाने व्याक्षेपाच् च ऋणाक्रान्ता दुर्-अवस्थाम् अपन्नाऽर्थव्यवस्था शीर्णशक्ति शासनम् अस्थिरं कृत्वा शासक-वर्गं मुद्रा-ऽवमूलनाय विवशम् अकरोत्। मुद्राऽवमूलनम् अपि जनहितम् अवहेल्य विदेशीयनिर्बन्धाऽनुरोधाद् एव कृतम् इति नाऽविदितम् अधुना सुधीजनस्य। मूल्यानाम् अवधारणे नियमाऽभावाद् वा, निष्प्रतिबन्धं नियमभङ्गाद् वा, अधिकारिणाम् औदासीन्याद् वा, व्यापारिणां दुरभिसन्धेर् वाऽहर्निशम् अभिवर्धमाना महार्घता भृशम् उद्वेजयति क्षीयमाणवित्तस्य क्षीणजनस्य चित्तम्। अविचारितरमणीयम् इदम् अवमूलनं मुद्रास्फीतिम् उत्पाद्य वस्तुमूल्यं वर्धयनितराम् इति नूनम् अधुना प्रमाणीक्रियते। उत्पादने वृद्ध्यभावाद् निर्यातस्योपचयाभावाच् च वस्तुमूल्यम् उच्चतमम् अङ्कबिन्दुं स्पृशति। पूवम् अपि कल्पनातीतम् ऋणम् अधुनाऽध्यर्धगुणं जातम् आकाशीयम् उत्सेधम् उपस्पृशति। कोऽपि मन्त्रिमहोदयः स्वाधीनस्थे विभागे अपव्ययम् विरोद्धम् उत्सुको न लक्ष्यते। सर्वत्र कार्यालयेष्व् अभीष्टसंख्यातोऽति-रिच्यतेतराम् अधिकारिवर्गस्य संख्या। तथापि कार्यक्षमतोत्तरोत्तरम् अपचीयते। करसंग्रहणेऽसफलता वोदासीनता वा, करचौर्यं वा करसंख्यानेऽसत्यवादिता वाऽसावधानता वा अधिकारिणाम् अक्षिनिकोचो वोत्कोचो वा सन्त्यनेके हेतवोऽर्थव्यवस्थाया दुरवस्थायाः। एभिः सुपरिचितोऽपि प्रशासकवर्गो निमीलितनेत्रो न किञ्चिद् दिदृक्षते शृण्वन्न् अपि न किञ्चिच्छुश्रूषते केवलं हस्तौ प्रसार्यार्थं जिघृक्षति। सर्वं शून्यं, सर्वंमिथ्या, सर्वं परिहरणीयम् ऋते 'मायाम्' मायामये खल्वसारे संसारे।

समानकार्यार्थं समानम् एव वेतनं दातव्यम् इति संविधाने सुस्पष्टम् उल्लिखितम् अपि शासकवर्गेणैवोपक्ष्याधिकारिषु केन्द्रीय-प्रान्तीयतेतिपक्षद्वयम् उत्पाद्य व्यर्थम् अर्थगता विषमता सम्पाद्यते। भेदनीतिर् इयम् अनुशासनहीनताम् उत्पादयति, उत्कटम् असन्तोषम् उद्भावयति। असन्तुष्टप्रायम् अनुशासनहीनशासनम् अराजकतायै कल्पते। अनुशासनहीनता खलु भूमिर् अविनयस्य, क्षेत्रम् अक्षमतायाः, निधानम् अविवेकस्य, निदानम् उपद्रवाणाम्। इदम् एव सर्वम् अद्याऽक्षि-समक्षम् आपद्यते। विद्यार्थिनोऽपि निरस्तानुशासनाः सर्वविधं शासनम् अतिक्रम्य कम् अपि व्याजम् उपजीव्योपद्रोतुम् उपक्रमन्ते। द्रुतकोपिनस् ते शासकवर्गम् अवधीरयितुम् उद्युक्तैर् विरोधिपक्षैर् उत्तेजिता उद्रिक्तकोपानलाः सर्वं सम्मुखम् आपतितम् अग्निसात्-कृत्यैव सन्तुष्यन्ति। किम् एतेषाम् एतस्याऽक्रोशस्य कारणं, कस् तस्योपशमस्योपाय इति न प्रतिभाति कस्यचिद् अपि विचारविषयः। एवम् एवाध्यापक-वर्गे, श्रमिकसमूहे व्यापारिषु शासनाद् विरक्तिर् विराजते। प्रतिदिनम् एधमानोऽयम् असन्तोषो नूनम् आतङ्काऽऽशङ्काम् उद्वहति। किन्तु दलगत-विसंवादेषु विलीना नेतारस् तस्य समाधाने-ऽनुसन्धातव्ये किमर्थम् एनं व्यर्थं व्याक्षिपन्तीति विबुधजनवेदनीयम् एव संवृत्तम्। अस्य सर्वतो व्याप्तस्या-नुऽशासनाऽभावस्य मूलं नेतृवर्ग एव सर्वदा प्रवर्तमाने स्वार्थमूले विवादेऽसंवादे चाऽनुसन्धातव्यम्।

संसदि विवदमाना दलेषु स्पर्धमानाश्चैते परस्परं यथोच्छृङ्खलं व्यवहरन्ति, पदलिप्सयाऽनुशासनं खण्डशः शकलीकुर्वन्ति, तद् एव लोकस्याऽनुकरणीयं निदर्शनं भवति । संसदि विधानसभासु च क्रियमाणो विवादो विरोधिपक्षाऽवधीरणयैव विधीयते, न तु तत्त्वबोधाय ।

आधुनिक-प्रजातन्त्रस्य जननी ब्रिटिशसंसद् एवोच्यते । नीतिविषये स्खलने सञ्जाते अभिशस्त-कर्मणि समायोगे वा समारोपिते मन्त्रिणः पदच्युतिः स्वयं-सिद्धेव मन्यते प्रजासु । कु०-कीलर-सम्बद्धः परिवादः, आयव्यय-गणना सम्बद्धं रहस्योद्घाटनंचाऽत्राऽविदूरस्थं निदर्शनद्वयम् उपस्थाप्यते । किन्तु भारतीय-प्रजातन्त्रे नेदृशी परम्परा विद्यते । अनेकेषु परिवादेषु विविधेषु चाऽभियोगेषु प्रचारितेष्वपि मन्त्रिभिर् नैव क्रियते पदत्यागो न चैव निराक्रियन्ते तेऽभियोगाः ।

समेषाम् एव मनीषिणां मते जातिवादः प्रजातन्त्रेऽशुभङ्करो व्याधिः स च समूलम् उन्मूलनीयः । किन्तु जातिवादप्रतिवादम् उच्चैर् उद्घोषयन्तोऽपि, मुहुर्मुहुर् निन्दन्तोऽपि दुर्व्यसनम् इदं निर्वाचनकाले "अन्तः शाक्ता बहिश्शैवास्" त एव जननायक मतादानार्थम् आत्मीयां विजेतुम् जातिम् एव पुरस्कृत्य स्वजातिप्रीतिपरिचर्याविषये विकत्थन्ते, ताम् अधिकृत्यैव ईहन्ते, ताम् एव मनसि निधाय निर्वाचन-क्षेत्राणि निर्धारयन्ति । राष्ट्रस्य राजनीतिक-शरीरे विसृप्तं विषमम् इदं विषमप्रतिविधेयम् एव प्रतिभाति । धर्मनिरपेक्षम् अस्मद्राष्ट्रम् इति विष्वक् प्रचार्यतेऽहर्निशम् । किन्तु निर्वाचनकाले नोत्सहन्ते ते मोहमदीये निर्वाचनमण्डले मुस्लिमस्पर्धिन मुस्लिमेतरम् एकमपि प्रत्याशिनं प्रस्तोतुम् । एतद्विपरीतञ् च विशुद्धे हिन्दू निर्वाचनक्षेत्रे हिन्दूस्पर्धिनं मोहमदीयं निर्वाचनार्थं नोत्थापयन्ति । जानन्ति ते स्ववचसो निस्सारताम् । 'सत्यमेव जयते' इत्यत्र जयति खलु वचोविजिह्मता । यत्र पटेलमहोदयेन देशीयराज्यानां राष्ट्रीय-प्रवाहस्य मुख्यधारायां विलयं कृत्वा राष्ट्रीयैकतां सुदृढीकृत्य विवेकशीलता प्रमाणीकृता, तत्र विगतपञ्चदशवर्षेषु विविधव्याजान् आश्रित्य नानादलैः पृथग्वादितायाः पताकाम् उत्तोल्य विद्रोहात्मिकां प्रवृत्तिं प्रदर्श्य क्षीणशक्ति केन्द्रीयशासनं विवशं कृत्वा सुसस्थापिता अपि राज्यसीम्नो बलाद् भङ्क्त्वा यथेच्छं राज्यान्तराणि परिकल्पितानि । तैः प्रोत्साहिताः स्वार्थम् ईहमानाः सम्प्रदायवादिनोऽन्येऽपि तदर्थम आन्दोलनानि सञ्चालयन्ति । प्रान्तानां केन्द्रेण सम्बन्धविषयेऽपि परिस्थितिः प्रतिदिनं विक्रियते । सबला मुख्यमन्त्रिणः प्रधानमन्त्रि-चयने स्वहस्तं प्रक्षिप्य केन्द्रशासनम् आत्मसात्कृत्य भयावहां परिस्थितिम् उत्पादयितुकामाः प्रतीयन्ते । केन्द्रीयम् अनुशासनम् अपि व्युत्क्रम्य यथेच्छम् आचरन्ति प्रांतीया मंत्रिणः प्रांतहितैषिणश् च केंद्रीयमंत्रिणः पदपरित्यागभयं प्रदर्श्य केंद्रीय नीतीर् निर्णयांश् च परिवर्तयंति परस्परं कलहायमानास् तेऽन्यकार्येषु हस्तक्षेपं कुर्वाणाः प्रजासु वैमनस्यम् उत्पादयंति, इतरेतरं परिभवितुम् ईहन्ते च । नेयं स्थितिर् देशहिताय कल्पते ।

केन्द्रस्य निस्सारतां जानन्त एव प्रतिवेशिनो देशा भारतीयान् अर्धचन्द्रं दत्त्वा स्वस्व-देशेभ्यो निस्सङ्कोचम् उत्सारयन्ति । हृत-सर्वस्वा दण्डघातम् आहतास् ते कथमपिप्राणत्राणायाऽपद्रुत्यद्रव्यहीनाः स्वदेशं प्रविश्यापीतस्ततः परिभ्रमन्तो दुर्दशाम् अनुभवन्ति न तेषां दुःखप्रच्छकः कश्चित् प्रजातन्त्रे प्रतिभाति इमाम् एव दुर्बलताम् उद्वीक्ष्योत्साहितो प्रातिवेशिनो देशम् इमम् आक्रमितुम् । मित्रम्मन्यैर् अपि देशैर् नोपकृता वयम् एतस्मिन् विपत्काले । प्रजानां मतम् अनादृत्य, भावान् अभिभूय, विनयम् अवम-न्याव्यावहारिकीं कल्पनाप्रसूताम् एकव्यक्तिप्रभूतां वैदेशीकीं नीतिम् अनुसृत्य सर्वत्र विदेशेषु परिभूता

भारतीया जुगुप्स्यन्ते । यः कश्चिद् ददाति, प्रीणयति, साहाय्यं वा करोति स स्वार्थम् एव समीहते । भिक्षाटनाय निर्गतः पामरोऽपि भक्ष्यलवम् आसादयत्येव, सकरुणम् अभ्यर्थ्यमानः क्षुद्रोऽपि मुष्ठिमितम् अन्नम् आप्नोत्येव । तद् तु दातुः सौजन्यम् एव प्रमाणीकरोति न तु भिक्षुकस्य पात्रताम् । सुरक्षापरिषदि काश्मीरविवादम् अधिकृत्य को नु खलु निरपेक्षम् अस्मत्पक्षम् अरक्षत् ? रूसदेशोऽपि अमरीका-विरोधानुरोधाद् एवास्मान अनुमोदयति । मिस्रदेशस्य कृते वयम् आदर्शवाद-पताकाम् उत्तोल्य फ्रांस-ब्रिटेनेति राष्ट्रद्वयम् आगर्ज्याऽतर्जयाम । सोऽपि विगत-पाकाऽऽक्रमणेऽस्मत्-पक्षं न विस्पष्टं समर्थयामास । नेहरू-महोदयस्य परममित्रम् एन्क्रुमा तु मोहमदीय-भ्रातृत्वेनाभिभूतो विस्पष्टम् अयूब पक्षम् ऊरीकृत्य अल्लाहसमक्षं पुण्यश्लोकतामगात् । विस्मृतसुकृतिना सुकर्णेन न केवलं पाकपक्षम् अनुमोद्य निर्लज्जम् आचरितम् अपि तु भारत-विरुद्धम् अस्त्राणि जल-मग्नांश च प्रेषयता तेन विस्पष्टम् अस्मद्-विदेशनीतेर् असारतोद्घाटिता । एवम् अन्यैर् अपि मुस्लिम-देशैर् विपत्काले स्वतन्त्रता-सग्रामे त्रा भारतीयं साहाय्यम् अवाप्याऽपि समये कपटम् आचरितम् ।

किन्तु सर्वातिगोऽयम् अत्र प्रश्नः समुत्तिष्ठति 'किमस्य प्रजातन्त्रस्य शक्तिः प्रजाभ्यः प्रवर्तते अथवा प्रशासकेषु स्वतन्त्रम् उद्भवतीति ।' यदि जनशक्तिर् अत्राक्षय्यम् अजस्रम् अनारतञ् च प्रवहमानं स्रोतो भवेत्, तदा सञ्जातेष्व् अपि घोरेषु स्खलनेषु, अनुभूतेष्व् अपि दारुणेषु कृच्छ्रेषु, समापतितास्व् अपि विषमासु विपत्सु राष्ट्रम् अप्रतिहतगति समारोहति समुन्नतिशिखरम्, एतद् एवात्राऽसन्निहितं प्रतिभाति । आत्मनः स्खलितानि तिरोधातुं, दोषान् निगूहितुं, पापानि पिधातुम् इच्छन्तम् ते जननायका राष्ट्र-हितम् अपि संशयाऽऽस्पदं नयन्ति, जनजीवनस्याऽपि पणन्ते, देशद्रोहाद् अपि न विरमन्ति । विगते चीनाऽऽक्रमणे सर्वम् इदम् ईक्षावतां समक्षम् आपातम् । कम्पमानमानसा विचलितचित्ताश् च शासकाः प्रजासु मृषैव सैन्य-दलस्य युद्धाय सन्नद्धताम्, अस्त्र-शस्त्राणाम् अमोघताम् अक्षीणताञ् चोद्घोष्य मिथ्या-विश्वासम् उदपायदन् । तेषाम् अलीक-वचनेषु मनाग् अपि विश्वासम् अकुर्वाणाः प्रजाः पुनः-पुनश् चीनानां दुरभि-सन्धि-विषये मनसि विवर्तमानम् आशङ्कातङ्कम् उच्चैर् उद्घोषयन् । किन्तु सर्वम् अफलम् एवाऽभवत् । रक्षामन्त्री स्वध्वंसकारिणा बुद्धिवैभवेन उद्भटभटान् युद्धोपलब्धसिद्धिप्रसिद्धान्, समरनीतिनिपुणान् सेना-नायकान् अपास्य अनुभवहीनान् नवीनान् स्नेहास्पदीभूतान् प्रभूतान् उन्नतपदेषु नियुज्य उत्तरपूर्वीयसीमान्त-प्रान्ते पुरातनैर् अस्त्र-शस्त्रैः सन्नाह्याऽतिगहनहिमाच्छन्नोत्तुङ्गशिखरिश्रृङ्गेषु प्रचण्डशैत्याऽऽक्रान्तकान्ता-रेषु प्रबलवात्याहतवृहच्छिलावप्रघनेषु, अगाधगिरिगह्वरसङ्कुलेषु विजनवनप्रदेशेषु, परिहितानुष्णपरिधानान्, आगृहीतस्वल्पगुलिकानिधानान् लघुसैन्यगुल्मान्, स्वचालित-नव्याऽस्त्र-सुसज्जितानां चीनक-सैन्यदलानां महाबलानां विरुद्धम् अयोधयत् । परःसहस्राणि महौजसः स्वपराक्रमाक्रान्त-सकल-भूभागाः विक्रान्त-भारतीय-सैनिकभटाः प्राणपणैर् आत्मदेश-रक्षासक्त-चित्ताश् चिरम् अभियुध्य वीरगतिं गताः । स्व-प्राण-रक्षण-विचक्षणास् ते सेनानायकाः पराभूना मृत्युमुखे पतितान् स्वसैनिकान् अपहाय कांदिशीकाः संवृत्ताः । परिभूताश् च भारतीयप्रजा विश्वस्मिन् जगति हास्यास्पदीकृताः, किन्तु न केनचिदपि सत्यम् उक्तम् अस्मिन् विषये, न चाऽस्य पराजयस्य कारणं वा प्रकाशितं, न च प्रजानां क्रुद्धासु विरुद्धोक्तिषु कर्णोऽपि दत्तः शासक-वर्गेण, न दण्डिता दण्डनीया अधिकारिणो, नाऽपि प्रकाशितम् एतद्-विषयकं परिप्रश्नप्रति-वेदनम् । यस्मिन् प्रजातन्त्रे जननायकाः प्रजाभाग्यविधायकाः प्रजासु विश्वासं न बध्नन्ति, स्वस्खलितेषु

वा रहस्यनयम् आवरणम् आच्छादयन्ति, निगूढं निभृतं च मुखम् आवृत्य कुम्भीरका इव तमिस्रायाम् इतस्ततः प्रपलायन्ते, प्रजेक्षणम् अपवारयन्तः प्रच्छन्नम् आचरन्ति, तन्नूनम् अतन्त्रम् ।

किन्तु न केवलं छिद्रानुसन्धानपरा वयं पक्षान्तरम् उपेक्षामहे। वाक्-स्वातन्त्र्यं प्रजातन्त्रस्य प्रथमोपलब्धिर् उच्यते । भारते वर्षे विचार-प्रचार-णार्थं सर्वविधम् अनियन्त्रितं स्वातन्त्र्यम् उपलभ्यते । सर्वैर् अपि शासकवर्गस्य समालोचना दुरालोचना वा निष्प्रत्यत्यूहम् अहर्निशं कर्तुं पार्यते । किन्तु निर्मर्यादम् उच्छृङ्खलं स्वातन्त्र्यम् अपि न राष्ट्रहिताय सम्पद्यते । अनर्गलम् प्रलपन्तश् छात्राः, अनियन्त्रितं जल्पन्तो राजनीतिज्ञाः, अनिर्बाधम् उत्तेजयन्तश्श्रमिकनेतारः, सर्व-जनजीवनं प्रहीणानुशासनं कुर्वन्ति, विद्रोहम् उद्दीपयन्ति, दरविकसितं समाजं विशृङ्खलतां नयन्ति ।

विगतविंशतिप्रायेषु वर्षेषु शान्तिपूर्वकं निभृतञ् च राष्ट्रम् औद्योगिकोन्नतिपथम् आरूढम् विविधः वैज्ञानिक-प्रतिष्ठानान्य् अनुसन्धानकेन्द्राणि च स्थापितानि । पार्थिवतैलाऽन्वेषणेऽभूतपूर्वा प्रगतिः, विविधाऽलोहधातूनाम् उपलब्धिः, लोहोत्पादक-संयन्त्रणां स्थापनम्, विविध-शिल्प-शालानां प्रादुर्भावः, अणुविज्ञाने विस्मयकारिणी समुन्नतिः, विविधनदी-सेतु-निर्माणनिवृत्तिः, अनेकविद्युद्योजनापूर्तिः, परोलक्षेषु ग्रामेषु वैद्युतीकरणं, सैनिक-सामग्रीसम्पादने प्रायेण स्वावलम्बनं, शिक्षायाः प्रचारे प्रसारे चाऽभिवृद्धिः, विदेशीय-व्यापारस्योपचयः, सर्वम् इदम् अस्मिन् प्रजातन्त्रे एव सम्पन्नम् । किन्तु कियता वित्त-व्ययेनेदं सर्वं सम्पादितम् इति विचार एवास्मद्-हृदये वेपथुं जनयति, शरीरे रोमाञ्चम् उत्पादयति । कियद् धनम् उत्कोचादिरूपेण स्वार्थिजनपेटिकासु प्रविष्टम् इति कस्यचिदपि अनुमानस्य विषयः प्रतिदिनम् एधमानम् ऋणं कथं शोधयितव्यम् इति न जानीमहे। अस्य विपुलराशेर् विदेशीयर्णस्य कुप्रभावः प्रतिदिनम् अस्मद्विदेशनीतौ विलोक्यते । महत्तमेनोत्तमर्णेन बाध्माना वयं स्वविदेशीयनीतिं निर्धारयामः । परमुखापेक्षी कथं पर-प्रत्यय-नेयबुद्धिर् न भवेत् । केन सह कथं वर्तितव्यं व्यवहर्तव्यं वेति अमरीकीय-राष्ट्रपतिर निर्णेतुम् ईहते । धिगेताम् उन्नतिं, धिग् एतस्योत्कर्षस्य । आसूपलब्धिष्व् अपि कियत्यो वास्तविक्यः कियत्यश् च केवलं कर्गलेष्व् एवानर्गलम् उत्सर्पन्तीति को नु जानीते । लौकिक-क्षेत्रे प्रस्थापितानां शिल्प-शालानां संयन्त्रणाम् कार्यक्षमता सुतराम् अपकृष्यते । प्रतिवर्षम् एतां वित्तहानिम् एव परिशोधयन्ति । शिक्षाक्षेत्रे शिक्षाशास्त्रिणो महत्त्वपूर्णं परिवर्तनम् इहन्ते, किन्तु येन केन व्याजेन प्रतिवर्षम् अयं विचारो व्याक्षिप्यते । छात्रसंख्यावृद्धिस् तु शिक्षोन्नतिं न प्रमाणयति । छात्राणाम् आन्दोलनम् एवास्यासन्तोषम् अनुमापयाति । पुराणम् आमूलचूलम् उच्छिद्यैव नवम् आरोप्यते चेद् अस्ति काचनाऽऽशा नव-विचाराऽङ्कुराणाम् उद्गमस्य, अन्यथा किम् अनेन व्यर्थेनाऽर्थव्ययेन ।

यावन् न जनास् त्यजन्ति स्वार्थ-समीहां, यावन् नोत्तिष्ठन्ति ते बद्ध-परिकरा देशपरिचयार्थं, यावन् नोदेति नव-चेतना जन-चेतसि, यावन् नोद्गच्छन्ति राष्ट्रे धर्माऽनुप्रमाणित-विचार-प्रवाहाः, यावन्नोत्सहन्ते जनाः सर्वविधम् अन्यायम् अभियोद्धुं निरोद्धुं च, यावन् न विनश्यति मनस्सु बद्धमूला सङ्कीर्णता, यावन् न वहति लोक-शक्तिस्रोतोवहा, तावन् न प्रवर्तते प्रजातन्त्रं न चोत्कर्षम् आपद्यते जनजीवनम् इति विदांकुर्वन्तु लोकविक्रुष्टा जन-नायका इति ।

———

विभिन्न रामायणों में सीता-परित्याग

रामायण के विषय में कुछ भी कहने से पहले यह बता देना परम आवश्यक है कि रामकथा पूर्वीय गोलार्द्ध के अनेक देशों में अनेक रूप-रूपांतरों में प्रचलित है। न केवल विदेशों में ही इस चरित कथा के अनेक रूप प्रचलित हैं अपितु स्वयं भारत में भी इसका प्रचार-प्रसार अनेक प्रकार से हुआ है। भारत में बौद्ध और जैन सम्प्रदायों ने इस कथा को अपने-अपने धर्म के प्रचार के विचार से अनेक रूप प्रदान किये हैं; स्वयं हिन्दुओं की परम्परा में यह कथा विविध रूपों में विद्यमान है। संस्कृत धार्मिक साहित्य तथा ललित साहित्य एवं आधुनिक भारतीय भाषाओं के एतद्विषयक साहित्य में भी विविध प्रकार के भेद-प्रभेद पाये जाते हैं।

हिन्देशिया की 'रामायण काकाविन', जावा की आधुनिक रचना 'सेरत राम', अर्वाचीन मलयन-कृति 'हिकायत सेरी राम', कम्बोडिया की ख्मेर भाषा की 'रे आम केर' (राम-कीर्ति), श्याम देश की 'राम किये़न', ब्रह्मदेश की 'राम गायन' नामक रचनाओं के द्वारा श्रीराम के उज्ज्वल, उदात्त तथा अनुकरणीय चरित्र की ज्वलन्त आभा दिग्दिगन्त को आज भी आलोकित कर रही है।

भारतीय भाषाओं में तमिल में 'कम्बन', रंगनाथ तथा भास्कर कृत रामायण प्रसिद्ध हैं, मलयालम में राम-कवि कृत 'रामचरितम्' कन्नासपन्निक्कर कृत 'कन्नास रामायण', तथा राजा वीर केराल वर्मा कृत 'केराल रामायण', और कन्नड़ भाषा में नरहरि कृत 'तोरावे रामायण' प्रसिद्ध हैं।

इनके अतिरिक्त सिंहली और काश्मीरी रामायण, बंगला भाषा में 'कृत्तिवास रामायण', मराठी में एकनाथ कृत 'भावार्थ रामायण', हिन्दी में 'रामचरित मानस', गुजराती में नर्मद कृत 'रामायण सार', आसामी में माधव कन्दाल कृत बाल्मीकि रामायण का पद्यात्मक अनुवाद तथा दुर्गावर कृत 'गीति रामायण', उड़िसा में 'जगन्मोहक रामायण' (बलरामदास कृत), तथा शारलदास कृत 'विलंका रामायण' आदि अनेकानेक रचनायें लोक में विख्यात हैं। अभी हाल ही में ला० रामलभाया आनन्द कृत 'पञ्जाबी रामायण' भी प्रकाश में आयी है।

यह विविधता तथा विभिन्नता श्रीराम के आदर्श चरित्र के दूर-दूर तक व्याप्त प्रभाव को तथा लोकप्रियता को ही प्रमाणित करती है।

इसी वैविध्य के कारण ही वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड में सीता-परित्याग की कथा ने भी विभिन्न रूप धारण कर लिये हैं। एक परम्परा के अनुसार तो राम ने सीता जी का त्याग कभी किया ही नहीं। आदि रामायण में राम के अभिषेक के बाद उनके सुखद राज्य का वर्णन किया गया है। महाभारत के विस्तृत रामोपाख्यान (३।२५७ से) में इस प्रसंग की ओर संकेत तक नहीं किया गया। हरिवंश पुराण (अध्याय ४१), वायु पु० (अध्याय ८८) विष्णु पु० (अध्याय ४।४) तथा नृसिंह पुराण (अध्याय ४७-५२) में भी रामकथा का वर्णन किया गया है; किन्तु कहीं भी सीता-त्याग का उल्लेख नहीं किया गया।

बौद्ध-रचना 'अनामकं जातकम्' में भी इसका उल्लेख नहीं पाया जाता। इसमें सीता के विषय में प्रचलित लोकापवाद का उल्लेख अवश्य किया गया है। जब राम ने परपुरुष के घर में दीर्घ-निवास के अनन्तर सीता को स्वीकार करने के अपने औचित्य के विषय में सन्देह व्यक्त किया तो सीता ने कहा कि 'मैं तो पानी में पङ्कज के समान रही हूँ। यदि मुझमें सतीत्व है तो पृथ्वी फट जाय'। यह कहते ही पृथ्वी फट गयी और इस प्रकार सीता के सतीत्व के प्रमाणित हो जाने पर दोनों प्रसन्नतापूर्वक रहने लगे।

गुणभद्र कृत उत्तर पुराण के अनुसार लङ्का से अयोध्या लौटने के बाद सीता के आठ पुत्र हुए। इसमें परित्याग का कोई उल्लेख नहीं किया गया। एक अन्य परम्परा के अनुसार राम ने सीता-विषयक लोकापवाद के कारण अपनी प्रियतमा का परित्याग कर दिया था। इस त्याग के पीछे प्रचलित लोकापवाद के भी भिन्न-भिन्न रूप दर्शाये गये हैं। इस विषय में प्रायः वाल्मीकि-रामायण के उत्तरकाण्ड का ही अनुकरण किया गया है। वाल्मीकि-रामायण के अनुसार गर्भवती सीता एक दिन राम से तपोवन देखने की इच्छा व्यक्त करती हैं, राम उनकी इस इच्छा को पूर्ण करने का वचन देते हैं (वाल्मीकि उत्तर का० ४२।३२-३६)। कुछ ही देर बाद जब राम अपनी मित्र-मण्डली में हास्य-विनोद में मग्न बैठे थे, वे अचानक एक मित्र भद्र से पूछ बैठे कि "नगर और जनपद के लोग मेरे, सीता के, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न तथा माता कैकेयी के विषय में क्या कहते हैं, क्योंकि राजा लोग तो अपने राज्य तथा वन में निन्दा के विषय बन जाते हैं", (उत्तर ४३।५६)। इस पर भद्र ने बताया कि लोगों में सीता के चरित्र के विषय में निन्दा-जनक चर्चा चल रही है। वे कहते हैं कि 'अब हमको भी अपनी स्त्रियों का ऐसा आचरण सहना पड़ेगा; क्योंकि प्रजा राजा का ही अनुकरण करती है' (वही० सर्ग ४३।१९)। यह सुनकर राम ने सभी भाइयों को बुलाकर उन्हें इस जनापवाद से अवगत कराया और लक्ष्मण को सीता को वन में छोड़ आने का आदेश दिया। लक्ष्मण वन-दर्शन के बहाने सीता को रथ पर बिठा कर गंगा के पार वाल्मीकि के आश्रम के पास छोड़ आये (वही० सर्ग ४२-४८)। कालिदास के रघुवंश में भद्र नामक गुप्तचर से जनापवाद की सूचना दिलाई गयी है। (रघु० १४।३१-३२)। भवभूति कृत उत्तर रामचरित (१म अङ्क), दिङ्नाग (धीरनाग ?) कृत कुन्दमाला तथा क्षेमेन्द्र कृत 'दशावतार चरित' में भी इसी प्रकार का कथानक दिया गया है।

विमलसूरी विरचित जैन चरित ग्रन्थ 'पउमचरित' (पद्म-चरित) में सीता-त्याग का जैन संस्करण प्रस्तुत किया गया है। गर्भवती सीता को राम वन में विभिन्न चैत्यालयों के दर्शन करा रहे होते हैं कि कुछ नगर-वासी सामूहिक रूप में उनसे क्षमा-याचना करके सीता के विषय में फैले जनापवाद की चर्चा करते हैं। राम अपने सेनापति कृतान्तक को बुलवा कर आदेश देते हैं कि सीता को जैन मन्दिर दिखाने के बहाने गंगा के पार निर्जन वन में छोड़ आवे। वहाँ सीता के करुण-क्रन्दन को सुन कर पुण्डरीकपुर के राजा वज्रजंघ उनको अपने महल में ले जाते हैं, जहाँ उनके दो पुत्र उत्पन्न होते हैं (द्र० पर्व० ९३)। इस कथानक में जैन धर्म प्रचार की भावना स्पष्ट परिलक्षित होती है।

लोकापवाद के इस प्रसंग में एक अन्य परम्परा के अनुसार एक धोबी अपनी पत्नी को, जो घर से निकल गयी थी, वापिस लेने से इन्कार करते हुए कहता है 'मैं राम नहीं हूँ, जिन्होंने दीर्घ काल तक परगृह में रहने वाली अपनी पत्नी सीता को चुपचाप स्वीकार कर लिया।' इसे सुनकर राम सीता का परित्याग कर देते हैं।

इस प्रसंग का सर्वप्राचीन उपलब्ध वर्णन सोमदेव कृत कथासारित् सागर में सुरक्षित है, जो मूलरूप में गुणाढ्य कृत बृहत्कथा में विद्यमान रहा होगा। यह प्रसंग इस प्रकार है—

एक दिन नगर में गुप्तवेश में घूमते हुए राम ने एक व्यक्ति को अपनी पत्नी को इसलिए घर से निकालते हुए देखा कि वह किसी के घर चली गयी थी। पत्नी कह रही थी—'राम ने सीता को राक्षस के घर रहने पर भी नहीं त्यागा, यह राम से भी बढ़कर है, जो मुझे निकाल रहा है।'

इन वचनों को सुनकर राम बहुत दुःखी हुए और उन्होंने जनापवाद के भय से गर्भवती सीता को वन में भिजवा दिया (कथा० ९, ५१)।

श्रीमद्भागवत में भी इसी से मिलती-जुलती कहानी पायी जाती है (९, ११)। जैमिनीय अश्वमेध (अ० २५) तथा पद्मपुराण (४, ५५) में पत्नी को घर से निकालने वाले व्यक्ति को 'धोबी' कहा गया है। बाद में यही कथा कम्बन रामायण, गुजराती रामायणसार तथा रामचरितमानस में भी दुहराई गयी है। इसी से मिलती-जुलती कथा तिब्बती रामायण में भी पायी जाती है, अन्तर यह है कि त्याग के समय सीता गर्भवती नहीं होतीं, अपितु दो पुत्रों की माँ होती है।

१२वीं शताब्दी में हेमचन्द्र जैन कृत जैन रामायण में कथा को सर्वथा नवीन मोड़ दे दिया गया है। सीता के गर्भवती हो जाने के बाद उसकी तीन सपत्नियाँ उनसे ईर्ष्या करने लगीं। सीता को बदनाम करने के उद्देश्य से स्वयं उन्होंने बड़े आग्रहपूर्वक अनुरोध करके सीता से रावण के चरणों का चित्र खिंचवाया, क्योंकि सीता ने रावण की ओर मुख उठाकर कभी देखा ही नहीं था; अतः केवल उसके पैरों को ही देखा था। उस चित्र को उन्होंने राम को दिखाया और दासियों के द्वारा जनता में यह समाचार प्रचारित करा दिया कि सीता तो रावण के चरणों की पूजा करती हैं। रात को घूमते हुए राम ने भी सीता के आचरण के कारण जनता द्वारा की जाती हुई अपनी निन्दा सुन ली और अगले ही दिन सीता को वन में छोड़ आने का आदेश दे दिया।

१५वीं शताब्दी में कृत्तिवास द्वारा रचित बंगाली रामायण में सीता सखियों के अनुरोध पर शयनागार के फर्श पर ही रावण का चित्र खींच देती हैं और बाद में श्रान्त होकर चित्र के पास ही सो जाती हैं। यह देखकर राम सीता पर सन्देह करके उनका परित्याग कर देते हैं।

काश्मीरी रामायण में राम की एक बहन सीता को बहकाकर एक छोटे पंखे पर रावण का चित्र खिंचवाती है, और बाद में सोई हुई सीता की छाती पर वह चित्र रख देती है और स्वयं राम को बुलाकर दिखाती है। चन्द्रावती कृत बंगाली रामायण में कैकेयी की पुत्री यह कुकृत्य करती है। जावा के सातवें काण्ड में कैकेयी स्वयं यह षड्यन्त्र रचती है। आनन्द-रामायण (१५वीं शदी) के अनुसार

कैकेयी के बहकाने से सीता रावण के दाहिने पाँव के अंगूठे का चित्र दीवार पर अंकित करती हैं। बाद में कैकेयी इस पर रावण का पूरा चित्र बनाकर राम को दिखाती हैं। राम उस पर विश्वास करके लक्ष्मण द्वारा सीता को वन में भिजवा देते हैं। हिन्देशिया के 'हिकायत महाराज रावण' में रावण-वध के बाद सात मास तक राम लंका में ही रहे। वहीं एक दिन रावण की पुत्री ने अपने पिता का चित्र सोई हुई सीता की छाती पर रख दिया, जिसे राम ने देख लिया तथा क्रोध में आकर कोड़ों से सीता को पीटा और लक्ष्मण को आदेश दिया कि सीता का वध करके उसके हृदय को प्रमाणस्वरूप उपस्थित करे। लक्ष्मण ने सीता को मैके भिजवा दिया और बकरी का कलेजा निकाल कर दिखा दिया।

सिंहलद्वीप की रामायण में उमा सीता से केले के पत्ते पर रावण का चित्र खिंचवाती हैं। राम के आ जाने पर सीता उस चित्र को पलंग के नीचे फेंक देती है। राम को पता लग जाता है और वह लक्ष्मण को सीता की हत्या की आज्ञा देते हैं। उपरि वर्णित कथा के समान ही लक्ष्मण सीता-वध का नाटक करते हैं। 'रे आम केर' में एक यक्षिणी और 'रामकियेन' में शूर्पणखा की पुत्री अदुल सीता से रावण का चित्र खिंचवाती हैं। राम के द्वारा सीता के वध का आदेश पाकर भी लक्ष्मण उन्हें बचा लेते हैं।

अनेक लेखकों ने सीता-परित्याग की संगति बैठाने का भी प्रयास किया है। वाल्मीकि रामायण के अनुसार ही एक बार विष्णु ने भृगुपत्नी की हत्या की थी और भृगु ने विष्णु को नारी-वियोग का शाप दिया था। इसी कारण विष्णु के अनुसार राम को सीता का त्याग करना पड़ा था (उत्तर० ५१, १४-१६)। किन्तु इस शाप का उल्लेख अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता है। पद्मपुराण में इस प्रसंग का समाधान इस प्रकार किया गया है। एक दिन कुमारी सीता अपने उद्यान में शुकों के जोड़े से राम-कथा सुनती हैं। विस्तार से सुनने के लोभ से उनको पकड़ लेती हैं। शुकों ने वाल्मीकि के आश्रम में सुने हुए भावी रामचरित को कह सुनाया। इसकी सत्यता को देखने के लिये सीता ने राम से विवाह होने तक उनको छोड़ने से मना कर दिया। अन्त में शुक को भी छोड़ दिया; किन्तु गर्भवती शुकी को बन्दी बनाए रखा, जिसने यह शाप देकर प्राण त्याग दियेः—

'यथा त्वं पतिना सार्धं वियोजयसि मामितः।
तथा त्वमपि रामेण वियुक्ता भव गर्भिणी ॥

(पातालखण्ड अध्याय ५७)

अन्त में, यही शाप सीता के परित्याग का कारण बना। उड़िया की विलङ्क रामायण में बाली-वध के पश्चात् तारा ने सीता को पति-वियोग का शाप दिया है। इन प्रसंगों तथा समाधानों से स्पष्ट ही सीता के प्रति राम के व्यवहार के औचित्य को ही सिद्ध करने का प्रयास किया गया है।

तुलसीकृत गीतावली के अनुसार दशरथ की मृत्यु उनकी पूर्णायु की समाप्ति से पूर्व ही हो जाने के कारण शेष आयु राम को प्राप्त हुई। अतः पिता की आयु से सीता के साथ रहना अनुचित मान कर राम ने अपनी आयु के समाप्त हो जाने पर सीता का परित्याग कर दिया था (उ० ७, २५ से)। किन्तु ये प्रयत्न तथा समाधान सफल एवं युक्तसंगत नहीं कहे जा सकते।

अध्यात्म-रामायण में तो सीता-त्याग को अवास्तविक घोषित किया गया है। देवताओं ने राम को शीघ्र वैकुण्ठ में बुलाने के लिए सीता से शीघ्र वहां लौटने का अनुरोध किया। राम ने स्वयं त्याग की योजना बना कर देवताओं की इच्छा-पूर्ति की (७. २)।

आनन्दरामायण में कहा गया है कि राम सीता के गर्भवती हो जाने के कारण काम-विह्वल रहने लगे। अतः सत्त्वगुणमयी सीता तो राम के वामांग में निवास करने लगती है तथा लोकापवाद का नाटक रचकर रजस्तमोमयी छाया को वाल्मीकि के आश्रम में भेज दिया जाता है। सीताहरण के विषय में भी अर्वाचीन साहित्य में कहा जाता है कि सीता का हरण रावण नहीं कर सकता था। केवल संसार-मञ्च पर नाटक खेलने के लिये तथा रावण आदि दुष्टों के दमन के हेतु सीता की छाया मात्र का हरण हुआ था, असली सीता अग्नि में सुरक्षित रख दी गयी थी, जिसे अग्नि परीक्षा के समय समर्पित कर दिया। "प्रतिबिम्ब अरु लौकिक कलङ्क प्रचण्ड पावक महुं जरे। ······धरि रूप पावक पानि गहि श्री सत्य श्रुति जगविदित जो। जिमि छीर सागर इन्दिरा रामहि समर्पी आनि सो ॥"

(रामचरितमानस गोरखपुर लङ्काकाण्ड) पृ० ६६४-६५,

———

उपनिषदों में सांख्य के तत्त्व

भारतीय दार्शनिक परम्परा को दो मुख्य धाराओं में विभाजित किया जा सकता है, एक आस्तिक धारा दूसरी नास्तिक धारा। आस्तिक धारा उसे कहते हैं जो वेद में आस्था रखती है, तथा उसकी विपरीत नास्तिक धारा कही जाती है। आस्तिक धारा में सांख्य का न केवल महत्त्वपूर्ण स्थान है, अपितु यह अत्यन्त प्राचीन भी है। कुछ लोग इसका मूल ऋग्वेद के 'द्वासुपर्णा' मन्त्र (ऋग् १,१६४,२०) में खोजते हैं, तो कुछ नासदीय सूक्त (ऋग् १०, १२९) में। कुछ अन्य लोग 'देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत' (ऋग् १०,७२,२) की ओर निर्देश करते हैं, तो दूसरे पुरुषसूक्त (ऋग् १०, ९०) की ओर। किंतु शङ्कराचार्य तथा उनके अनुयायियों ने इस दर्शन को श्रुत्यनुमोदित सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया (देखिये ब्रह्म सू० १,१,१२, शं० भा०)। यद्यपि प्राचीय पैंगिरहस्य ब्राह्मण में 'द्वा सुपर्णा' की व्याख्या करते हुये इन "दो पक्षियों" को 'सत्त्व' (प्रकृति) तथा क्षेत्रज्ञ (पुरुष) स्वीकार किया है ('तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ' ब्रह्म, शां०भा० १,२,१२; १,३,७ पर उद्धृत), तो भी शङ्कर ने इसका निराकरण करके इन्हें 'जीव' तथा 'ब्रह्म' मान कर अपने ही अद्वैत सिद्धान्त को पुष्ट करने की चेष्टा की है। अतः प्रतीत होता है कि सांख्य सिद्धान्त को ऋग्वेद में खोजने की प्रवृत्ति पर्याप्त प्राचीन है। इसी परम्परा में विज्ञानभिक्षु ने भी सांख्यप्रवचन भाष्य में सांख्य को वेदानुकूल ही माना है। महाभारत के अनुसार तो लोक में जो कुछ भी ज्ञान है, वह सांख्य से प्राप्त हुआ है तथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ('ज्ञानञ्च लोके यदिहास्ति किञ्चित् साख्यागतं तच्च महन्महात्मन्"। शान्तिपर्व, मोक्षधर्म' ३०१,१०९), तथा सांख्य के समान कोई ज्ञान नहीं और योग के समान कोई बल नहीं (नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं, नास्ति योगसमं बलम्; वही, ३. ६. २)। गीता में तो सांख्य की अपार महिमा का बखान किया गया है। भागवत पुराण (३,३३,३७) के अनुसार जो कोई भगवान् गरुडध्वज में चित्त लगाकर कपिलमुनि के परमगुह्य अध्यात्मयोग का श्रवण तथा वर्णन करता है वह भगवान् के चरणकमलों को प्राप्त कर लेता है।' यही नहीं, स्वयं शङ्कराचार्य को भी लिखना पड़ा कि "हमें सांख्य-योग का खण्डन इसलिए करना पड़ा" कि ये दोनों लोक में परमः पुरुषार्थ के साधन के रूप में प्रसिद्ध हैं, शिष्ट पुरुषों द्वारा स्वीकृत हैं, तथा—

तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः। (श्वेता० ६,१३) इत्यादि श्रौत लिंग से पुष्ट हैं" (ब्रह्म शां० भा २,१,३)। इससे स्पष्ट ही सिद्ध होता है कि शंकराचार्य और उन से पूर्ववर्ती आचार्यों के समय में सांख्यदर्शन शिष्टजन-अनुमोदित ही नहीं था, अपितु अध्यात्ममार्ग का परम पुरुषार्थ-साधन माना जाता था। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सांख्य के सेश्वर-सम्प्रदाय का उन दिनों बोल-बाला था, और निरीश्वरवादी सम्प्रदाय को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता था। फिर शङ्कराचार्य ने इसका खण्डन क्यों किया ? इसका मुख्य कारण दार्शनिक विप्रतिपत्ति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकता। द्वैतवादी (या त्रैतवादी) सांख्य अद्वैतवादी शङ्कर को कैसे मान्य हो सकता था। प्रकृतिपरि-

णामवादी सांख्य तथा विवर्तवादी शङ्कर के विचारों में सामञ्जस्य हो ही नहीं सकता था। यद्यपि सांख्य की जड़ें उपनिषदों में यत्र-तत्र बिखरी हुई देखी जा सकती हैं, तो भी औपनिषदिक विचारधारा मुख्यरूप से 'ब्रह्माद्वैतवादी' 'या "प्रज्ञानात्मक-ब्रह्माद्वैतवादी" ही है। इसके अतिरिक्त शङ्कर निरीश्वर-वादी सांख्यकारिका से भी परिचित थे, तथा सूत्रकार कपिल से भी। कपिल के सिद्धान्त को वेदविरुद्ध सिद्ध करते हुए उन्होंने लिखा है कि कपिल के ज्ञानातिशय को दिखलाने वाली श्रुति (श्वेता० ५.२) से श्रुतिविरुद्ध कपिलमत में श्रद्धा नहीं की जा सकती, क्योंकि सांख्यप्रणेता कपिल तथा श्रुत्युक्त कपिल में केवल शब्दसाम्य मात्र है। और सगर के पुत्रों को भस्म करने वाले वासुदेव नामक अन्य कपिल की भी स्मृति में प्रसिद्धि है (ब्रह्म शां भा २,१,१)। आनन्दगिरि ने भी अपनी व्याख्या में वासुदेवनामक कपिल के द्वारा उपदिष्ट वैदिक तथा उससे भिन्न कपिल द्वारा उपदिष्ट अवैदिक सांख्य, इन दो प्रकार के सांख्यशास्त्रों की सत्ता की सम्भावना प्रकट की है और इस प्रकार महाभारत, भागवत प्रभृति के पूर्वोक्त वचनों में सामञ्जस्य स्थापित करने में सहायता दी है। पद्म पुराण में तो स्पष्ट कहा गया है कि वासुदेव कपिल ने भृगुप्रभृति ऋषियों को वैदिक सांख्य का उपदेश दिया, और दूसरे कपिल ने वेदविरुद्ध सांख्य का प्रचार किया (द्र. ब्रह्म, शां. भा. २,१,१ पर वेल्वल्कर-लिखित टि०)। तत्त्वसमास की टीका सर्वोपकारिणी में भी कपिल नाम के दो पृथक्-पृथक् ऋषियों का उल्लेख किया गया है। एक तो तत्त्व-समास के रचयिता, विष्णु के अवतार तथा देवहूति और कर्दम के पुत्र थे। दूसरे कपिल सांख्यप्रवचन-सूत्र के रचयिता थे, जो अग्नि के अवतार थे। किन्तु विज्ञानभिक्षु ने सा. प्रवचन भाष्य के अन्त में लिखा है कि सां.प्र.सू. के रचयिता कपिल ने ही अपनी माता देवहूति तथा समस्त संसार को सांख्य का उपदेश दिया था। इस प्रकार इतना तो प्रकट होता है कि दो कपिलों की परम्परा काफी प्राचीन है, जिनमें एक सेश्वर सांख्य के प्रवर्तक थे, तो दूसरे निरीश्वर के (विस्तारार्थ देखिये आद्याप्रसाद, 'सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा' पृ. ४१ से आगे)। किन्तु, आश्चर्य की बात यह है कि निरीश्वर तथा वेदविरुद्ध सांख्य सम्प्रदाय के अनुयायी ईश्वरकृष्ण प्रभृति ने भी "शब्द" को प्रमाण माना है तथा शब्द की परिभाषा "आप्तोपदेशः शब्द" की है (सां. सू. १,१०१)। अनिरुद्ध प्रभृति टीकाकारों ने "आप्त" से "अपौरुषय वेदवचन" ग्रहण किया है (तु. सां. सू. ५,४६; सां. का. ३;—'आप्तश्रुतिराप्तवचनन्तु', तथा इस पर वाचस्पति मिश्र)।

सांख्यसम्बन्धी विभिन्न परम्पराओं में तत्त्वों की व्यवस्था तथा विकास के विषय में भी पृथक्-पृथक् सूचनाऐं उपलब्ध होती हैं। पञ्चशिखाचार्य, जिसे निरीश्वरवादी सांख्य का आचार्य माना जाता है, के महाभारत आदि में उल्लिखित विचार अन्य सांख्य के विचारों से कई महत्त्वपूर्ण अंशों में भिन्न हैं। यथा वे मन के समान ही शक्ति को भी छठी कर्मेन्द्रिय मानते हैं (महाभारत १२,२१९)। अन्यत्र प्राप्त सूचनाओं से प्रतीत होता है कि वे तीस तत्त्वों को मानते थे। और भी अनेक प्रकार की विप्रति-पत्तियाँ पाई जाती हैं, जिनमें से कुछेक का उल्लेख हम अन्यत्र (विश्वज्योति, महाभारत अङ्क, 'महाभारत में सांख्य का स्वरूप' लेख में) कर चुके हैं तो भी इसमें सन्देह नहीं कि मूलरूप में सांख्य की जड़ें उप-निषदों में निहित हैं। किन्तु इस विषय में भी विभिन्न मत उभर कर सामने आते हैं।

बाल गंगाधर तिलक ने स्वरचित गीतारहस्य में यह विचार व्यक्त किया है कि सांख्यीय विचार-का स्रोत उपनिषदों में खोजना चाहिये।

किन्तु गार्वे सांख्य को "किसी विशिष्ट महापुरुष के ही मस्तिष्क की उपज' मानते हैं (द्र. की, थ सांख्य सिस्टम, पृ. ५८)। याकोबी भी इसी विचार के अनुयायी हैं, साथ ही उनकी यह भी धारण है कि मध्य (ईश०, कठ, श्वेता०, मुण्डक तथा महानारायण) तथा नवीन (प्रश्न, मैत्रायणीय तथा माण्डूक्य) उपनिषदें सांख्य की विचारधारा से प्रभावित हैं, जो कि प्राचीन (वृहदारण्यक, छान्दोग्य) उपनिषदों के पश्चात् अस्तित्व में आ चुकी थीं। उनके मत में सांख्य के जीव (पुरुष) प्राचीनतर उपनिषदों के विज्ञान-मय आत्मा से विकसित हुए हैं। किन्तु तात्त्विक भेद यह है कि इन जीवों को अनादि तथा अनन्त मान कर इनको ब्रह्म से उत्पन्न तथा उसी में लीन हो जाने वाले तत्त्वों के रूप नहीं माना, जबकि सांख्यों की 'बुद्धि' याज्ञवल्क्य के 'विज्ञानघन' आत्मा का ही रूपान्तर है। सांख्य-धारा का एक और महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त मानव जीवों तथा अन्य अभौतिक तत्त्वों के नानात्व तथा उनकी व्यक्तिगत अमरता के रूप में प्रकट हुआ। याकोबी के मतानुसार छान्दो (६.२) में प्रतिपादित 'सत् अपने तीनों घटकों (तेज, आप: तथा अन्न) सहित भौतिक पदार्थ हैं, जो सांख्य के तीन गुणों के आधारभूत तत्त्व हैं।

किन्तु कीथ ने इस मत का निराकरण इस युक्ति से किया है कि सांख्य को विशुद्ध, अमिश्रित भौतिकवादी विचारधारा से विकसित नहीं माना जा सकता। [इसका उदय ऐसे भौतिकवाद से मानना पड़ेगा, जिसका पूरक अध्यात्मवाद रहा होगा (सां. सिस्टम, पृ. २१–२२)।

कीथ के अनुसार सांख्य के महत्, अहंकार आदि विशिष्ट तत्त्व नहीं, अपितु उनके पूर्वलक्षण ही उपनिषदों में पाए जाते हैं। और यह पूर्वलक्षण भी सर्वप्राचीन वृहदारण्यक, छांदोग्य आदि में उपलब्ध नहीं होते, अपितु बाद में कठ, श्वेताश्वर आदि में ही प्राप्त होते हैं। यदि सांख्य-सिद्धान्त कठ, श्वेताश्वर प्रभृति सेश्वर उपनिषदों से भी विकसित हुआ था, तो भी सांख्यदर्शन आरम्भ से ही निरीश्वरवादी ही था (सां. सि. पृ. ५६,६०)।

किन्तु कीथ के कथन में 'वदतोव्याघात' दोष पाया जाता है। जब सांख्यसिद्धान्त कठ-प्रभृति से क्रमशः विकसित हुआ तो उसके सर्वथा विपरीत मार्ग पर चल निकलने का कारण तो बताना ही पड़ेगा। किन्तु ऐसे किसी कारण का कोई संकेत नहीं मिलता। अतः स्वाभाविक यही प्रतीत होता है कि आरम्भ में सांख्य सेश्वर ही था। यही कारण है कि न केवल भागवत, विष्णुपुराण तथा अन्य पुराणों में वर्णित सांख्य ही सेश्वर है, अपितु महाभारत में भी मूल सांख्य-सिद्धान्त सेश्वर ही हैं। डाह्लमान ने सांख्य के सम्बन्ध में एक भिन्न विचार व्यक्त किया है। वह कहता है कि वीरगाथाकाव्य में सांख्यदर्शन का प्राचीनतम रूप देखने को मिलता है जैसा कि डायसन (गेशिश्टे देर फिलॉसोफी १,३,२१ से आगे) हॉप्किन्स (ग्रेट एपिक, पृ० ६७) प्रभृति ने स्वीकार किया है। तथा वे वीरगाथाकाव्य को पूर्वपाणिनीय काल में पूर्ण हो चुका मानते हैं। कीथ ने उनके इस विचार का किसी विश्वसनीय साक्ष्य के अभाव के कारण निराकरण कर दिया है (वैदिक धर्म और दर्शन, भाग २, पृ० ६७२)। किन्तु डा० आद्याप्रसाद ने

कीथ के इस निराकरण का विरोध करते हुए यह दर्शाने का प्रयास किया है कि "महाभारत अपने वर्तमान में षष्ठी शताब्दी ई. पू. में उद्भूत बौद्धधर्म से पूर्व का है, और उसमें उपलब्ध सांख्यदर्शन का विवरण भी बौद्धधर्म के आविर्भाव से पर्याप्त पूर्व का है" (सां. द. ऐ. रूप. पृ० २३–२४)। हम इस स्थापना से सर्वथा सहमत हैं।

डाह्लमान के अनुसार भारतीय दर्शन की प्रथम अवस्था सर्गप्रक्रिया से सम्बद्ध उन ब्राह्मणवचनों में खोजनी चाहिये, जिनमें वास्तविक स्रष्टा के अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व का भी अनुमान लगाया जा सकता है। उसके अनुसार उपनिषदों की प्राचीनतम विचारधारा में एक ओर तो हमें आत्मा के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है, तो दूसरी ओर उनके विषय में भी जो आत्मा नहीं हैं, और दुःखमय हैं। तथा अधिकतर दार्शनिक रूप में यही विचार ब्रह्मविषयक सिद्धान्त के रूप में प्रकट हुआ जिसके पार्श्व में वह प्रकृति भी अवस्थित है, जिसमें विचार एवं कर्म का समस्त जगत् ही उन्डेल दिया गया है, जबकि ब्रह्म की सृष्टि की प्रत्येक क्रिया तथा विचार से अछूता रखा गया है। निर्वाण की प्राप्ति सभी प्रकार की भावनाओं के शमन तथा प्रत्येक अनुभवगम्य ज्ञान के निरास से सम्बद्ध है। इसी द्वैतवादी आधार पर के एक ओर तो सांख्य का प्रवर्तन मानते हैं तो दूसरी ओर वेदान्त का। संसार की वास्तविकता को अनुभव करने वाले विचारकों के लिये यह विचार असह्य हो उठा कि व्यक्ति की सत्ता कुछ भी नहीं और जो कि समष्टिरूप एक आत्मा वास्तविक सत्तावान् है, जो अनिर्वचनीय रूप में प्रकृति के सम्बन्ध में आने पर बुद्धि और अहङ्कार द्वारा असंख्य रूप धारण कर लेता है, जिनकी अपनी कोई सत्ता नहीं है, फिर भी उनकी सर्वव्यापकता तथा अपरिसीमता बराबर बनी रहती है'। इस गोरखधन्धे से निकलने के लिये वस्तुवादी सांख्य विचारकों ने असंख्य आत्माओं (पुरुषों) को मान्यता देना ही श्रेयस्कर समझा (द्र. कीथ वैदिक-धर्म०, भाग २, पृ. ६७२–७४)। किन्तु डाह्लमान जहां एक ओर प्रकृति के स्वतन्त्र रूप के विकास पर आवश्यकता से अधिक बल देता है, वहाँ दूसरी ओर केवल प्रकृति से उत्पन्न होने वाले जगदात्मा के रूप में ईश्वर के स्वरूप पर भी जोर देता है और इस तरह आत्मा के पार्श्व में प्रकृति को इस प्रकार खड़ा करता है जैसे वह स्वयं समस्त दृश्यमान जगत् की सत्ता की व्याख्या करने में समर्थ सत्ता हो। किन्तु उपनिषदों के सामान्य सिद्धान्त के विषय में बादरायण की व्याख्या ही ग्राह्य है कि ब्रह्म एक ऐसी सत्ता है जिस पर प्रकृति आश्रित है, किन्तु भ्रमात्मक नहीं है तथा जीवात्मा है, जो उपनिषदों के अनुसार अन्ततः ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। किन्तु ज्ञान के द्वारा ब्रह्म में लीन होने से पूर्व वास्तविक स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं (तु, डायसन, गेशिश्टे देर फिलॉसोफी १,३, २५९ तथा आगे; कीथ, वैदिकधर्म भाग २, पृ. ६७४)।

किन्तु कीथ का यह विचार सन्देहास्पद है कि सांख्य का क्रमिक विकास परवर्ती कठ और श्वेताश्वत्तर आदि उपनिषदों में ही दृष्टिगोचर होता है। हम देखेंगे कि बृहदारण्यक तथा छांदोग्य० में भी सांख्य के कुछ तत्त्वों के पूर्व लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। कठ तथा श्वेताश्वतर में तो सांख्य-सिद्धान्त पर्याप्त विकास को प्राप्त हो चुका है।

सांख्य के अनुसार प्रकृति और पुरुष मूलतत्त्व हैं। जैसा कि ऊपर देख चुके हैं पैंगिरहस्य-ब्राह्मण के अनुसार ऋग्वेद के 'द्वा सुपर्णा' मन्त्र (ऋग्वेद १, १६४-२०) में दो सांख्यीय तत्त्वों प्रकृति तथा पुरुष का संकेत मिलता है। इन में से 'प्रकृति' शब्द का प्रयोग किसी प्राचीन उपनिषद् में नहीं हुआ। (बृहदा० १, ४, ६) में केवल संकेत किया गया है कि यह जगद् केवल 'अन्न" और "अन्नाद' का ही बना हुआ है जहाँ 'अन्न' से सोम तथा 'अन्नाद' से अग्नि अभिप्रेत है। किन्तु इन्हीं अस्पष्ट शब्दों की व्याख्या (मैत्रायणीय० ६, १०) में 'भोग्य' और 'भोक्ता' की गई है 'तस्मात् त्रिगुणं भोज्यं, भोक्ता पुरुषोऽन्तःस्थः"।

(श्वेता० ४, १०) में तो प्रकृति को 'माया' भी कह दिया गया है तथा महेश्वर को मायी—मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'। यही मायावी महेश्वर समस्त विश्व का स्रष्टा है और दूसरा (जीव) माया से निरुद्ध होकर रहता है (वही ४, ९)। इस प्रकार प्रकृति शब्द का प्रयोग करते हुए भी यहां वेदान्त के सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया गया है, सांख्य का नहीं। 'माया' का सांख्य से दूर का भी सम्बन्ध नहीं। इसी 'माया' को 'देवात्म-शक्ति' (श्वेता० १, ३) भी कहा गया और प्रकृति को 'अव्यक्त' नाम दिया गया है जो स्पष्ट साख्यीय पारिभाषिक शब्द है (बृहदा० १, ४, ७. ५) में उत्पत्ति से पूर्व जगत् को 'अव्याकृत' कहा गया है, जो सांख्य में मूलप्रकृति की साम्यावस्था का नाम है। (कठ-१३, १०-११; २, ३, ७-८) में प्रकृति को 'अव्यक्त' शब्द से अभिहित किया गया है—

'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः" प्रकृति के लिये यह शब्द पश्चाद्वर्ती उपनिषदों में बहुत प्रयुक्त हुआ है। (श्वेता० १, १०; ६, १६) में प्रकृति को 'प्रधान' भी कहा गया है जो सांख्य में अत्यन्त प्रचलित है। मैत्रायणीय उपनिषद् तो बहुत पीछे की मानी जाती है तथा सांख्य के अत्यन्त विकसित रूप को प्रमाणित करती है, 'प्रधान' शब्द का प्रयोग करती है। किन्तु यहां भी 'प्रधान' या "प्रकृति" को सांख्य के समान स्वतन्त्र सता न मानकर वेदान्त कैं सिद्धान्त के अनुरूप ही ब्रह्म की कृति माना गया है। अन्नकामेनेदं प्रकल्पितं ब्रह्मणा' (मैत्राय ६, १२) शङ्कराचार्य के अनुसार (ब्रह्म० शां० भा० १,४,५) ही किसी समय (कठ १,३, १५) के वचन—अशब्दमस्पर्श की व्याख्या प्रकृतिपरक की जाती थी। तत्त्वसमास में इस की ऐसी ही व्याख्या उपलब्ध होती है।

प्रकृति से विकसित तत्त्वों का भी उपनिषदों में उल्लेख मिलता है। (श्वेताश्व० ६, १०) में कहा गया है—

"यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत्।" तन्तुओं से ऊर्णनाभ (मकड़ी) के समान उस एक देव ने स्वयं को प्रधान से उत्पन्न तत्त्वों से ढक लिया (तु० श्वेताश्व० ५, ३; ४, १०)।

(कठ १ ३, १०) में बुद्धि को मन से परे तथा महान् आत्मा (महत्तत्त्व) को बुद्धि से परे कहा गया है। यहां बुद्धि और महत्-तत्त्व में स्पष्ट अन्तर किया गया है जबकि (सांख्य-सूत्र १, ६१; सां० कारिका २२) के अनुसार प्रकृति से महान् की उत्पत्ति होती है।

यहां 'महान्'=बुद्धि। शङ्कर ने यहां उपनिषद् के 'महान्' शब्द का अर्थ हिरण्यगर्भ किया है, क्योंकि समस्त प्राणियों की बुद्धि का प्रत्यगात्मभूत होने से आत्मा महान् है अर्थात् 'अव्यक्त' से सर्वप्रथम उद्भूत तत्त्व हिरण्यगर्भ ही है; जो महान् आत्मा बोधाबोधात्मक है वह बुद्धि से भी परे है। सांख्यीय बुद्धि का प्रकृति की प्रथम विकृति के रूप में विकास निश्चय ही (कठ १, ३, ११) में अव्यक्त से महान् आत्मा के विकास में अन्तर्हित है (द्र० कठ० २, ३, ७; गीता० ३, ४२)। यह अव्यक्त तत्त्व शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से रहित अनादि, अनन्त, निश्चल (आत्मा ? प्रधान ?) तत्त्व है, जिसे जानकर पुरुष मृत्यु के मुख से छूट जाता है। इस में सन्देह नहीं कि इस विकासक्रम में बुद्धि की मूल-भावना ब्राह्माण्डिकीय भावना है। किन्तु सांख्य जैसे निरीश्वरवादी दर्शन में ब्रह्माण्डीय बुद्धि का कोई स्थान नहीं हो सकता था, क्योंकि उसके लिये ब्रह्माण्डीय पुरुष की कल्पना अपेक्षित थी। अतः सांख्य ने उस विशाल, असीम भावना को त्याग कर सीमित, संकुचित भावना का आश्रय लेकर उपनिषदीय 'महान्'—आत्मा को नवीन अर्थ प्रदान करके अपने सिद्धांत में टाँक लिया।

बुद्धि के अनन्तर विकसित तत्त्व को सांख्य ने 'अहंकार' का नाम दिया है। इस शब्द का प्रयोग (छान्दो० ७, २५) में व्यक्तिगत जीव प्रत्यगात्मा) ('मैं')" के लिये किया गया है—इसकी व्याख्या नहीं की गई। प्रश्न (४. ८) में 'अहंकार' शब्द सांख्यीय अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। वेदान्त में मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त को अन्तःकरण माना गया है, यद्यपि अहंकार और चित्त का बुद्धि तथा मन में हीं अन्तर्भाव कर लिया जाता है। तो भी प्रश्नोपनिषद् में जो गद्यात्मक उपनिषदों में सर्वप्राचीन मानी जाती हैं तथा सांख्यीय तत्त्वों का स्पष्ट प्रतिपादन करती प्रतीत होती है सूक्ष्म शरीर को "सङ्कल्पाहङ्कार-समन्वित" कहा गया है (५, ८), जहां 'अहङ्कार' निश्चय ही सांख्यीय अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सांख्य का 'सूक्ष्म' शरीर भी जिन १८ तत्त्वों से युक्त होकर संसार में आवागमन करता है, उनमें अहङ्कार भी एक अनिवार्य तत्त्व है। अहङ्कार के कारण ही प्रत्येक पुरुष स्वयं को दूसरों से भिन्न समझता है और समस्त सांसारिक क्रियाकलाप का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर संसार में महत्त्वपूर्ण व्यक्तिगत भूमिका का निर्वाह करता है। (मैत्रायणीय० ६, ५) में प्रजापति के शरीर की तीन चेतनावृत्तियों का उल्लेख किया गया है, जिनमें अहङ्कार भी है। यह बहुत पीछे की कृति मानी जाती है तथा सांख्य शब्दावली का प्रचुर प्रयोग करती है। उपनिषद में यह भी ब्रह्माण्डीय तत्त्व ही है किन्तु सांख्य ने इसे व्यक्ति तक ही सीमित देखा है। मुख्यतः इसी एक तत्त्व के कारण सांख्य को औपनिषदिक अद्वैतवाद से पृथक् त्रैतवाद या द्वैतवाद का नवीन मार्ग स्वीकार करना पड़ा। (सां० का १८) में पुरुषबहुत्व की सिद्धि के जो हेतु प्रस्तुत किये गए हैं, वे सभी अहङ्कार पर आश्रित हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने जन्म, मरण, इन्द्रिय-व्यवस्था तथा प्रवृत्तियों को अन्य व्यक्तियों से पृथक् अनुभव करता हुआ 'यह मेरा है' इस अभियान से आक्रान्त रहता है। अतः दूसरों से प्रत्येक बात में भेद का अनुभव करता है। इस अनुभव-जन्य तथ्य की सांख्य के वस्तुवादी आचार्य अवहेलना नहीं कर सकते थे। अतः उनको पुरुषबहुत्व का सिद्धान्त स्वीकार करना ही पड़ा।

(कठ० १, ३ १०) में तो इन्द्रियों से परे (श्रेष्ठः 'सूक्ष्म' {शङ्कर}) "विषयों" को और "विषयों"[२]
से 'परे' मन को कहा गया है । किन्तु वहीं अन्यत्र (२ ३ ७ में) इन्द्रियों से 'परे' मन को बताया गया
है। बीच के "विषयों" को उड़ा दिया गया है । किन्तु यदि विषय इन्द्रियों से 'सूक्ष्म' हैं, तो वागिन्द्रिय
का "विषय" के स्थान पर 'मन में" उपसंहार करने की बात क्यों कही गई है ? "यच्छेद् वाङ्मनसी
प्राज्ञः (कठ १, ३, १३)।

कीथ ने इसका अर्थ यह किया है—"In Concentration, therefore, speech with mind
is to be restrained in the knowledge-self, that is intellect..." (Samkhya System,
C. 9) जो ठीक नहीं है ।

कठ के इस वर्णन में अहङ्कार की चर्चा नहीं की गई । जबकि सांख्य में बुद्धि और मन के बीच
अहङ्कार का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व ही नहीं है, अपितु अपने सात्त्विक अंश में मन-सहित ग्यारह
इन्द्रियों का उपादान कारण भी है, तो दूसरी ओर अपने तामस अंश से पञ्च तन्मात्राओं का भी
उपादान कारण है । रजोगुण दोनों प्रक्रियाओं में सहायता प्रदान करता है ।

मन का कार्य इन्द्रियों द्वारा विषयों को प्राप्त करके उनके विषय में अपने संकल्प-विकल्पों को
अहङ्कार के माध्यम से बुद्धि तक पहुंचाना है, ताकि वह संकल्प-विकल्पों के विषय में पुरुष के चैतन्य के
प्रकाश में हनोपादानोपेक्षा-सम्बन्धी अन्तिम निर्णय कर सके । इन्द्रियों की सहायता के बिना भी मन
संकल्प-विकल्प करता रहता है, और इस प्रकार मानस प्रत्यक्ष के लिए अन्तःकरणीय इन्द्रिय ही कहलाता
हैं । यह ज्ञानकर्मोभयात्मक इन्द्रिय है । (सां. का. २७) । सात्त्विक अहङ्कार से मन के अतिरिक्त पाँच
ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पांच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनकी चर्चा प्रायः सभी उपनिषदों में की गई है ।
वेदान्त में इन्द्रियों को महाभूतों से उत्पन्न माना गया है (कठ. २, ३, ६ पर शांकर० भा०) । किन्तु
जैसे हम ऊपर देख चुके हैं कठ. (१, ३, १०) में रूपादि विषयों को चक्षुः आदि इन्द्रियों से सूक्ष्म कहा
गया है । किन्तु वहीं (२, ३, ७ में) मन को इन्द्रियों से सूक्ष्म बताया गया है । इन्द्रियों से सूक्ष्म तत्त्व के
रूप में "विषयों" का प्रतिपादन अन्यत्र कहीं नहीं किया गया । सांख्य में तो ऐसी बात की चर्चा ही नहीं
की गई । बहुत सम्भव है कि रूप, रस आदि 'विषय' ही सांख्य की "रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा" आदि का
आधार बने हों । कठ. उपनिषद् (१, ३, ४) में इन्द्रियों के अश्वों के रूप में वर्णित किया गया है और
विषयों को उनके "गोचर" (क्षेत्र 'मार्ग'—शङ्कर) । इन्द्रियों के द्वारा ही आत्मा विषयों को 'भोगता' हुआ
अपने को 'भोक्ता' मान लेता है । जब बुद्धिरूप सारथि (कठ. १, ३, ३) असंयत मन से युक्त होता है,
तो उसकी इन्द्रियाँ भी सारथि के अधीन दुष्ट घोड़े के समान असंयत हो उठती हैं । (कठ. १, ३, ५ तु.
गीता ३ ६) ।

प्रश्न उपषिद् के चतुर्थ प्रश्न में कहा गया है कि इन्द्रियों के मन में लीन हो जाने पर स्वप्नावस्था
होती है और सुषुप्ति की अवस्था में मन भी 'तेजस्' में प्रविष्ट हो जाता है । इन्द्रियों के मन में प्रविष्ट
होने की बात छान्दो. (६, ८, ६) में पहले ही कह दी गई थी । कठ. (१, ३, १३) में वाणी का मन में
उपसंहार करने का निर्देश दिया गया है, जहाँ वाणी अन्य सभी इन्द्रियों का उपलक्षण है (शां. भा.) ।

यद्यपि सांख्य में इस सब की चर्चा नहीं की गई तो भी इन्द्रियों तथा मन का परस्पर सम्बन्ध वहां भी वेदान्त में प्रतिपादित सम्बन्ध के समान ही वर्णित है।

तन्मात्राओं का उल्लेख भी यद्यपि अतिप्राचीन उपनिषदों में नहीं किया गया, तो भी पर्याप्त प्राचीन प्रश्न. (४, ८) में उस विषय की स्पष्ट चर्चा की गई है 'पृथिवी च पृथिवीमात्रा च' कौषीतकि. (३, ५) में 'भूतमात्रा' शब्द का प्रयोग किया गया है। यद्यपि 'तन्मात्रा' का प्रयोग नहीं किया गया, तो भी वाक् की तन्मात्रा नाम, ग्राण (=घ्राण) की तन्मात्रा गन्ध, चक्षु की रूप, श्रोत्र की शब्द, जिह्वा की अन्नरस, हाथों की कर्म, शरीर की सुखदुःख, उपस्थ की आनन्द तथा उत्पत्ति, पांवों की इत्या (गति) तथा प्रज्ञा की बुद्धि का वर्णन है। किन्तु मैत्रायणीय (३, २) में तो स्पष्ट 'तन्मात्रा' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। यद्यपि यहां कर्मेन्द्रियों का प्रतिपादन कुछ भिन्न प्रकार से किया गया है तो भी यह स्पष्ट है कि यहां इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श प्रभृति, "विषयों को ही उनकी तन्मात्रा कहा गया है। सां. का. (३८) में स्पष्ट ही पञ्चतन्मात्राओं को पञ्चमहाभूतों की प्रकृति कहा गया है। उपनिषदों में पृथिवी आदि के साथ 'मात्रा' शब्द के प्रयोग से प्रतीत होता है कि स्थूल भूतों का रूप मिश्रित माना जाता था। सृष्टि के त्रिवृत्करण का सिद्धान्त तो छान्दो. (६, ३) में प्रतिपादित किया गया है; बाद के वेदान्त में इसे ही पञ्चीकरण का उपलक्षण मान लिया गया। सांख्य में इसका कोई संकेत नहीं मिलता। वहां तो प्रत्येक महाभूत उसके त्रिगुणात्मक रूप, रस, गन्ध प्रभृत्ति की तन्मात्राओं से पृथक्-पृथक् उत्पन्न होता माना जाता है।

दश इन्द्रियां, पञ्च प्राण, मन तथा बुद्धि ये सत्रह तत्त्व मिलकर वेदान्त का लिंग' —शरीर बनाते हैं।

'लिङ्ग' शब्द का उपनिषदों में सर्वप्राचीन प्रयोग बृहदार० (४, ४, ६) में उपलब्ध होता है।

तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य।
प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम्॥
तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे······

अर्थात्—इसका लिंग अर्थात् मन जिसमें अत्यन्त आसक्त होता है, उसी को यह कर्म-सहित प्राप्त करता है। इस लोक में यह जो कुछ करता है, उस कर्म का फल प्राप्त करके उस लोक से कर्म करने के लिये इस लोक में पुनः आ जाता है·········.' यद्यपि यहां उपनिषद् में 'लिंग' शब्द की स्पष्ट व्याख्या नहीं की गई और इसलिये इसके अभिप्राय के विषय में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है (द्र. कीथ. सां. सिस्टम, पृ० १६), तो भी लिंगशरीर के जो लक्षण बाद में किये गए, उनकी मुख्य विशेषता इस श्लोक में स्पष्ट झलक रही है। लिंग शरीर कर्मवाहक का काम करता है और यहां इसी का संकेत किया गया है। कठ. (२, ३, ८) में 'अलिंग' शब्द का प्रयोग 'पुरुष' के विशेषण के रूप में किया गया है। शङ्कराचार्य ने इसे लिंगशरीर-रहित ही माना है—तल्लिङ्ग बुद्ध्यादि, तदविद्यमानस्येति सोऽयमलिंग एव।"

मैत्रायणीय० (६, १०) में 'लिंग' शब्द सांख्य के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है—

"प्राकृतमन्नं त्रिगुणभेदपरिणामित्वान्महदाद्यं विशेषान्तं लिङ्गम् ।"

तु. सां. का (४१)···"महदादिसूक्ष्मपर्यन्तं । संसरति निरुपभोगं
भावैरधिवासितं लिङ्गम् ।"

अर्थात्—'महत्तत्त्व से लेकर सूक्ष्म (तन्मात्राओं) तक (के १८ तत्त्वों का बना हुआ) भोग-रहित, (धर्माधर्म आदि) भावों से युक्त लिंग-शरीर गमनागमन करता रहता है।'

सांख्य के लिंग-शरीर के १८ अवयव ये हैं—दश इन्द्रियाँ, पांच तन्मात्राएँ, मन, अहङ्कार तथा बुद्धि। वेदान्त के पाँच प्राणों के स्थान पर सांख्य ने पञ्च-तन्मात्राओं को रखा है। वेदान्त में तन्मात्राओं को कहीं कोई स्थान नहीं दिया गया। सांख्य में तो लिंग शरीर का वही स्थान है, जो उपनिषद् में "पुरुष" का है। (कठ० २, १, १२)

वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में लिंग (सूक्ष्म)-शरीर की व्याख्या करते हुए सत्यवान् के विषय में महाभारत में कहे गये वचनों को उद्धृत किया है। 'अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्।' सांख्य तथा वेदान्त दोनों लिंगशरीर (सूक्ष्मशरीर) से एक ही प्रयोजन सिद्ध करते हैं। इसी सूक्ष्म-शरीर के द्वारा पुरुष संसार में विभिन्न योनियों में संसरण करता रहता है, क्योंकि इसी में धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, वैराग्य-अवैराग्य, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य सभी संगृहीत रहते हैं। इन्हीं के अनुसार, 'लिंग' से घिरा हुआ 'पुरुष' संसार में विविध योनियों में नाना भोग भोगता है। यह "लिंग" तन्मात्राओं (अविशेषों) या (विशेषों =सूक्ष्म शरीरों के) बिना निराश्रय नहीं रह सकता। मैत्रायणीय० (६, १९) में कहा गया है—

अचित्तं चित्तमध्यस्थमचिन्त्यं गुह्यमुत्तमम् ।
तत्र चित्तं निधायेत तच्च लिङ्गं निराश्रयम् ॥

'चित्त में अवस्थित चित्तरहित वह, जो अचिन्त्य, गुह्य, तथा सर्वोत्तम है, उसी में चित्त को लगावे, वही निराश्रय लिंग है।" इससे परस्पर आदान-प्रदान स्पष्ट प्रकट होता है। प्रकृति तथा इसका समस्त प्रपञ्च त्रिगुणात्मक कहा गया है। सत्त्वगुण शुक्लवर्ण का, रजोगुण रक्तवर्ण का तथा तमोगुण कृष्णवर्ण का है। इन तीनों वर्णों की चर्चा छान्दों. (६, ४) में की गई है। अग्नि का जो रक्तरूप है, वह तेज का है, जो शुक्लरूप है, वह जल का है और जो कृष्ण रूप है, वह अन्न का है। इसी प्रकार आदित्य, चन्द्रमा तथा विद्युत् के विषय में भी कहा गया है। वास्तव में ये तीनों रूप सत्य हैं, विकार तो केवल नाममात्र के हैं। विद्वानों का विचार है कि तीन गुणों के भिन्न-भिन्न रूपों की कल्पना के मूल में यही श्रुति निहित है। कठ. (४, ५) में तो सां. का. की प्रथम कारिका ही अपने मूल रूप में विद्यमान है। श्वेताश्व—(५, ७) में तो तीनों गुणों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा
प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः ।"

वह त्रिगुणात्मक, तीन मार्गों वाला विश्वरूप, प्राणी का स्वामी, अपने कर्मों के सहित संसार में विचरता है।"

अतः यद्यपि कठ तथा श्वेताश्व० में सांख्य के मूलतत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है तो भी वहां प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता रहते हुए भी उसका नियन्ता विश्वकृत, विश्ववेत्ता, आत्मयोनि, प्रधान तथा क्षेत्रज्ञ (जीव) का स्वामी तथा गुणेश्वर, ज्ञानस्वरूप, परमेश्वर माना गया है जो समस्त संसार की स्थिति, मोक्ष तथा बन्धन का हेतु है। (श्वेता० ६१६) मैत्रायणीय, (३,५) में न केवल तीनों गुणों की विशेषताएं बताई गई हैं, अपितु रुद्र, ब्रह्मा तथा विष्णु के क्रमशः तामस, राजस तथा सात्त्विक स्वभावों का बीज भी इन्हीं गुणों में निहित माना गया है (मैत्रायणीय, ५, २)। पुरुष इन तीन गुणों को अव्यक्त मुख मे भोगता है (वही. ६, १०)। इतना ही नहीं। श्वेता. (१.४-५) में तो सांख्यकारिका में वर्णित सभी सांख्यीय तत्त्वों का एकत्र परिगणन करके न केवल सांख्यसिद्धान्त के अत्यन्त विकसित रूप से परिचय का प्रमाण ही दिया है, अपितु सांख्यकारिका की (४६ से ५१) विवादास्पद कारिकाओं की आधारभित्ति भी प्रस्तुत कर दी गई है। श्वेताश्वर में तो इस प्रत्ययसर्ग का संकेतात्मक वर्णन ग्रन्थ के आरम्भ में किया गया है, जबकि सांख्य-कारिका में बुद्धि के विषय में पूरा विवरण देने के पश्चात् पुनः प्रत्ययसर्ग की भिन्न प्रकार से व्याख्या के औचित्य के विषय में सन्देह किया जा सकता है (कीथ, सांख्य सिस्टम, पृ० ६६-६७)। इस विचार में विश्वास के कारण हैं कि इन औपनिषदिक कारिकाओं के ही आधार पर सांख्यारिका में समानान्तर कारिकाओं का समावेश किया गया है। इनमें अनेक तत्त्व ऐसे हैं, जिन का सांख्य सिद्धान्त से प्रकट में कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता और इस संख्यात्मक तत्त्वों के स्वरूप के विषय में उसी प्रकार मतभेद है जैसे कि 'चत्वारि शृङ्गा' (ऋग०४,५८,३) के विषय में। सां. का. के रचयिता (प्रक्षेप्ता ?) ने इस अस्पष्टता का लाभ उठाकर इनका सांख्यकारिका में समावेश करके इन रहस्यात्मक तत्त्वों की सहायना से रचना के गौरव को बढ़ाने की चेष्टा की है।

सांख्य का पुरुष नित्य, ज्ञानस्वरूप (चिद्रूप), साक्षी, केवल, मध्यस्थ, द्रष्टा तथा अकर्ता है (सां. सू. ५,६५-८. किन्तु यह आनन्दस्वरूप नहीं (सां. सू. ५, ६६)। उपनिषदों में आत्मा के स्वरूप का वर्णन किया गया है उसे द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता (बृहदार० ३, ४, २), अन्तर्यामी, (बृहदा० ३,७:२३): अद्वय (वही० २, ४,१४), सत्य का सत्य (वही. २, ३, ६) कहा गया है। 'पुरुष' का सर्वप्राचीन प्रयोग ऋग्० (१०,१६०) में हुआ है, जहां वह न केवल जगत्स्रष्टा है अपितु जगत् का त्रैकालिक रूप पुरुषमय ही है (पुरुष अवेदं सर्वम् यद्भूतं यच्च भव्यम् (वही २)। धीरे-धीरे वैदिक ऋषियों ने व्यक्ति से आगे बढ़कर एक भावात्मक सत्ता का प्रतिपादन किया, जो सत्स्वरूप है (ऋग् ६,४४६; छान्दो० ६,२,१) वह परमतत्त्व ही जीवात्मा रूप में अग्नि, जल तथा पृथिवी रूपी देवताओं में प्रविष्ट हुआ है (छान्दो ६. ३,२)। वह परम तत्त्व पारमार्थिक दृष्टि से जीव से भिन्न नहीं है (तत्त्वमसि' छान्दो० ६,८-१६)। गहन; गूढ, बुद्धिरूपी गुहा में अवस्थित उस परमतत्त्व को इन्द्रियों से देखा नहीं जा सकता, केवल अध्यात्मयोग से जाना जा सकता है (कठ० २,२, वह धर्म, अधर्म, कार्य-कारण रूप प्रपञ्च से पृथक् कठ० १, ,४) अक्षर, अज, नित्य, शाश्वत तथा अनादि तत्त्व (कठ० १,२,१८), अणु से अणुतर महान् से महत्तर

(कठ० १, १२, २०; छान्दो० ३ १४, ३; श्वेताश्व ३, ६; ईशा ४, ५), सर्वव्यापक (कठ० १,२, २२) तत्त्व है, जिसे ब्रह्म कहा गया है। उसके ब्रह्माण्डीय रूप के अतिरिक्त उसकी सत्ता व्यक्ति के भीतर जीवात्मा के रूप में भी विद्यमान है, जो प्राणी के हृदयपुण्डरीक में अवस्थित है। मोटे रूप में उसे "अंगुष्ठमात्र पुरुष" कहा गया है—

"अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते एतद्वै तत्॥

(कठ० २,१,१२)

जो अंगुष्ठमात्रपरिमाण का पुरुष शरीर के मध्य में स्थित है, वह भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान का शासक है। जो उसे जानता है वह घृणा नहीं करता या विक्षुब्ध नहीं होता। वह धूमरहित ज्योति के समान है (वही १३)। वही भोक्ता, भोग्य तथा प्रेरक है (श्वेता० १,१२) वह माया से सन्निरुद्ध मायावी है (वही ४,९), जिसके अवयवों से यह समस्त जगत् व्याप्त है (वही ४,१०)।

सांख्य का पुरुष प्रकृति से सर्वथा स्वतन्त्र तथा असम्बद्ध तत्त्व है, अज्ञानवशात् स्वयं को 'भोक्ता तथा 'कर्ता' मान लेता है।

'गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः।'

(सां० का० २०)

"तथा प्राकृतिक गुणों का कर्ता होने पर भी उदासीन (पुरुष) कर्ता का प्रतीत होता है।" वास्तव में वह साक्षी अकर्ता, मध्यस्थ, द्रष्टा तथा केवल (प्रकृति से असम्बद्ध) है (सांख्य का० १९)। पुरुष के चैतन्य के कारण ही अचेतन प्रकृति चेतनावती प्रतीत होती है (सां० का० २०)

"तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावतीव लिङ्गम्।"

अतः प्रकृति पुरुष के संयोग से अचेतन (प्रकृति) चेतानवती सी प्रतीत होती है।

किन्तु श्वेता० में वह भोक्ता, विश्वकृद्, विश्वविद्, गुणेश, प्रभृति विशेषणों से अलंकृत होने के कारण वह सगुण तथा सर्वशक्तिमान् (श्वेता० ६,८) तथा गुणों का विनियोक्ता (श्वेता० ५,५) है। मैत्रायणीय में तो सांख्यसिद्धान्तों का प्रतिपादन अत्यन्त स्पष्ट रूप से किया गया है तथापि उसमें भी चेतनसत्ता को एक तथा जीवों को क्षेत्रज्ञ (मैत्रा० ५,४) कहकर शरीर में उसकी स्थिति को "बिन्दुरिव पुष्करे" (मैत्रा० ३,२) "कमल पर बूँद के समान" अर्थात् अनासक्त या अलिप्त बताया गया है। किन्तु साथ ही शरीर से सब कार्य कराने वाला भी वही 'अन्तः पुरुष ही है (३,३)। गुणसमूह से वहन किया जाता हुआ वह कलुषित, अस्थिर चञ्चल, स्पृहायुक्त, विह्वल तथा अभिमानी हो जाता है (मैत्राय० ३, २; ६ ३०); 'मैं' और "मेरे" के जाल में पक्षी के समान फंसकर तड़पता रहता है (वही० ३,२) तथा कमफलों से अभिभूत होकर विविध योनियों को प्राप्त करता है।

किन्तु, उपनिषदों में सर्वथा स्वतन्त्र सत्तावान् पुरुषों के बहुत्व को स्वीकार नहीं किया गया है। वस्तुवादी सांख्य ने सांसारिक विभिन्नता को वास्तविक स्वीकार करके अहंभाव (अहंकार) की प्रबलता तथा प्रतिव्यक्ति क्रियाकलापों तथा दुःखसुख की अनुभूतियों के भेद को देखते हुए पुरुष-एकत्व को

अव्यावहारिक तथा प्रत्यक्ष अनुभवविरोधी देखकर पुरुष बहुत्त्व का प्रतिपादन करके उपनिषदों से सम्बन्ध विच्छेद करके स्वतन्त्र मार्ग का अवलम्बन किया।

जननमरणकरणानां प्रतिनियमाद् अयुगपत्प्रवृत्तेश्च ॥
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥

(सां० का० १८)

जन्म, मरण तथा इन्द्रियों की व्यवस्था, एक साथ प्रवृत्ति के अभाव तथा गुणों के कारण पुरुषों की अनेकता सिद्ध होती है।

सांख्यीय पुरुष सांख्यदर्शन का अन्तिम चेतनतत्त्व है, जबकि उपनिषदों में ब्रह्माण्डीय चेतनसत्ता ब्रह्म को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। यद्यपि सां. का. तथा सां. सू. में ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया, तो भी महाभारत में सांख्याचार्य आसुरि ब्रह्म का प्रतिपादन करते दिखाए गए हैं।

यत् तदेकाक्षरं ब्रह्म नानारूपं प्रदृश्यते।
आसुरिर्मण्डले तस्मिन् प्रतिपेदे तदव्ययम् ॥

(म. भा. १२, २१८, १४)

वहीं जनक-पञ्चशिख ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं (म. भा. १२, २२१, १८)। अश्वघोष (बुद्धचरित १२, ६५) तथा चरक (शरीर० ५, १६) ने सांख्य-सिद्धान्त का वर्णन करते हुए ब्रह्म को परमगति माना है। पश्चाद्वर्ती प्रभाकर ने भी सांख्य के अनुयायियों को "ब्रह्मविदः" की संज्ञा दी है (बृहती १, १, ५; पृ० १२०)। इन सब संकेतों से प्रकट होता है कि सांख्यवादियों का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय ब्रह्म में विश्वास करता था।

सांख्य तथा उपनिषद् दोनों का चरम लक्ष्य सांसारिक दुःखों से मुक्ति है। किन्तु जहाँ उपनिषदों में मोक्ष का स्वरूप सच्चिदानन्द स्वरूप की प्राप्ति है, वहाँ सांख्य के अनुसार मोक्षावस्था में पुरुष को त्रिविध ताप से मुक्ति तो हो जाती है, किन्तु आनन्द की प्राप्ति नहीं होती (सां० सू० ५, ७४) 'नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मत्वात्'—अर्थात् 'आनन्द की अभिव्यक्ति मुक्ति नहीं है', क्योंकि चेतन आत्मा धर्म रहित होता है। इसी प्रकार विशेष गुणों के उच्छेद, किसी विशेष स्थिति, विषयवासना का उच्छेदमात्र, सर्वोच्छेद, शून्यावस्था आदि इन सभी को मोक्ष नहीं कहा जा सकता (सां० सू० ५, ७५–८५)।

उपनिषदों के अनुसार भी मुक्त आत्मा को आनन्द की प्राप्ति नहीं होती, अपने आनन्दस्वरूप की प्राप्ति होती है। मोक्ष कोई ऐसी नवीन स्थिति नहीं, जिसका पहले अस्तित्व नहीं था। अपितु अनादिकाल से वर्तमान, किन्तु अज्ञानवशात् अदृश्यमान स्थिति की प्राप्ति ही मोक्ष है (द० गौड० कारिका ४, ३०)। क्योंकि सभी आत्मा आवरणशून्य, स्वभाव से निर्मल, बुद्ध तथा मुक्त हैं, वे केवल जाग जाते हैं (गौड. का. ४, ९८)। हम सभी सदा मुक्त हैं, किन्तु अज्ञानवशात् जानते नहीं हैं। जैसे पृथिवी में गड़े हुए सुवर्ण के खजाने को उस स्थान से अनभिज्ञ पुरुष उसके ऊपर चलते हुए भी नहीं जानते, उसी प्रकार यह सारी प्रजा नित्य-प्रति ब्रह्मलोक को जाती हुई भी उसे नहीं पाती, क्योंकि वह

असत्य से उल्टी ओर ले जाती है (छान्दो० ८, ३, २; ७, २६, २)। "मैं ब्रह्म हूं" इस प्रकार का ब्रह्मात्मैक्य का अनुभव ही मुक्ति है। जो यह जानते हैं कि मैं "ब्रह्म हूँ" वह विश्वरूप बन जाता है; उसे देवता भी ऐसा होने से रोक नहीं सकते।

य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति।
तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशते। (बृहदार० १, ४, १९)।

जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म हो जाता है। यह ज्ञान ही मुक्ति है (मुण्डक ३, २, ९; यही परमानन्द है "एष एव परम आनन्दः" (बृहदार० ४, ३, ३३)।

जहां उपनिषदों में ब्रह्मात्मैक्य साक्षात्कार का ही नाम मोक्ष है, वहां सांख्य में 'सत्वपुरुषान्यतरख्याति, प्रकृति-पुरुष के भेद का ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। पुरुष जब जान लेता है कि प्रकृति जड़ है, मैं चेतन हूँ, हम दोनों में विशाल भेद है, जब उसे अपने महत्त्व की प्रतीति होती है और वह प्रकृति से विरक्त होकर मुख फेर लेता है और फिर कभी उसकी ओर प्रवृत्त नहीं होता। वह कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। किन्तु सां० का० (६२) में कहा गया है—

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥

अतः वस्तुतः किसी पुरुष का न तो बन्धन और संसरण ही होता है और न मोक्ष ही। अनेक पुरुषों के आश्रय में रहने वाली प्रकृति ही संसरसणरती है, बन्धन में पड़ी है और मुक्त होती है। इससे प्रकट होता है कि पुरुष के बन्धन और मोक्ष तथा संसरण सर्वथा अवास्तविक हैं। वह तो अज्ञानवश ऐसा मानने लगता है। वास्तव में तो वह सर्वथा असक्त है। इस विषय में कठिनाई यह है कि जब सांख्यीय पुरुष तथा प्रकृति में किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध ही नहीं, न ही उसे कोई वास्तविक दुःख है, न बन्धन है, न उसका अज्ञान ही वास्तविक है, न ही अज्ञान उस सम्बन्ध को उत्पन्न ही करता है और सम्बन्ध के अभाव में दुःख की उत्पत्ति भी सम्भव नहीं, तो फिर मोक्ष किसका? प्रकृति का? प्रकृति सर्वथा जड़ है, उसे, मोक्ष, बन्धन तथा सुखदुःख का अनुभव कैसे हो सकता है? किन्तु सां० का० (५५) में कहा गया है—"तत्र जरामाणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः", जो वास्तविक नहीं है। सांसारिक व्यवहार में आने वाली कठिनाई को कारिकाकार ने भांप लिया था, अतः उसने पंगु-अन्ध न्याय का आश्रय लेकर इस समस्या को सुलझाने का प्रयास किया था (कारिका २१)। किन्तु पंगु और अन्धा दोनों चेतन होने के कारण परस्पर सहयोग कर सकते हैं, किन्तु जड़ प्रकृति (अन्ध) तथा चेतन पुरुष (पंगु) में इस प्रकार का सहयोग सम्भव नहीं है। इन समस्याओं को सुलझाने में सांख्य असफल रहा है।

वस्तुवादी होने के कारण सांख्य ने सत्कार्यवाद का सिद्धांत स्वीकार किया है। इसका बीज भी उपनिषद् में विद्यमान है। (छां० ६, २, १-८) में कहा गया है 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्...' 'हे सोम्य! आरम्भ में यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था।' (तु० ऋग्० १०,७२,२; १०,१२९; श० ब्रा० ६,१,१,१; तै० ब्रा० २,२,९,१; छां० ३, १९, १; मैत्रायणीय ६, १७)।

इससे स्पष्ट है कि सांख्य के सभी मुख्य सिद्धांत उपनिषदों पर ही आश्रित हैं।

— — —

मेरठ विश्वविद्यालय
संस्कृत शोध-पत्रिका



The Marriage of Heaven and Earth in the Vedic Ritual

By : DR. SADASHIV AMBADAS DANGE

In the ऋग्वेद (RV) there are numerous places to show that the Vedic seers (and also the people) believed that Heaven and Earth are the Father and Mother. It is also well attested that these two were to be brought together for 'union' for the gain of rain, and it was one of the important exploits of the gods to bring them together. At certain places in the Rgveda there is trace of the belief that these two were together in close embrace, and the gods had to separate them. This particular myth (that of the H–E being in close embrace and the gods separating them) is common to folk-lore and is found in other lands also. Though this myth is quite prominent in the RV (II.12.2; VIII. 9; X.89.4 etc.), that of their marriage is not referred to in the RV. One of the most remarkable things about these two, forming a couple, is that they are referred to be full of the nourishing fluid. Thus they are called सुरेतसा पितरा (I.159.2); Indra is said to lead them for the enjoyment of retas (I. 155. 3 नि मातरा नयति रेतसे भुजे). Agni is said to cause to release the "milk" af the cow and the "manly fluid" (शुक्रम्) of the bull; here the couple is being presented zoomorphically. These references indicate the release of rain, which is believed to be the generative fluid. There are other clear references to the request of rain from them. The intimate relationship of a wife with her husband is reflected when the earth is said to send rain from her अभ्र, which is the activity of the sky or Heaven (V. 84.3, यत् ते अभ्रस्य विद्युतो दिवो वर्षन्ति वृष्टयः). Their bull is said to thunder (IV. 56.1 रुवद् ह उक्षा). The myth of the separation of Heaven and Earth and their union resulting in the genarative fluid (rain) are presented generally as two different experiences in the RV. At one place, however, there is the fusion of these two. At this place (VI. 70.1) they are referred to as the "milkers of honey" (मधु-दुघे) and 'gheeful" (घृतवती) and "having profuse generative fluid" (भूरि-रेतसा); and this is mixed with the thought of their separation (वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते). This cannot be taken as simply an accidental description. This point marks a step further than the myth of mere separation of the worlds, indicating that it is the separation that is necessary for these two to release the nourishing fluid by again uniting. The separation of the worlds, thus, has two aspects as we see them in the RV. In one, separation without rain is marked; and this is the myth from the experience of the gain of the first light, may be after the break of the day, when the

worlds are seen to be separated. This myth is like the myth of separation from ancient Egypt, where Shu separates his own son and daughter, the sky (female in this case) and the earth (the male), being called Nut and Seb respectively. Shu is the god of light, and the separation heralds the distinctness in the position of the sky and the earth. There is no indication of rain in this myth. But, here is another myth, from the Maoris of New Zealand. The myth is twofold. The earth and the sky, the arch parents lie in a close embrace; and the gods get produced inside; they get suffocated and devise a plan to separate the 'parents'; this is accomplished not by the god of light, as is the case with the Egyptian Shu. Here, the god is that of the forest, symbolised by a tree. He plants his head on the belly of the mother (earth) and stretches the father (sky) by his feet. He is still standing thiswise. The father, being sorry, weeps sometimes, that is rain. Here, there is the point of separation being necessary for rain, as is seen in the RV passage referred to last. It will be seen that the myth of separation and rain is later than the myth of mere separation; for rain is an occasional phenomenon, while the rise of the sun is a daily one. The rain and union motif gives rise to a further myth in the Vedic tradition; and this is of the marriage of the two.

It will be interesting to see how this myth enters the realm of rituals. The Ai. Br. (IV. 27) for example, relates the circumstances in which the marriage of H and E was performed. It says : "These two worlds were togetner; (somehow) they separated; it did not rain, nor was there anything falling. The five tribes were not in harmony. Thesc two (H–E) did the gods bring together. They two, coming together, got married by this देव-विवाह (तौ सं यन्ताव् ऐतम् देव-विवाहम् व्यवहेताम्). The consummation of देव-विवाह has two aspects. One is the performance of sacrifice in which the smoke is received by Heaven and from him rain is received by Earth (धूमेन इयम् अमुम् जिन्वति वृष्टस्यासव् इमाम्). The other aspect is the employment of proper सामन s. Earth quickens the yonder (Heaven) by the रथन्तर साम; the other one (Heaven quickens) her by the बृहत् साम. By that of नोधस् (RV. VIII. 88.1) she that one; by the श्येत (VIII. 49.1) that one her". There is another ritual-detail. It is said that this earth sends to the other one the smoke (of the sacrificial fire), while the other world sends this one the saline earth (salt, ऊषान्); for salt is nourishment (Ibid). Thus we have the following pairs in this descriptiou; correspondingly :

Male	Female	Surrounding
Heaven	Earth	Natural
बृहत्	Rathantara	Ritual (साम)
ऊषा: (salt) (semen)	smoke (offerings)	Ritual
नोधस	श्येत	Ritual साम)

It will be noted that the physical or cosmic marriage of H and E is sought to be brought about by ritual-aids. The same is noted at the Jai. Br., which has the following passage : "These two worlds, being together, separated; from them nothing fell; the gods and the men did they (thus) cause to perish; for, indeed, by gifts from here do the gods sustain, by those from there the men. The बृहत् and the रथन्तर spoke to each other, 'these our dear bodies (तन्वौ), with these two shall we get them (two, H and E) married. The श्येत (साम) was the dear body of अग्नि, the रथन्तर; the नौधस of the बृहत् With them (two) did they accomplish the marriage. Saline earth (salt, rain) did the other one send to this one, smoke this one to the other. Rain was the bridal surety (शुल्कम्) made from there to this one, the place of sacrifice (देव-यज्ञ) from here to the other one". (Jai. Br. I. 145). Here and at the passage from the Ai. Br., as these two (H-E) are married the words are used in the feminine case (असौ अमुष्यै इयम् अमुष्यै); cet. but they indicate simply the regions, and not the actual persons, H and E: the mixed concept of the sky also being the woman is present in the RV also (cf. the last passage ref. to) in the word रोदसी. Here, as in the previous example, the sacrificial place, including the fire-smoke-offering, stands for the earth, while rain and ऊषान् for Heaven. Probably, the feminine gender used for both is indicative of the ladies on both sides, rather than the bride (E) and the bridegroom (H). The Ai. Br. does not say that the other two साम are the "bodies" of the रथन्तर and the बृहत्. However, one thing is pretty clear at both the places. It is that to represnt the H-E substitutes in सामs were used; the first substitute being the रथन्तर बृहत् couple; the next was the श्येत-नौधस. This also shows that symbolic marriage of H-E was thought necessary, and even innovations in this method of साम couples were introduced. There are actually many साम couples of this sort; but it is not necessary to mention them here. The point is that, rain was believed to be due to the union of H-E and, in the ritual-atmosphere, it was accomplished with the employment of substitute couples, which, in this case are the सामs. Now, there is a very important reference to suggest a former couple that represented H-E, prior to the employment of the साम and it continued to be employed even with the साम couple. This was the मेन-मेना couple. The Jai. Br., which headlines the tradition of the साम, like the pancv. Br., refers to it and tries to devalue it :" They caused the Mena and the Mena to be married; hence, they (others rightly) say that मेनमेना are not to be married; it is, surely, the marriage of बृहद् रथन्तर that he accomplishes (Ibid, मेनामेनं वाव ते तद् व्यवहेताम्, तस्माद् आहुर्न मेनामेनं व्यूहम् इति बृहद्रथन्तरयोर्हं वा एष विवाहम् अभ्यारोहति). Here we come to a very interesting point. Who are the मेन and the मेना ? This has been a hard knot for scholars. But, before we examine the real nature of मेनमेना, let us bear in mind the expression from the Jai. Br. in this context : स ईश्वरः पराभवितो, which comes immediately after. This means that the मेनमेना couple, or the साम couple was to defeat the "Lord" ? If the whole effort was to gain rain, as we have seen already, this "Lord" can be none else than पर्जन्य who

controls rain but does not release it; or, the word ईश्वर may refer to an evil but potent power, which holds rain back, like the गन्धर्व विश्वावसु. The idea of defeating the rain-controlling god or causing his anger is also common in folklore, where unusual coupling is made which motif corresponds to the motif of incest (cf. यमयमी; or प्रजापति Daughter).

The word मेना occurs about six times in the RV, but the corresponding masculine form मेन does not occur in it. The word मेना indicates a girl, beautiful of form (cf. II. 39.2 where it comes as the standard of comparison for the two horses of the अश्विन's). In the dual, as in the case of the place noted above, once there is indication of auspicious girls (I. 95.6 उभे भद्रे जोषयेते न मेने), and the point is supported by the fact that the sky and the earth are compared to the मेने (dual, Ibid, 62. 7). In the rest of the the places (three in all) it comes in the singular; but only with Indra. At one place (I. 51. 13) he is said to have become the मेना himself); at another place the fact is repeated (X. 111. 3 आत् मेनां कृण्वन् अच्युतः). In the first place he is said to have become मेना for one वृषणश्व (मेनाभवो वृषणश्वस्य सुक्रतो), and this is famous in the ritual tradition (cf. आगच्छ वृषणश्वस्य मेने अहिल्यायै जार ect.)[6] In the last place there is a riddle-like expression. Indra is said to have made the मेना of the horse the mother of the cow (I. 121. 2 मेनाम् अश्वस्य परि मातरं गोः). सायण explains it that, Indra produced a cow from a mare (अश्वस्य मेना). This may be compared with the expression वृषणश्वस्य मेना, spoken for Indra. The मेना here and at the place just noted has the same concept. Both are the मेना of a horse; but at one place Indra himself becomes the मेना where Geldner understands it as a "female animal",[7] suggesting that Indra could take any form. This is true in one way. But मेना in almost all cases indicates a woman and not a female animal. Indra, moreover, is seen as taking the form of a woman,[8] and not that of a female animal. This should leave no doubt about the concept behind the word मेना. In other words, she was a woman, and from this angle, the मेना (masc.) spoken of by the Jai. Br. is Indra himself, the male counterpart of मेना. In this particular context (RV I. 121. 2) there is reference to the separation of the heaven and the earth in the first half (स्तम्भिद् ह द्याम्), with the image of the falling of the drops from the sky (धरुणं पृषायद्). The fact of the marriage of H-E is not clear here; but, other things are clear. If we now look back to the passage from ths Jai. Br. we could say, that the मेना (girl) and the मेना (Indra) together cause the separated parents, H-E, to release the heavenly spray; it is here that मेनामेनम् becomes clear. In plain words

मेना does not mean a 'female'; she was a ritual-woman, her male counterpart being the representative of Indra or the वृषणश्व (the sun). This was the ritual-couple to accomplish the marrige of H-E, and even to enact it. In the ritual-union, or marriage, of these two ritual-personae the union of H-E was believed to be accomplished; and this was necessary for the gain of rain. Menā is the "mother" of the cow, in the sense that she helps increase the breed of the cattle and of horses. The exact ritual-example of "the menā of the horse" (or of वृषणश्व) is to be seen in the ritual couple of the sacrificial horse and the महिषी in the horse-sacrifice.[9] The woman there, as at such rituals, represents the earth, and the horse the sun or heaven (प्रजापति acc. to some texts). The terminology मेनमेना went out of use, only the Jai. Br. mentioning it, but also indicating that it was actually the साम that were the the representatives of H-E, and not मेनमेना. But, the tradition continued the belief and practice of the marriage of the H-E by means of ritual make-belief marriages, where the earth was sometimes called इन्द्राणी (RV X. 86; Mait. Sam. III. 8. 4; काठक सं० VIII. 17. 62) and sometimes अहल्या. The 'marriage' between H-E was believed to be necessary for gaining rain, as is noted above. Thus, the वाज सं० (II. 16) has it that when the sacrificer desires rain, he should praise this way: "May you, H-E, Join together", and the शत० ब्रा० (I. 8.3:12) uses the mentra in a similar context and says, "When, indeed, the H-E unite, then it rains". On the basis of this belief, the Vedic ritual tradition invented many ritual-couples (mithuna), for rain and prosperity. One of the most eloquent couples is to be seen in the context of the ritual of Agnicayana, where the two bricks named रेतः-सिचौ are placed in the layer of the altar: with the following gloss, "Now, he places the रेतः सिचौ (semen-sprinklers); these two worlds are रेतः सिचौ; these two worlds sprinkle the 'nourishing generative fluid' रेतः; hence he (Agni) sprinkles smoke as the semen; thence comes rain" (शत० ब्रा० VII. 4.2.22)

Notes :

1. A. Seidenberg, "The separation of the sky and the Earth at Creation", **Folklore**, London, Vol. 70, 1959, PP. 477–82; Hocart, **Kingship**, London, 1927.

2. Rundle Clark, **Myth and Symbol in Ancient Egypt**, London, 1959, p. 48.

3. Andrew Lang, **Custom and Myth**, Vol. I, 1884, p. 46; also **Folk-lore of all Nations** under "zulu", where the myth is recorded; the names of the parents (H–E) are Rangi (sky) and Papa; also see J. Macmillan Brown, **Maori and Polynesia**, London, 1907.

4. For example we have the बृहत्-जगती couple (Jai. Br. III. 261), बृहत्-गायत्री (Ibid. 292) and so on; I am publishing a separate study of this motif.

5. Frazer, op. cit. mentions marriage of the sow and a cock in such rain-rituals to cause the anger of the high-god.

6. Sat. Br. III. 3.4.18 the full expression is, हरिव आगच्छ मेधातिथेर्मेष वृषणश्वस्य मेने गौरवस्कन्दिन् अहल्यायै जार" these are said to be his चरणानि, e. i. exploits, and must be uttered in rituals. The customs is reflected in the RV, though there is no mention of all these cf. also Jai. Br. I. 140 **isvaras tveva aprajapatir bhavitoh** : Ibid, **isvaro ha tusvarena yajamanasya pasun nis svaritoh** : also II. 237 **isvaro ·yajamanam purayus at pramathitoh**; it seems the **isvara** is siva himself, who was believed to be in the cloud and the lighting; cf. **namo meghyayaca namo Vidyutyayaca, Vaj. Sam. XVI**. 38: names, I. 51.13d विस्वेत्ता ते सवनेषु प्रवाच्या, serving as a sort of wordy charm; also cf. षड्विंश ब्रा० I. 1.16 where मेना is explained as मेनका; and she is said to be the daughter of वृषणश्व; this is rather a confusion. In the later पौराणिक tradition मेना comes as the daughter of हिमालय; she is different, obviously.

7. **Der Rigveda** I, p. 65, "Weibchen des Vrsanvasu".

8. Kathaka Sam. VIII. 4.79; for his other forms see **Dange, Legends in the Mahabharata**, Delhi, 1969, p. 170.

9. The horse is addressed as वृषन्; Taitt. Sam. VII. 4.19 वृषा वाम् अश्वो रेतो दधातु; also see वाज० सं. XXIII. 18 सम् अञ्जिम् चारय वृषन् ।

———

वैदिक में षष्ठी-प्रयोग की समीक्षा

रमेश कुमार लौ

संस्कृत वाक्यरचना में क्रिया के साथ अन्य पदार्थों का सम्बन्ध 'कारक' नाम से जाना जाता है। भाषाविज्ञान में कारक की दृष्टि से वाक्य का विश्लेषण उसकी आन्तरिक संरचना का अध्ययन माना जाता है।[1] विभक्तियाँ, इन आन्तरिक सम्बन्धों के वाह्य चिह्न मात्र हैं। अतः इन चिह्नों का प्रयोग बहुत लचीला है। एक ही कारक को प्रकट करने के लिये, अर्थविशेष अथवा पदविशेष के सांनिध्य के कारण भिन्न भिन्न विभक्तियों का प्रयोग प्रचलित हो गया है।

इसी उद्देश्य से आचार्य पाणिनि ने कारक और विभक्तियों का निर्देश पृथक् किया है। कारक विशेष में सामान्यतः प्रयुक्त होने वाली विभक्ति का निर्देश करके उस अर्थ में प्रयोग की जाती हुई अन्य विभक्तियों का भी निर्देश किया है। उदाहरणार्थ; कर्म कारक के अर्थ में द्वितीया विभक्ति सामान्यतः प्रयुक्त होती है। कर्म के अभिहित हो जाने पर प्रथमा का प्रयोग होता है।[2] गत्यर्थक धातुओं के कर्म में द्वितीया अथवा चतुर्थी का विधान है।

काल और मार्गवाचक शब्द में अगर फलप्राप्ति का अर्थ भी जुड़ा हो, तो तृतीया का ही प्रयोग होता है।[3] तुमुन् प्रत्यय का प्रयोग हटा लेने पर कर्म को चतुर्थी व्यक्त कर देती है। इसी प्रकार, तुमर्थ वाले भाववचन में भी चतुर्थी प्राप्त होती है।[4] सम्√ज्ञा के प्रयोग में द्वितीया के साथ तृतीया भी विहित है। कुछ अव्यय भी, जिन्हें पाणिनि ने कर्मप्रवचनीय के रूप में गिनाया है, विभक्तियों का नियमन करते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि संस्कृत वाक्य-रचना में विभक्तियों का प्रयोग केवल कारकार्थ में ही सीमित नहीं। एक ही विभक्ति अनेक अर्थों में प्रयुक्त होती है, जिनमें एक 'कारक' का अर्थ भी है। विभक्तियों का यह अर्थ-विकास संस्कृत के दीर्घकालीन और व्यापक व्यवहार का परिचायक है। कालक्रम के विभिन्न स्तरों पर इस अर्थ जुड़ने की परम्परा का विस्तृत अध्ययन अपेक्षित है। संस्कृत भाषा के विकास के अध्ययन में वेदकालीन प्रयोग की समीक्षा और भी अधिक महत्त्व रखती है।

प्रस्तुत निबन्ध में षष्ठी विभक्ति के विभिन्न अर्थों में प्रयोग का एक अध्ययन अभीष्ट है। अन्य विभक्तियों की तुलना में षष्ठी का क्षेत्र अधिक व्यापक है। षष्ठी किसी विशेष कारक का तो बोध नहीं कराती, परन्तु प्रायः सभी कारकों के अर्थ में हस्तक्षेप करती है। पाणिनि ने 'षष्ठी शेषे' (२·३·५०) कह कर इसकी व्याप्ति की ओर संकेत किया है। षष्ठी तत्पुरुष का क्षेत्र भी अति व्यापक है। उसी को मर्यादित करने के लिये पाणिनि ने कुछ 'शेष' अर्थों का परिगणन 'ज्ञोऽविदर्थस्य करणे' (२.३.५१) इत्यादि सूत्रों में किया है।

वैदिक गद्य का प्राचीनतम रूप 'तैत्तिरीय संहिता' एवं 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में निहित है। षष्ठी के विभिन्न अर्थों को प्रकट करने के लिये उदाहरण यहाँ तै. ब्रा. से उद्धृत किये गये हैं।

अन्य विभक्तियों के अर्थ में—

सामान्य सम्बन्ध के अर्थ को प्रकट करने के अतिरिक्त, षष्ठी, अन्य विभक्तियों द्वारा प्रकट किये जा रहे अर्थ को भी व्यक्त करती है। द्वितीया के अर्थ में—

(१) 'यावन्तोऽस्य भ्रातृव्या यज्ञायुधानामुद्वदताम् उपशृण्वन्ति। ते परा भवन्ति। [३.२.५.६)

—'उसके जितने भी विरोधी बजते हुए यज्ञ-पात्रों को सुनते हैं, वे परास्त होते हैं।'

यहां 'यज्ञायुध' कर्म में द्वितीया प्राप्त थी। इस प्रयोग से संकेत मिलता है कि उस समय 'उप√श्रू के कर्म में षष्ठी का व्यवहार प्रचलित रहा होगा।

(२) यज्ञ में प्रयुक्त सामग्री-वाचक कर्म के अर्थ में भी षष्ठी देखी जाती है—

'तस्य तेऽक्षीयमाणस्य निर्वपामि'। (३·३·३·५)

—'कभी क्षय न होने वाले तुम्हें मैं भेंट चढ़ाता हूँ।'

(३) खाने पीने के अर्थ वाली धातुओं के कर्म में—

'तासां जग्ध्वा रुप्यन्त्यैत्।' (२·१·१·२)

—'उन (वनस्पतियों) को खाकर वह दर्द से तड़पती हुई आयी।'

'यद् वाजपेययाज्यनवरुद्धस्याश्नीयात्'। (१·३·८·१)

—'यदि वाजपेय यज्ञ करने वाला (यज्ञ के लिये) न विधान किये गये अन्न को खा ले।'

यदा हि प्रजा ओषधीनामश्नन्ति। (३·२·५·७)

—जब लोग पेड़ पौधे ही खाने लगते हैं।'

जुष् के योग में भी, यथा—

'इन्द्राग्नी छागस्य वपाया मेदसः जुषेतां हविः। (३·६·८·१)

—हे इन्द्र और अग्नि, तुम दोनों बकरे की चर्बी की हवि का सेवन करो।'

पुरोडाशस्य जुषतां हविः' (३·६·८·२)

—'पुरोडाश की हविः का सेवन करो'।

हविर्वाचक कर्म में षष्ठी का विधान पाणिनि द्वारा 'प्रेष्य' और 'अनुब्रूहि' क्रियाओं के सम्बन्ध में किया गया है (२·३·६१)। इनमें प्रेष्य का प्रयोग तै. ब्रा. में नहीं मिलता। 'अनुब्रूहि प्रयोग दो बार (१·६·६·१; ३·३·७·१) हुआ है, परन्तु उन वाक्यों में कर्म का उल्लेख ही नहीं हुआ। इन दोनों क्रियाओं का प्रयोग शतपथ ब्राह्मण में बहुल है।

(४) कृत् प्रत्ययों के योग में कर्ता और कर्म में आने वाली षष्ठी का पाणिनि ने उल्लेख किया है। यथा—

'प्रिये देवानां परमे जनित्रे'। (३·७·१·४)

—'देवों को जन्म देने वाले और परम प्रिय (यज्ञ) में।'

ऐसी षष्ठी के अपवाद के रूप में निम्नलिखित उदाहरण विशिष्ट है:

'त्वयैनानाख्यातारः' (२·३·११·४)

—'इन्हें (इन यज्ञों को) वे तुम्हारे (नाम से) बुलायेंगे।'

पाणिनि ने कुछ कृत्-प्रत्यय गिनाये हैं, जिनके साथ षष्ठी का प्रयोग नहीं होता[५]। तै. ब्रा. के एक वाक्य में क्त-प्रत्ययान्त के योग में भी षष्ठी प्रयुक्त हुई है :

'जितो वै ते लोकः' (३·१०·६·१३)

—'तुमने लोक जीत लिया।'

(५) प्रभुत्व द्योतक √ईश के कर्म में[६]—

'यो राय ईशे।' (२·८·१·४)

—जो धनों पर शासन करता है।'

'दीर्घायुत्वस्य हेशिषे'। (३·७·६·२२)

—'दीर्घ जीवन प्रदान करने में तुम्हीं समर्थ हो।'

(६) √द्विष् के शतृ-प्रत्ययान्त रूप के कर्म में[७]—

द्विषन्तं मम रन्धयन्।' (३·७·६·२३)

—'मुझ से द्वेष करते हुए को रौंदते हुए।'

'द्विषन् मे बहु शोचतु'। (३·७·६·१६)

—मुझे से द्वेष करता हुआ (व्यक्ति) बहुत पछताए।'

(७) हिंसार्थक प्र√हन् के कर्म में[८]—

'शुनश्चतुरक्षस्य प्रहन्ति' (३·८·४·१)

—'चार आँखों वाले कुत्ते को मारता है।'

तृतीया के अर्थ में—

(१) √हु के करण में :

पाणिनि ने हु के कर्म में द्वितीया और तृतीया के प्रयोग का उल्लेख किया है।[९] ब्राह्मण ग्रन्थों में यहाँ षष्ठी के प्रयोग भी दृष्टिगोचर होते हैं। यथा —

'अन्नस्यान्नस्य जुहोति।' (१·३·८·१)

—'कई प्रकार के अन्न से हवन करता है।'

'सर्वस्य समवदाय जुहोति। (१·३·८·२)

— 'इकट्ठा मिलाकर वह सबसे हवन करता है।

(२) अभि √सिञ्च् के करण में—

'अन्नस्यान्नस्याभिषिञ्चति। (१·३·८·२)

—'कई प्रकार के अन्न से छिड़काव करता है।'

(३) 'पूर्ण' के करण में—

'इयं स्थाली घृतस्य पूर्णा।' (३·७·६·११)

—'घी से भरी यह बटलोई।'

'देवा अपश्यं चमसं घृतस्य पूर्णम्।' (१·४·६·१)

—'घी से भरे चमस पात्र को देवों ने देखा।'

चतुर्थी के अर्थ में—

वैदिक में चतुर्थी और षष्ठी का विपर्यय प्रायः देखा जाता है। पाणिनि और कात्यायन दोनों ने इनके सम्बन्ध की ओर संकेत किया है।[१०] तै. ब्रा. के निम्नलिखित वाक्य इस सम्बन्ध को प्रमाणित करते हैं।

'तेन सोऽस्याभीष्टः प्रतिः।' (१.१.१०.५)

—'इसीलिये वह उसका प्यारा चहेता बनता है।'

यद्यपि इस वाक्य में षष्ठी प्रयुक्त है, सामान्यतः लालसा या पसन्द करने वाले के अर्थ को व्यक्त करने के लिये चतुर्थी का ही प्रचलन था। अतः पाणिनि ने 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः'। १.४.३३) और 'स्पृहेरीप्सितः' (१.४.३६) में सम्प्रदान होने का निर्देश किया है।

षष्ठी के स्थान पर चतुर्थी का प्रयोग अधिक मिलता है। यथा :

'पत्नियै गोपीथाय' (२.१.३.१)

—'पत्नी की रक्षा के लिये'—

निम्नलिखित वाक्य में एक साथ दोनों विभक्तियों का प्रयोग द्रष्टव्य है :

'धेन्वै वा एतद्रेतः। यदाज्यम्। अनडुहस्तण्डुलाः। (१.१.६.५)

—'यह जो घी की आहुति है, यह तो गौ का रज है और चावल बैल का वीर्य है।'

निर्वचनार्थ प्रस्तुत पदों में भी षष्ठी के स्थान में चतुर्थी मिलती है—

'तत्पृथिव्यै पृथिवित्वम्……तद्भूम्यै भूमित्वम्। (१.१.३.७)

—'यही पृथिवी का पृथिवीपन (अर्थात् उसका व्युत्पत्तिनिमित्त) है, और यही भूमि का भूमिपन है।'

कामना व्यक्त करने के अर्थ में भी यह विभक्ति-विपर्यय उपलब्ध होता है—

यां कामयेत राष्ट्रमस्यै प्रजा स्यादिति। (१.७.८.७)

—'जिस स्त्री के लिये चाहे कि राष्ट्र इसकी सन्तान बन जाये।'

पञ्चमी के अर्थ में :

एक स्थान में √सू के साथ षष्ठी का प्रयोग उल्लेखनीय है—

'अपामेवैतेन घृतस्य सूयते'। (१.३.९.२)

—'इस प्रकार यह (अतिग्राह्य) जल और घी से पैदा हुआ है।'

'अपीव हि देवतानां सूयते' (वही)

—'मानो वह भी देवताओं से पैदा हुआ हो।'

'इस वाक्य के सम्बन्ध में चतुर्थ्यर्थ षष्ठी के प्रयोग की डा. सुकुमार सेन की धारणा चिन्त्य प्रतीत होती है।[११]

सप्तमी के अर्थ में :

अनादर के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग तै. ब्रा. में उपलब्ध नहीं होता, परन्तु निर्धारण के अर्थ में सप्तमी के स्थान में षष्ठी के निम्नलिखित प्रयोग उल्लेखनीय हैं—

'अन्नादो देवानां स्याम्' (३·१·४·१)

—'देवों में मैं अन्न खाने वाला बनूँ।

'भगी श्रेष्ठी देवानां स्याम् (३·१·४·१०)

—'देवों में मैं ऐश्वर्यशाली श्रेष्ठ बनूँ।'

भावे सप्तमी के स्थान पर भावे षष्ठी के अधोलिखित प्रयोग द्रष्टव्य हैं—

'तस्य तेपानस्य सप्तात्मानो देवता उदक्रामन्। (३.८.१०.१)

—'उसके तप कर चुकने पर, सात प्रकार के देवता ऊपर उठे।'

अग्नेः सृष्टस्य यतो विकङ्कतं भा आर्च्छत्। (१.१.३.१२)

—'अग्नि के उत्पन्न हो जाने के बाद चलने पर, (उसकी) आभा विकङ्कत (वृक्ष) तक पहुँची।'

उपर्युक्त प्रकार से अन्य विभक्तियों के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग मिलता है। सम्बन्ध मात्र को व्यक्त करने के लिये सामान्यतः षष्ठी का प्रयोग तो स्पष्ट है ही, पर ऐसे प्रयोग में कभी कभी वाक्यार्थ के अस्फुट रहने की शंका होती है। ऐसा ही एक उदाहरण निम्नलिखित है—

नास्यात्मनो मीयते। य एवं वेद। (३·२·२·५)

—'जो ऐसा जानता है, उस व्यक्ति का स्वरूप मापा नहीं जा सकता।' (यह इस वाक्य का सम्भावित अर्थ है।)

'अतसर्थ' प्रत्ययों के योग में—

दिशा अथवा स्थान का बोध कराने वाले कुछ ऐसे अव्ययों का निर्देश पाणिनि ने 'अतसर्थ' कहकर किया है, जिनके योग में पञ्चमी के स्थान पर षष्ठी होती है।[१२] तै. ब्रा. में इस प्रयोग के उदाहरण निम्नलिखित हैं—

'वायुमेवास्य परस्ताद् दधात्यावृत्त्यै।' (३·९·४·४)

—'वायु को इसके परे ही रखता है, जिससे कि वह लौट सके।'

'उपरिष्टादाषाढानाम्। अवस्ताच्छ्रोणायै।' (१·५·२·३)

—'आषाढा (नक्षत्र) के ऊपर (और) श्रोणा के (नक्षत्र) के नीचे।'

इस वाक्य में 'श्रोणा' में षष्ठी के स्थान पर चतुर्थी का प्रयोग विशेष उल्लेखनीय है।

'पुरः' अव्यय का प्रयोग तै. ब्रा. में केवल मंत्र भाग में ही हुआ है। पुरः के साथ षष्ठी का ही प्रयोग मिलता है—

'वृषेन्द्रः पुर एतु नः।' (३·७·११·४)

—'वीर्यवान् इन्द्र हमारे आगे चले।'

'अग्नेरग्ने पुरो अग्निर्भवेह। (१·१·७·१)

—'हे अग्नि, इस (गार्हपत्य) अग्नि के आगे तुम अग्नि (बनकर) रहो।'

केवल एक प्रसङ्ग में पुरः के साथ द्वितीया का प्रयोग मिलता है, पर यह प्रयोग असन्दिग्ध नहीं है—

'इन्द्र शत्रून्पुरो अस्माक युध्य।' (२·४·७·४)

—'हे इन्द्र, तुम हमारे शत्रुओं के सामने युद्ध करो।' (यदि 'पुरः' का सम्बन्ध 'अस्माक' से मानें

तो अर्थ होगा—'हमारे आगे (रहकर) शत्रुओं से लड़ो।' इस स्थिति में √युध के साथ 'शत्रून्' में द्वितीया का प्रयोग विचारणीय है।)

इस प्रकार विविध अर्थों में षष्ठी का प्रयोग वैदिक भाषा में उसके अधिक व्यापक प्रयोग का परिचायक है। इस दृष्टि से, वैदिक साहित्य के अन्य ग्रन्थों से भी प्रयोग संकलन कर तुलनात्मक समीक्षा महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी।

—: ० :—

सन्दर्भ :—

सामान्य—प्रस्तुत निबन्ध लेखक के पी. एच. डी. (मेरठ) के अप्रकाशित शोधप्रबन्ध—'The language of the Taittiriya Brahmana: A Critical Study (1975) के एक अंश पर आधारित है।

संक्षेप—तैत्तिरीय ब्राह्मण—तै. ब्रा.

पाणिनि कृत अष्टाध्यायी—पा०

(1) द्र०—H. S. Ananthanarayana—
'The Karaka Theory and case Grammar.
—Indian Linguistics, vol 31 (1970).

(२) पाणिनि ने प्रतिपादिकार्थ में प्रथमा का
उल्लेख किया है, द्र. पा. २.३.४६.

परन्तु इसके प्रयोग का वर्णन हम इस प्रकार भी कर सकते हैं कि प्रथमा कर्तृवाच्य में कर्त्ता के अर्थ में और कर्मवाच्य में कर्म के अर्थ में प्रयुक्त होती है।

(३) पा० २·३·६

(४) पा० २·३·१४·१५.

(५) पा० २·३·६५,६६.

(६) पा० २·३·५२.

(७) पा० २·३·६६ पर वार्तिक—'द्विषः शतुर्वावचनम्।'

(८) पा० २·३·५६. यहाँ हन् का परिगणन नहीं है।

(९) पा० २·३·३.

(१०) पा० २·३·६२ तथा वार्तिक—'षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या।'

(११) द्र०—'The Use of the Cases in Vedic Prose'
—ABORI, vol. IX.

(१२) पा० २·३·३०.

—: ० :—

आत्मानं विजानीयात्

आचार्यं डॉ० रमेशचन्द्र शुक्लः

संसारस्य सकलेष्वपि पदार्थेषु योऽस्ति व्याप्तः; सर्वांश्च विषयान् स्वकीये रूपेऽन्तर्भावयति यः अखिलांश्च तानुपभुङ्क्ते अनारतञ्च निरन्तरं स्वां सत्तां निदधाति यः—स 'आत्मा' इत्युच्यते। कठोपनिषदो भाष्यं कुर्वाण आचार्यशङ्कर आह—

यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते॥

तस्यामेवोपनिषदि 'क आत्मा' इत्येतस्यां जिज्ञासायामभिहितम्—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

सर्वत्रैव व्यापकत्वात् सः सूक्ष्मादपि सूक्ष्मतरः; अनन्तत्वात् स महतोऽपि महीयान्; स धारणावत्यां मत्यामवतिष्ठते; कामशोकादिविवर्जितो वैराग्यभाग् योगी तदीयं महिमानं सर्वत्र प्रेक्षते—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥ (कठ० २।२०)

भगवद्गीता चात्मानमधिकृत्य ब्रूते—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ (२।२३)
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ (२।२४)
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते॥ (२।२५)

महर्षिभिश्चैतन्यस्य चतुर्विधत्वं प्रतिपादितम्। तत्राद्यानि त्रीणि चैतन्यानि सन्त्यवराणि। अन्त्यं तुरीयं चैतन्यमुत्तमम्। आद्यानि त्रीणि चैतन्यानि इमानि—१. शरीरचैतन्यम्, २. स्वप्नचैतन्यम्, ३. सुषुप्तिचैतन्यम्। एभ्यस्त्रिभ्योऽपि पृथगेवास्त्यात्मचैतन्यम्। न शरीरमात्मा, न स्वप्नचैतन्यमात्मा, न च सुषुप्त्यां विद्यमानं चैतन्यमेवात्मेत्येतदवगमयितुं छान्दोग्योपनिषद् इन्द्र-विरोचनाख्यानकं प्रस्तुतीकरोति। तेषां त्रयाणामपि चैतन्यानामात्मत्वं प्रत्याख्यायोपाधिरहितशुद्धचैतन्यस्यात्मत्वं प्रतिपाद्य तस्य तद्रूपत्वं तत्र निरूपितम्। माण्डूक्योपनिषदि आत्मा 'तुरीय' इत्येतेन नाम्नाभिहितः। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयस्तस्यात्मनश्चतस्रोऽवस्थाः सन्तीति तत्रोक्तम्। जाग्रद्दशायामात्मा बाह्यानि वस्तून्यनुभवति; स्वप्नावस्थायामाभ्यन्तरं मानसं जगदनुभवति; सुषुप्त्याञ्च सः स्वकीयमानन्दस्वरूपमेवोपभुनक्ति। एतास्तिस्रोऽप्यवस्थाः सन्त्यात्मनोऽपरावस्थाः। जाग्रदवस्थागतत्वं तदीयं 'विश्व' इत्येतेन, स्वप्नावस्थास्थत्वं तस्य 'तैजस' इत्येतेन, सुषुप्तिगतत्वञ्च तस्य 'प्राज्ञ' इत्येतेन व्यपदेशेन व्यपदिश्यते। तस्यामेवोपनिषदि स आत्मा—

'नान्तः प्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्
अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं
प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥"

कोऽयमात्मेत्येतस्यां काङ्क्षायामैतरेयोपनिषदाह—

"......येन वा रूपं पश्यति येन वा शब्दं शृणोति येन वा गन्धमाजिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु विजानाति" (ऐ० उ० अ० तृ०)

न्यायदर्शनमात्मानं शरीरेन्द्रियमनोभ्यो व्यावर्त्य तल्लक्षणं करोतीदम्—

"इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्"

एतेषु षट्सु गुणेषु त्रयो ज्ञानेच्छाप्रयत्ना आत्मनः, किञ्च सुखदुःखद्वेषा जीवे दृश्यन्ते। गुणाः षडेते यस्याश्रिताः स गुणी (द्रव्यम्) आत्मेति कथ्यते।

न्यायवैशेषिकयोरुभयोरप्यात्मनि तुल्यमेव मतम्। वैशेषिके आम्नातम्—आत्मा नित्यद्रव्यत्वेन मतः। तत्र बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारादिगुणानामधिवासात्। इच्छासुखप्रवृत्तिज्ञानादिविभिन्नत्वादात्मनो नैकत्वं मतम्। लोकव्यवहारानुरोधेनाप्यात्मनस्तदनेकत्वमनुमनुते।

सांख्यदर्शनं पुरुषस्य—आत्मनः—त्रिगुणातीतत्वविवेकित्वविषयित्वविशेषत्वचेतनत्वाप्रसवधर्मित्वोपपादनपूर्वकं चैतन्यं न तस्य गुणोऽपितु रूपमेवेति प्रतिपादयति। तत्र तदीयमिदं मतम्—'सः शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिभिन्नः। स ज्ञातृरूपेणावतिष्ठते। न भवति स ज्ञानगोचरः। न स आनन्दस्वरूप आनन्दचैतन्ययोः भिन्नत्वात्। सोऽस्ति द्रष्टा। तदीयज्ञानप्रकाशः शश्वत् सन्तिष्ठते। तस्य (ज्ञानस्य) विषया एव परिवर्तन्ते। न तस्मिन् (पुरुषे) कापि क्रिया प्रवर्तते। अस्ति स निष्क्रियः। सर्वविषयागोचरः सः। सुखदुःखादिकानि शरीरमनोबुद्ध्यादीनां धर्माः। निर्विकारचेतनपुरुषस्य सद्भावे किं मानमित्यत्र सांख्यकारिकायामुक्तम्—

"संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥"

योगदर्शनस्य पुरुषमुद्दिश्येयं मान्यता—

पुरुषो निसर्गतः शुद्धश्चैतन्यरूपः। शरीरमनोबन्धननिर्मुक्तः। अज्ञानावस्थायां स भवति चित्तसम्बद्धः। प्रकृतिजन्यत्वाच्चित्तस्य, तदचेतनम्। परं पुरुषप्रतिबिम्बापत्या चेतनमिव प्रतीयते। पदार्थेन सह सम्बन्धे सति चित्तं तद्रूपमाददाति। पुरुषः पदार्थस्वरूपज्ञानं चित्तस्य तेभ्यः परिवर्त्तनेभ्यः कुरुते यानि वृत्तय इत्येतं व्यपदेशं भजन्ते। यथा सरिद्वीचिषु प्रतिबिम्बतो विधुः स्थितोऽप्यस्थितः प्रतिभासते तथैव परिणामशीले चित्ते प्रतिबिम्बितः स्वतोऽपरिणामशाली पुरुषः परिवर्तनशीलः प्रतीयते।

मीमांसायामात्मानमधिकृत्यैते विचाराः प्राप्यन्ते—

आत्मा कर्ता भोक्ता चास्ति। व्यापकः सः। प्रतिशरीरं भिन्नश्च सः। समवाय सम्बन्धेन तत्र (आत्मनि) ज्ञानसुखदुःखेच्छादिगुणा वसन्ति। आत्मा ज्ञानसुखादिरूपभाक् न। तत्र क्रियायाश्चास्तित्वं दृश्यते। आत्मनि परिस्पन्दो न, परं परिणामः प्राप्यते। कुमारिलमतेनात्मा परिणामशीलोऽपि नित्यः पदार्थः। तस्य चिदचिदंशद्वयवत्वात्, सः चिदंशेन ज्ञानमनुभवति परमचिदंशेन परिणमते। आत्मनश्चैतन्यस्वरूपत्वं न कुमारिलोऽभ्युपगच्छति। स तस्य चैतन्यविशिष्टत्वमनुमन्यते। अनुकूलायां परिस्थित्यां (शरीरविषययोः

संयोगे सति) आत्मनि चैतन्यमुदेति, परं स्वप्ने विषयसम्पर्काभावादात्मनि चैतन्यस्याभावः सञ्जायते। तदेवमात्मा जडोऽजडश्च। प्रभाकर आत्मनि क्रियावत्तां नाभ्युपयाति। आत्मनो मानसप्रत्यक्षगम्यत्वं कुमारिलो मनुते। परं प्रभाकरस्तस्याहंप्रत्ययवेद्यत्वं परिपुष्णाति।

आत्मा ज्ञानं ज्ञाता च वर्तते। न वस्तुतो ज्ञाता ज्ञानाद् भिन्नः। ज्ञेयपदार्थोदये सति ज्ञानमेव ज्ञातृत्वेन प्रकटीभवति। ज्ञेयाभावे कुतो ज्ञाता। एकमेव ज्ञानं कर्तृत्वेन कर्मत्वेन च संयुतं भूत्वा भिन्नमिव प्रतिभासते। वस्तुतस्तु तदभिन्नमेकमेव। आत्मा आत्मानं जानातीत्यत्र य आत्मा कर्ता स एव कर्म। अवस्थाविशेषे तत् क्वापि कर्ता क्वापि च कर्मेति व्यपदिश्यते। एतेनात्मनो ज्ञानादपृथक्त्वं सिद्ध्यति। एतद्विधा विचारा अद्वैतवादिनि वेदान्ते लभ्यन्ते।

आत्मा क इत्यत्र चार्वाकेषु मतान्येनकानि सन्ति। केचन शरीरं, तदितरे इन्द्रियाणि, तदपरे मनः, तद्भिन्नाश्च प्राणान् आत्मत्वेन मन्यन्ते। अस्मिन् विषये वेदान्तसारे चार्वाकाणां विचाराः सविस्तरं निर्दिष्टाः सन्ति।

जैनदर्शने जीवस्योल्लेखो भूयान् विहितोऽस्ति। तत्र जीव आत्मवाचकः। अस्ति चेतनद्रव्यं सः। उक्तञ्च 'चैतन्यलक्षणो जीवः'—षड्दर्शनसमुच्चयः, का०, ४९। जीवो निसर्गतोऽनन्तज्ञानानन्तदर्शनानन्तसामार्थ्यादिगुणसम्पन्नः। शुभाशुभकर्मप्रभावाज्जीवस्य स्वाभाविका गुणाः प्रच्छन्ना भवन्ति। शुभकर्मानुष्ठानेनावरणं तिरोहिततां याति। दर्शनज्ञानादिगुणानां विपुलात् तारतम्याज्जीवोऽनन्तान् भेदान् प्रपद्यते। जानाति जीवो वस्तुमात्रम्। सः कर्माण्यनुतिष्ठति। सुखान्युपभुनक्ति दुःखानि च सहते सः। स्वयं प्रकाशते, वस्तूनि च प्रकाशयति। नित्यः सन्नपि सः परिणामशीलः। शरीराद्भिन्नः सः। अस्ति च स मध्यमपरिणामभाक्।

आत्मवादस्य सर्वेषामपि दुष्कर्मणां दुष्प्रवृत्तीनाञ्च मूलत्वाद् बुद्ध आत्मनः सत्तां न स्वीकरोति। तन्मतेनात्मा मानसिकानामनुभवानां विभिन्नानाञ्च प्रवृत्तीनां पुञ्जाद् व्यतिरिच्यान्यत् किमपि न। "पञ्चस्कन्धाद्यवयवा एव विलोक्यन्ते न चावयवी। अवयवाधारे आत्मेति नाम व्यवहारप्रयोजनेनाभ्युपगतः" इत्येतद् भदन्तनागसेनो बुद्धमतानुगोऽभिदधच्छ्रूयते। तथाकथितस्यात्मनस्त्रिपिटकेष्वनित्यत्वमुक्तम्।

दार्शनिकः प्लेटो प्रज्ञाया इच्छाया विषयवासनायाश्च समुच्चय 'आत्मा' इति मन्यते। अस्त्यात्मा अमरः सः प्रतिशरीरं प्रविशति निर्गच्छति च तत इत्येतत्प्लेटो दार्शनिकोऽभिधत्ते।

अरस्तुः ज्ञानमेवात्मनो रूपमिति स्वीकुरुते। प्रतीच्यस्य जगतो दार्शनिकं साहित्यं सुकरात–प्लेटोऽरस्तुदार्शनिकानां विचारानाधारीकृत्यावतिष्ठते प्रधानतः। आत्मानमधिकृत्य प्रतीच्यदेशानामर्वाचीनग्रन्थेषु नानाविधाः स्थिरा अस्थिराश्च विचाराः प्राप्यन्ते।

(क) "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च"

(ख) "आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विज्ञातं भवति"

इत्येष महर्षेर्याज्ञवल्क्यस्योपदेशो (बृहत् उ० २.४.५.) भारतीयस्य दर्शनस्य धर्मस्य च मूलभित्तिरिव मतः। मानवजीवनस्य चरमलक्ष्यमात्मनः साक्षात्कार एव। तस्य साक्षादनुभवनिमित्तेनोपनिषदस्त्रिविधानि साधनानि प्रतिपादयन्ति। तानि च सन्ति-श्रवणमनननिदिध्यासनानि। योगप्रतिपादितोपायानाश्रित्योक्तमेतद्—

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा तु सततं ध्येयः, एते दर्शनहेतवः ॥

निर्विकल्पकस्यानुपाधिकस्य निर्विकारस्यात्मनः सत्ता 'ब्रह्म' इत्युच्यते। नानात्मकसततपरिवर्तनशीलानित्यजगतो मूले राजमाना शाश्वतिकी सत्ताध्यात्मविद्भिर्महर्षिभिरन्विष्य जगतः पुरस्ताच्छ्रेयसे व्याख्यातास्ति सविशदम्। स्वकीयेऽन्वेषणात्मके कार्ये तैर्महर्षिभिराधिभौतिकी, आधिदैविकी आध्यात्मिकी च पद्धतिः प्रयुक्तीकृतास्ति। एतस्य भौतिकस्य जगत उत्पत्तेः स्थितेर्विनाशस्य च कारणानि समीचीनतया विचिन्वन्ती याद्भुतनित्यपदार्थस्य निर्वचने प्रभवति सास्त्याधिभौतिकी पद्धतिः। नानारूपधरीषु विविधस्वभाववतीषु देवतासु शक्तेः सञ्चारकस्य परमात्मतत्त्वस्य यया मार्गणं कृतं सास्त्याधिदैविकी पद्धतिः। मानसस्य शारीरस्य च कार्यकलापमाकलय्य तन्मूलभूतात्मतत्त्वं या निरूपयति सास्त्याध्यात्मिकी पद्धतिः। एतास्तिस्रोऽपि प्रयुज्य यस्य परमतत्त्वस्य सत्यभूतस्य प्रमेयस्य तलावगाहिविमर्शणं तैः ऋषिभिर्विहितं तदस्ति 'ब्रह्म'।

ब्रह्म सगुणनिर्गुणभेदेन द्विविधम्। सविकल्पकं सोपाधिकं ब्रह्म 'सगुणब्रह्म' इत्यभिधीयते। सगुणब्रह्म जगदिदं शास्ति, सृजति, प्रत्यवहरति च। अस्ति च तज्जगद्भाग्यविधातृ। शुभकर्मकारिणां प्राणिनां तद्भद्राणि साधयति। अशुभकर्मकारिणश्च तद्दण्डयति। इदमेव सगुणब्रह्म 'ईश्वरः परमेश्वरो' वा इति गीयते।

निर्विकल्पकं निरूपाधिकं ब्रह्म 'निर्गुणब्रह्म' इति कीर्त्यते। अस्ति वाङ्मनोबुद्ध्यगोचरं तत्। तन्निर्देशो न कदापि सम्भवः। श्रुतिरिदमेव निर्गुणब्रह्माधिकृत्य 'नेति नेति' आमनति। बृहदारण्यकश्रुत्यां 'स एष नेति नेत्यात्मेत्यभिहितम्। केनोपनिषत् तदतिमधुरतया गायति—

यद् वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥१·५॥
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥१.४॥

अस्ति निर्गुणब्रह्म देशकालनिमित्तातीतम्। प्रमाणातीतत्वादप्रमेयम्। चैतन्यात्मकत्वात् तत् स्वयं विषयि। अतः कथमपि न तत्कस्यापि प्राणिनोऽन्तःकरणवृत्तेर्गोचरं भवति। एतन्निर्गुणब्रह्म एव 'परब्रह्म' इत्युच्यते। सगुणब्रह्म तु अपरब्रह्म' इति।

सगुण ब्रह्मैवेश्वर इति निगद्यत इत्येतदुपरि निगदितम्। ईश्वरो बिम्बत्वेनोक्तः। तत्प्रतिबिम्बत्वेन जीव इत्युदीर्यते। उभयत्र चैतन्यं सदृशम्। प्रतिबिम्बाकारभूतजीवः क्वचिद् अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं जीव इति चोक्तम्।

ईश्वरगतस्य जीवगतस्य च चैतन्यांशस्यैकत्वात् तत्र (जीवेश्वरयोः) स्वरूपैक्यमेव मतम्। उपाधिरेव भेदमुद्भावयति। ईश्वरः कारणोपाधिको जीवश्च कार्योपाधिकः। उक्तञ्च—

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते ॥

अवस्थास्थित्युपाधिकार्यादिभिन्नत्वादात्मैव तत् तन्नामानि भजते । स एक एवात्मा क्वापि ब्रह्म क्वचिदीश्वरोऽन्यत्र च जीव इत्येतदुच्यते । अभिनवगुप्ताचार्योऽत आह—

तीर्थक्रियाव्यसनिनः स्वमनीषिकाभि–
रुत्प्रेक्ष्य तत्त्वमिति यद् यदमी वदन्ति ।
तत् तत्त्वमेव, भवतोऽस्ति न किञ्चिदन्यत्,
संज्ञासु केवलमयं विदुषां विवादः ॥

भवतु नाम तद् सर्वमप्येकस्या आत्माख्यायाः शक्तेर्विजृम्भणमुपबृंहणं वा । परं व्यवहारजगति तत्र नैकत्वम् । ब्रह्म अन्यत्, ईश्वरोऽन्यो जीवश्च तदितरः । केचन दार्शनिकास्तु ईश्वर जीवजगदभिधानां सत्तां पृथक् पृथक् मन्वानास्तेषां त्रयाणामपि नित्यत्वं स्वीकुर्वन्ति । जगदिदमनित्यं, परमेश्वरस्तद् रचयति पाति संहरति चेत्येतदपि वदन्तो विद्वांसः श्रूयन्ते । ईश्वरो नित्यः, पुनस्तदीयं जगत् कथमनित्यं भवितु–मर्हति, तस्य नित्यत्वात् तद् (जगत्) अपि नित्यम् इत्येतदपि ब्रुवाणा बुधा अवाप्यन्ते । अस्तु । ईश्वरो जीवो जगच्च त्रयोऽपि पृथक् पृथक्, ईश्वरः सर्वज्ञो जीवोऽल्पज्ञ इत्येतद्विधा एव विचाराः सामान्यधियं स्पृशन्ति ।

परमेश्वरोऽचिन्त्यः सर्वसाक्षी, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, जगदात्मा इत्येतद् जानानोऽपि जीव इच्छति यत् सः परमेश्वरोऽहमिव वदेत्, मयि प्रीतिं निदधति सः, मां सन्मार्गं दर्शयेत् सः; आगांसि स मामकानि क्षमेत; स मामुद्धरेदस्माद् भवसागराच्च । स भृशमाकाङ्क्षति जीवो यत् तं परमेश्वरमहं 'मम स' इति वक्तुं पारयेयम्; 'अहमस्मि च तस्य परमात्मन' इत्येतञ्च प्रत्ययं स ईश्वरो मयि जनयेत् ।

भवतु नाम परमात्मा मनोबुद्धिवागगोचरोऽचिन्त्यः परं सामान्यस्य जीवस्य दृष्ट्यां तु सोऽस्ति मनोबुद्धिवाग्गोचरः । तस्य (जीवस्य) तु परमेश्वरो द्रुतं दुःखानि शृणोति; तदपराधं मार्ष्टि; तस्मिन् दयते; तत्रोदारहृदयो भवंस्तमुद्धरति च सः । श्रीमद्भागवतरामायणादिग्रन्थेषु प्रेमगम्यः शरणागतवत्सलो दीन-दयालु व्यक्त एव परमेश्वरः परमाभिरामप्रकारेण चारुतया चित्रितः ।

'यस्मादिदं जगदुदेति चतुर्मुखाद्यं,
यस्मिन्नवस्थितमशेषमशेषमूले ।
यत्रोपयाति विलयं च समस्तमन्ते,
दृग्गोचरो भवतु मेऽद्य स दीनबन्धुः ॥१॥
चक्रं सहस्रकरचारुकरारविन्दे
गुर्वी गदा दरवरश्च विभाति यस्य
पक्षीन्द्रपृष्ठपरिरोपितपादपद्मो,
दृग्गोचरो भवतु मेऽद्य स दीनबन्धुः ॥२॥
येनोद्धृता वसुमती सलिले निमग्ना,
नग्ना च पाण्डववधूः स्थगिता दुकूलैः ।
सम्मोचितो जलचरस्य मुखाद् गजेन्द्रो,
दृग्गोचरो भवतु मेऽद्य स दीनबन्धुः ॥३॥

यस्यार्द्र दृष्टिवशतस्तु सुराः समृद्धिं,
कोपेक्षणेन दनुजा विलयं व्रजन्ति ।
भीताश्चरन्ति च यतोऽर्कयमानिलाद्याः,
दृग्गोचरो भवतु मेऽद्य स दीनबन्धुः ॥४॥

गायन्ति सामकुशला यमजं मखेषु,
ध्यायन्ति धीरमतयो यतयो विविक्ते ।
पश्यन्ति योगिपुरुषाः पुरुषं शरीरे ।
दृग्गोचरो भवतु मेऽद्य स दीनबन्धुः ॥५॥

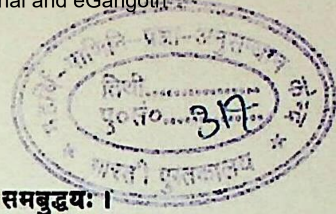
आकाररूपगुणयोगविवर्जितोऽपि,
भक्तानुकम्पननिमित्तगृहीतमूर्तिः, ।
यः सर्वगोऽपि कृतशेषशरीरशय्यो
दृग्गोचरो भवतु मेऽद्य स दीनबन्धुः ॥६॥

यस्याङ्घ्रिपङ्कजमनिद्रमुनीन्द्रवृन्दै,
राराध्यते भवदवानलदाहशान्त्यै ।
सर्वापराधमविचिन्त्य ममाखिलात्मा,
दृग्गोचरो भवतु मेऽद्य स दीनबन्धुः ॥७॥

यन्नामकीर्तनपरः श्वपचोऽपि नूनं,
हित्वाखिलं कलिमलं भुवनं पुनाति ।
दग्ध्वाघमगाधमखिलं करुणेक्षणेन,
दृग्गोचरो भवतु मेऽद्य स दीनबन्धुः ॥८॥ (परमहंसस्वामिब्रह्मानन्दः)

इत्येतदादीनि परःसहस्राणि स्तोत्राणि परमेश्वरस्य दीनबन्धुत्वं पापिजनोद्धरणपरचित्तत्वञ्च ज्ञापयन्ति । य ईश्वरस्तपस्विनां ज्ञानिनां योगिनां कर्मानुष्ठानपराणास्ति स ईश्वरोऽवश्यमेव तेषामप्यस्ति येषु न ज्ञानं, न तपो, न विद्या न चान्यदेव किमपि बलं वर्तते । परमेश्वरस्तावदेव तेषां जनानां कृते दूरे सन्तिष्ठते यावत् ते जनास्तं परमेश्वरं मनसा न काङ्क्षन्ति । मनसा प्रीत्या निश्छलभावेन प्रार्थितः काङ्क्षितश्च सोऽवश्यमेव तेषां सविधे आयाति, तेषां दुःखानि शृणोति, हरंश्च तेषां तापान् स तानुद्धरति च । निर्मलान्तःकरण ईश्वरोऽस्ति मलिनान्तःकरणश्च जीवः । जीवो यदा विमलान्तःकरणः सञ्जातस्तदा सः कथं तस्मात् (ईश्वरात्) भिन्नो भवितुमर्हेत् ! भवतु, अव्यक्तोपासनास्ति दुःसाध्या । व्यक्तोपासना तु सुसाध्या । इन्द्रियाणि संनियम्य सर्वप्राणिषु हितधियं निधाय परमेश्वरश्चेदुपास्येत तदा सः प्राप्तुं शक्यः । गीता ब्रूते—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥



संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ (१२-३.४.५)

य आत्मा अज्ञानाद् दुष्टेभ्यः संस्कारेभ्यो वा दुर्वासनाभ्यः शोचनीयायामवस्थायां पतितोऽस्ति–दुःखसागरे निमग्नोऽस्ति–सोऽप्यात्मा चेन्निष्कपटो भूत्वा परमप्रेम्णा परमात्मानं शरणं प्रपद्येत तदा नैजमुद्धारं कारयितुं शक्नुते–इत्येतत् सम्यग् विमृश्य सर्वभूतहितरताः साधवः सुधियो भक्तिमयानिकाव्यानि व्यरचयन्। वस्तुतस्तेषां महनीयं कार्यमिदमुपश्लोकनीयम् । भक्तिः संसारसागरतरणार्थं नौकास्ति; भक्तिर्भवानलोपशमनकारिणी कादम्बिनी वर्तते; भक्तिरियं सकलविधाधिव्याधितमोविध्वंसकृद् भानुर्विद्यते । आत्मानं यः परमेश्वरचरणयोः समर्पयति स तरति । गीता ब्रवीति—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ १८।६६
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यति ॥ १८।५८

भक्त्यैव जीवात्मातत्त्वतः परमेश्वरमभिज्ञातुं शक्नुते—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् । १८।५५

भक्तिः केत्यत्र नारदपाञ्चरात्रे प्रोक्तम्—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम् ।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ॥

भक्त्या जीवो विषयानभिभवितुं प्रभवति । भक्तिः सर्वाण्यपि दुरितानि हिनस्ति । जीवं भगवति लयीकर्तुं तपस्त्यागज्ञानविज्ञानादीनि न तावदमोघं बलं निदधते यावत् प्रकृष्टतरमव्यर्थं बलं भक्तिः। श्रीमद्भागवते प्रोक्तम्—

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः ।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते ॥
यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥
न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥ (११-१८.१९.२०)

प्रेमश्रद्धाशून्यं बुद्धिगम्यं शुष्कं ज्ञानं कमप्युद्धर्तुं कदाचिदेव शक्नुयात् । छान्दोग्योपनिषदि श्वेतकेतूपाख्यानमेतदेव सत्यं ज्ञापयितुं निहितमस्ति । नूनं तानि शास्त्राणि वंद्यानि यानि ज्ञानालोकवृष्टिपराणि भूत्वा सर्वेषामपि जीवात्मनां हिताचरणमेव निजस्य जीवनस्य ध्येयं मन्यन्ते ।

जीवः सनातनपरमेश्वरस्यैव सनातनोंऽश इत्येतद् वेदान्तसूत्रं (२.३.१७; २२. ४२-४५) ब्रवीति । अध्यात्मशास्त्रस्य सिद्धान्तोऽयम्—यत् पिण्डे तदेव ब्रह्माण्डे । सर्वत्रैक एवात्मा व्याप्नुते । अत एव 'य आत्मा

मयि स एव सर्वेष्वपि प्राणिपु' एषोक्तिः प्रचलत्यस्मासु । परमात्मनोऽव्यक्तत्वादेव तत्कथनं संगच्छत इत्येतदपि स्मरणीयमस्ति । उपनिषत्सु द्वैतपरकमद्वैतपरकञ्च वर्णनं दृश्यते । परमन्ततो गत्वा तत्सर्वमद्वैत एव पर्यवस्यद् दृश्यते । इदं सत्यं नोपनिषत्स्वाध्यायिनां तिरोहितम् । 'तत् त्वमसि' इत्येतद् वाक्यं चोच्चैरद्वैततामुद्घोषयति । योऽपि महान् प्रपञ्चो वीक्ष्यते वा न वीक्ष्यते तस्य मूले विराजते एकैव शक्तिः । तस्या एव शक्तेर्गोचरमगोचरं सर्वं विजृम्भणम् । वटवृक्षो हि यो महान् दृश्यते तस्य मूले बीजमेव । तद् बीजमेव तन्महद्रूपमाधायोन्मीलति । तद् बीजमेव वृक्षस्कन्धशाखाप्रशाखापत्रपुष्पफलादिनानानामभिर्व्यवह्रियते । न वृक्षस्तस्माद् व्यतिरिक्तो न च बीजमेव तस्माद् व्यतिरिक्तम् ।

विश्वे, राष्ट्रे, समाजे, नगरे, ग्रामे, कुटुम्बे, व्यक्त्याञ्च सत्वरमेवाध्यात्मिकी भावना सन्निविष्टा स्यात् । तस्या आध्यात्मिक्या भावनायाः प्रसारेण 'अयं निजः परो वा' इत्येषा क्षोदीयसी कुभावना नश्येत् । तस्या हि आध्यात्मिक्या भावनायाः उन्मेषो द्वेषद्रोहकलहेर्ष्यादिकं कृत्स्नतया दहेत् । तामधिगम्य जीवः सत्कर्माण्यनुष्ठातुं प्रीत्योत्साहेन च प्रवर्तेत सत्कर्मकर्तृत्वात् तस्य भाविजीवनमुज्ज्वलतरतामुत्कृष्टतरताञ्च प्रपद्येत । तदीयमैहिकं जीवनमेव सुखशान्तिसमृद्धिमयं न स्याद् आमुष्मिकञ्च जीवनमुदात्ततशिखासीनं भवज्जन्मजरामरणादिनिखिलकष्टेभ्य उन्मुक्तमपि भवितुमर्हेत् ।

जीवस्य बहुविधत्वमुद्दिश्य गीतायां वर्णनमुपलभ्यते । कामोपभोगमेव पुरुषार्थं मत्वा अहङ्कारेण, दम्भेन लोभेन चात्मसुखनिमित्तेन क्रियमाणं कर्म जीवं (मानवं) नरकं नयति । अस्त्येतद्विधो जीवोऽधमः । (गीता १६.१६)

परमेश्वरीयस्वरूपस्य यथार्थं ज्ञानमनिदधदपि प्राणिमात्रे एक एवात्मास्तीत्यत्र धियं निबध्नञ्छ्रुतिशास्त्रादेशानुसारं श्रद्धया नीत्या च यः काम्यं कर्माचरति स जीवोऽस्ति मध्यमः । सः प्राप्नोति स्वर्गम् । (गीता २·४१–४४, ६·२०)

शास्त्राभिहितनिष्कामकर्मभिः परमेश्वरस्य ज्ञाने जाते सति, वैराग्यान्निर्वेदाद् वा समस्तान्यपि कर्माणि हित्वा यः केवलज्ञाने एव तृप्यति, प्रीयते च तत्र स उत्तमोऽस्ति । मोक्षञ्च सोऽश्नुते । (गीता ५.२)

प्रथमं चित्तशुद्ध्यर्थं यमनियमादिपालनं विधाय यदा भगवतो ज्ञानमधिगतं स्यात् तदा लोकसंग्रहार्थमेवाजीवनं निष्कामकर्माचरणं यत्र दृष्टं भवति सोऽस्ति सर्वोत्तमः । मुक्तिलक्ष्मीस्तमन्विष्यति । (गीता ५.३)

जीवस्य (मानवस्य) कर्त्तव्यं यदसौ स्वकीयं स्वरूपमवगच्छेत् । स्वरूपस्यावगमनं ब्रह्मणः स्वरूपस्यावगमनं ज्ञेयम् । ब्रह्मज्ञानादमृतत्वमासादितं भवति । मनसः शिवसङ्कल्पत्वमिष्यते । तस्य विषयासक्तत्वाद् बन्धनं जायते, तस्य निर्विषयत्वाच्च मोक्षः—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । बन्धाय विषयासंगि मोक्षे निर्विषयं स्मृतम् ॥

आध्यात्मिकता अज्ञानं निवारयति ज्ञानञ्चोत्पादयति । तस्माज्जीवस्तमुपायं अजस्रं संश्रयेद् यदवलम्बनेनात्मस्वरूपावधारणे साहाय्यमुपनतं स्यात् । आत्मस्वरूपावबोधस्तावद् कुतः सम्भवोऽज्ञानग्रन्थिनाशो न भवति । तन्नाश एव मोक्षः—

मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा ।
अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः ॥ (शिवगीता, १३. ३२)

जीवस्य निघ्नतायां सा शक्ती राजते यामाश्रित्य सः सर्वमपि प्राप्तव्यं प्राप्तुं प्रभवति। सम्यक् चारित्रमाराध्य जीवः स्वकीयं शुद्धं रूपं लब्धुं शक्नोति। सः कैवल्यं सर्वज्ञत्वञ्चाधिकर्तुं महंतीन्येतज्जैन-दर्शनं सत्यमेव शंसति। गीतमहावीरे पठन्त्येव पाठका इदम्—

जीवेत्वत्र निसर्गतः प्रवहति ज्ञानं ह्यनन्तं महत्,
रूपं तस्य च वर्तते सुविमलं तन्नेक्ष्यते कर्मणः।
चारित्र्यं विदधाति तच्छुचितरं सम्यक् च सञ्जायते,
सर्वज्ञत्वमितं विभाति सुतरां कैवल्यतेजो दधत् ॥१४१॥
यज्ज्योतिर्ज्वलतीश्वरे स्फुरति तन्मध्येऽपि सर्वात्मनां,
कोऽप्यात्मा न हि वर्तते विरहितस्तेनेश्वरज्योतिषा।
सर्वेष्वेव तदेव भात्यनुपमं श्रेष्ठत्वमत्युज्ज्वलं,
तत् तत् तत्र परं प्रकृष्टमधिकं तस्यैव नामेश्वरः ॥२२२॥
तस्य प्राप्तिरपेक्ष्यतेऽमृतसुखं यत्केवलं ज्योतिषं,
जीवस्तत् क्षमतेऽधिगन्तुमतुलं चेष्टेत चेत् सन्ततं।
सः शक्तिं निदधाति तामधिगतं सञ्जायते तद् यथा,
ज्ञानाकारमदो ह्यनन्तबलभृच्चानन्दचित्सन्मयम् ॥२२३॥
आत्मानो निखिला विधाय सततं यत्नं तपःसाधनां,
भङ्क्त्वा बन्धनकारि कर्म सकलं चाप्तुं हि मोक्षं क्षमाः
लब्धुं चेश्वरतामपि द्रुततया संशक्नुवन्ति ध्रुवम्,
इष्टं प्राप्तुमहो कथं न मनुजाः कुर्वन्ति यत्नं दृढम् ॥२२४॥

हन्त जीवो नैजामपरिमितां शक्तिं विस्मृत्य किं किन्न कष्टमनुभवति।

चेद् विशिष्टाद्वैतमतेन जीवः (चित्) ब्रह्मणः शरीरत्वेन वा प्रकारत्वेन मतः स्यात् तथापि स (जीवः) ज्ञानयोगेन कर्मयोगेन च विशुद्धान्तःकरणो भूत्वा ऐकान्तिकेन भक्तियोगेन परमेश्वरमाप्तुं प्रभवति। स भगवन्तं शरणं प्रयाय परमकल्याणास्पदं भवितुं शक्नोति। प्रपत्तिवशीभूतो भगवान् जीवे दयते, करोति च तं पूर्णज्ञानवन्तम्। एवं स्थिते कस्मान्न ज्ञान-कर्म-भक्तिपथयायी भवितुं जीवः प्रयतते। कस्मान्न सः स्वकीयान्तःकरणं रागद्वेषेर्ष्यादिमलरहितं कृत्वा भगवन्तं शरणं याति? स्फुलिङ्गो यथा अग्नेरंशस्तथैव सोऽपि ब्रह्मणोंऽशोऽस्तीति न सः कदापि विस्मरेत्। आचार्यरामानुजस्योपदेशमिमं परिगृह्य सः कल्याणार्थं प्रयस्येत्।

यदि माध्वमते स्वकीयां वयं मनोवृत्तिं रमेमहि तदा तदपि वरमेव। परमात्मनो भिन्नः सन्नपि जीवः श्रेयस्कमर्जयितुं सर्वथैव स्वतन्त्रः शक्तिमांश्च। अन्यस्य भद्रस्य तु चर्चैव का। मोक्षमपि लब्धुं समर्थः। स तथा यतेत यथा भगवतो नैसर्गिकमनुग्रहमवाप्तुं क्षमः स्यात्। लब्ध्वा चापरोक्षज्ञानं स भगवतः परमभक्ते-र्भाजनं भवेत्। तथात्वे, परमेश्वरस्य कृपावश्यं तत्र स्यात्। अज्ञानमोहदुःखभयादिदोषा मयि सन्तीति विमृश्य स न भवेत् कदापि निराशः। तस्य सर्वेऽप्येते दोषाः श्रवणमननध्यानादिभिर्दूरीभवितुमर्हन्ति। साधनैर्ज्ञानं प्राप्तुं शक्यम्। ज्ञानभानावुदिते सति; भक्तिः सम्भवेत् ततश्च सर्वेऽपि दोषा जीवं विहाय पलायिष्यन्ते।

स तस्य भगवतोऽधीनतायामस्ति योऽनन्तगुणपरिपूर्णो ज्ञानानन्दादिकल्याणरूपशरीरं जुषते। अतः सः कस्मान्नाधीने तस्मिन्ननुगृह्णीयात् ।' तदनुग्रहलाभाय पुरुषार्थोऽपेक्ष्यते ।

जीवोऽस्ति ज्ञानस्वरूपो ज्ञानाश्रयश्च । सः प्रज्ञानघनः; स्वयं ज्योतिर्ज्ञानमयः । स मायावृतत्वाद् वा अविद्याच्छन्नत्वान्नैजं धर्मभूतज्ञानं नावगन्तुं शक्नोति—इत्येतस्मिन् निम्बार्कमते चेद् हृदयं प्रीयते तदा तदाश्रयणमपि कल्याणावहं स्यात् । जीवः सर्वशक्तिभाजः परमेश्वरस्यांशः । अंशस्यार्थोऽस्ति शक्तिः । अंशो हि शक्तिरूपो ग्राह्य इति कौस्तुभेऽभिहितत्वात् । एतानि पंक्तयो जीवमुपसतुं नुदन्ति । स आत्मानं विजानीयात् । आत्मज्ञानं तस्य पुरस्तदीयामेव शक्तिं प्रादुर्भावयेत्, तदाश्रयं प्राप्य भगवत्प्रसादोपलब्धिर्न स्याद् दुर्लभा । नेदं विस्मरणीयम्—

प्रपत्त्या भगवदभ्युपपत्तिमाप्नुते जीवः । अभ्युपपत्त्या भगवति नैसर्गिक्या अनुरागरूपिण्या भक्तिरुध्येत । सा हि भक्तिर्भगवन्तं दर्शयति । जीवो भगवद्भावापन्नो भूत्वा सर्वक्लेशोन्मुक्तो भवति ।

ब्रह्म सगुणं वर्तते; तस्यैव परब्रह्म-नारायण-कृष्ण-पुरुषोत्तमादिनामानि सन्ति इत्येतदाचार्यो निम्बार्को ब्रवीति । वयं जीवाः कस्मान्न तदुपदेशमुपादाय स्वशिवं साधयितुमुद्यता भवेम ? जीवा वयं यां शक्तिं निदध्मस्तां सम्यग् द्वैताद्वैतमतमवगमयति । तस्मात् तत्र प्रवृत्तिं विधाय नैजं हितमर्जयेम ।

आचार्यबल्लभमतेनापि जीवस्य भगवदविकृतचिदंशान्निर्गमनंसंवृत्तमस्ति । स ब्रह्मानलाविर्भूत-स्फुलिङ्गवन्नित्यः । स नूनं नास्ति भगवद्भिन्नः । रिरंसया भगवान् स्वयं स्वकीयानन्दादिगुणांस्तिरोधाय जीवरूपमाददाति । ऐश्वर्यस्यान्तर्हितत्वाद्दीनत्वं जीवे समुत्पद्यते, यशसस्तिरोधानाद् हीनता आयाति; श्रियो विलुप्तत्वात् स भवति सर्वविपदास्पदमानन्दस्य च गतत्वात् स दुःखानि विन्दति ।

अस्मिन् मतेऽपि जीवस्य ज्ञानस्वरूपत्वं, ज्ञातृत्वमणुरूपत्वञ्च प्रतिपादितम् । पुष्टिपथोपासनेन जीवो भगवदनुग्रहमश्नुते । अनुग्रहे प्राप्ते सति, तत्र सर्वेऽपि तिरोहिता आनन्दांशाः प्रकटीभवन्ति । यथा सुवर्णं तन्निर्मितकुण्डलादिकञ्चाभिन्नं तथैव चिदंशजीवोऽपि ब्रह्मणो न भिन्नः इत्येतदुक्तं शुद्धाद्वैतमार्तण्डे । एतेन मतेन च जीवस्य भगवतोंऽशत्वं सिद्ध्यति । हन्त, जीवः (आत्मा) स्वकीयमेतत् सर्वमपि वैशिष्ट्यं दिव्यं विस्मृत्य सर्वस्वमेव नैजं क्षिणोति । तज्जीवनमार्गेऽनुपदं तं समाहितं विधातुं समाधातॄणि शास्त्राणि शोभन्ते, साधुमहात्मनामुपदेशात्मकममृतं तरङ्गितं सद् वहति, अन्यानि च बहूनि प्रेरणाप्रदानि चिह्नानि चकासति, परं प्रमादाधिक्यादालस्यस्य च प्रभूतत्वात् सः स्वकल्याणमभ्युपगन्तुं नोद्यतते । हा, कियद् दुस्तरप्रचण्डपुरोभागित्वम् ।

जीव-आत्मा-आत्मानं विजानीयाद् विजानीयाच्च बाह्यभिन्नताया अभ्यन्तरे शोभमानमभिन्नत्वमाभ्यन्तरम्' ।

———

उपनिषदों के शारीरिक तथा मानसिक प्रतीक

डॉ० सत्यप्रकाश सिंह

तत्त्वों की गवेषणा एवं अन्विष्ट सत्यों की अभिव्यक्ति के क्रम में उपनिषदों ने शारीरिक तथा मानसिक अवयवों और शक्तियों का प्रतीक रूप में पुष्कल प्रयोग किया है। तैत्तिरीय उपनिषद् में आनन्द को ब्रह्म का प्रतीक बताया गया है। इसी प्रकार अन्न और प्राण के अतिरिक्त मन और विज्ञान की भी ब्रह्म के रूप में उपासना करने का उपदेश दिया गया है। जिस प्रकार अन्न से प्राण और प्राण से मन में ब्रह्म-भावना के उपसंक्रमण का निर्देश किया गया है उसी प्रकार मन से विज्ञान में तथा विज्ञान से आनन्द में। अन्ततो गत्वा आनन्द के भी अतिक्रमण की चर्चा की गई है। अवधिविशेष मात्र के लिए पदार्थविशेष का साधन रूप में तादात्म्य-परक विनियोग उसके प्रतीकत्व का परिचायक है।

छान्दोग्य उपनिषद् में 'भूमा' का निरूपण करते हुए बताया गया है कि वही नीचे भी है, ऊपर भी है, पीछे भी है, सामने भी है, दक्षिण तथा उत्तर की ओर भी है; वही यह सब कुछ है।[2] इस प्रकार का तत्त्व सामान्य बुद्धि के लिए प्रत्यक्षतः दुर्बोध है। अतः इसकी प्रतीति कराने के लिए समुचित प्रतीक की अपेक्षा थी। इस प्रकार का प्रतीक 'अहंकार' में उपलब्ध होता है। 'अहंकार' वस्तुतः एक तुच्छ पदार्थ है। किन्तु अपनी अभिकांक्षाओं में वह अनन्त-स्पर्शी है। इसी गौण वृत्ति के कारण वह भूमा जैसे सर्वव्यापी तत्त्व का प्रतीक बन जाता है। किन्तु गौण वृत्ति पर अवलम्बित होते हुए भी यह प्रतीकोपन्यास एक महान् सत्य का उद्भावक सिद्ध होता है। जब प्रतीक-पथ से चलकर अहंकार इस तथ्य की अवगति करता है कि उसके भीतर एक ऐसा पदार्थ निहित है जो भूमा का समकक्ष है तो वह आत्मा तक पहुँचने का द्वार बन जाता है।

इसी भूमा की गवेषणा के क्रम में मन को ब्रह्म का प्रतीक बताया गया है। प्रसङ्ग से स्पष्ट है कि यहाँ प्रतीक-विधान का आधार व्याप्य-व्यापक भाव है। ब्रह्म को भूमा, अतएव सर्वव्यापक माना गया है। मन ब्रह्म का प्रतीक इस कारण से है कि यह वाक् और वाच्यजगत् का व्यापक है।[3]

इस प्रसङ्ग में पूर्व-पूर्व को छोड़कर उत्तरोत्तर को ब्रह्म के प्रतीक के रूप में ग्रहण करते हुए क्रमशः नाम, वाक्, मन, संकल्प, चित्र, ध्यान, विज्ञान, स्मर और आशा का भी उल्लेख किया गया है। ब्रह्म भूमा अथवा महत्तम तत्त्व है। वह सबका कारण है। इस प्रकार के तत्त्व के अन्वेषण में उपर्युक्त प्रतीकों का उपयोग किया गया है। दृश्य जगत् महत्तम तत्त्व नहीं हो सकता, क्योंकि यह नाम के द्वारा व्याप्य है। अतः नाम ब्रह्म हो सकता है। किन्तु यह धारणा तभी तक वास्तविक प्रतीत होती है जब तक यह ज्ञान नहीं हो जाता कि नाम वाक् का कार्य मात्र है। इस अनुभव के साथ ब्रह्मत्व की प्रतीति नाम से हटकर

१. तै० उप०, २
२. छा० उप० ७।२५।२
३. वही, ७।३।१

वाक् के साथ जुड़ जाती है। अब वाक् ब्रह्म समझी जाने लगती है, किन्तु तभी तक जब तक कि यह ज्ञान नहीं हो जाता कि वाक् तो मन का कार्य मात्र है। इस अनुभव के साथ ब्रह्मत्व की प्रतीति वाक् से हटकर मन पर चली आती है। इस प्रकार संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, स्मर और आशा जैसी मानसिक वृत्तियों को क्रमशः ब्रह्म समझा गया है। इस मार्ग से ब्रह्म की अवगति करने वाला साधक जिस भी मानसिक वृत्ति के ऊपर जितनी देर तक महत्तम सत्ता के रूप में धारण करता है, उतनी देर तक उसे ब्रह्म ही समझता है, किन्तु उससे भी महत्तर तत्त्व का भान होने पर वह पिछले तत्त्व को ब्रह्म का आभास मात्र मानता है। इस उच्चतर दृष्टि से निम्नतर सत्ता ब्रह्म का प्रतीक बन जाती है, क्योंकि उपर्युक्त सभी मानसिक वृत्तियों का अन्ततो गत्वा क्रमशः अतिक्रमण हो जाता है, अतः ये सभी ब्रह्म की प्रतीक हो गई हैं। अन्त में जिस सत्ता को आत्यन्तिक, अतः वास्तविक भूमा समझा गया है, वह प्रत्यक्ष और प्रत्ययन के परे बतायी गई है; वह सर्वव्यापक है तथा किसी भी इतर सत्ता के द्वारा व्याप्य नहीं है। वह परम तृप्ति की सत्ता है।[४]

ऐतरेय उपनिषद् में हृदय, मन, संज्ञान, अज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति, स्मृति, संकल्प, क्रतु, असु, काम और वश को प्रज्ञान का नाम बताया गया है। नाम का तात्पर्य है उपाधि। इनसे उपहित प्रज्ञान को ब्रह्म कहा गया है। यहाँ प्रज्ञान ब्रह्म का प्रतीक है। प्रज्ञान उपर्युक्त मानसिक वृत्तियों से उपहित होता है। इसी प्रकार ब्रह्म भी इन वृत्तियों के सामान्यों से उपहित होता है। यही उपाधि-साम्य इस प्रतीकोपन्यास का आधार है।[५]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रतीकों के बनने में अज्ञान और अतृप्ति का पर्याप्त योगदान होता है। प्रतीक की जड़ निरे अज्ञान में निहित होती है, तथा उसका प्रतीकत्व ज्ञान के उदित होने पर प्रकट होता है। निरे अज्ञान की स्थिति में सम्भावित प्रतीक प्रतीकायित पदार्थ के तद्रूप होता है। ज्ञान के उदित होने पर वह इस ताद्रूप्य से च्युत होकर स्वरूपावशेष हो जाता है। इस प्रकार अज्ञान और ज्ञान की सन्ध्या में ही प्रतीक का प्रतीकत्व प्रकट होता है। यही बात असन्तोष और सन्तोष के सन्दर्भ में भी कही जा सकती है।

बृहदारण्यक में हृदय को ब्रह्म का प्रतीक बताया गया है। स्वयं हृदय बुद्धि का प्रतीक है, क्योंकि यह बुद्धि का अधिष्ठान समझा जाता है। क्योंकि बुद्धि शब्द और प्रत्यय का स्रोत एवं विलय-स्थान है अतः उसे उस ब्रह्म का प्रतीक बनाना स्वाभाविक ही है जो नामरूपात्मक जगत् का आदि तथा पर्यवसान है।[६]

कठोपनिषद् में बौद्धिक उलझनों को हृदय की ग्रन्थियों के प्रतीक से बोधित किया गया है।[७] हृदय में नाड़ियों के अनेक केन्द्र पाये जाते हैं जिनमें शरीर के विभिन्न भागों से आकर नाड़ियाँ केन्द्रीभूत होती हैं। हृदय में निवास करने वाली बुद्धि में भी संसार के विविध पक्षों से आने वाली वासनाएँ पुंजीभूत होती

---

५. ऐ० उप० ३।२।३

६. बृ० उप० ५।३।१

७. क० उप० ६।१५

हैं। अतः आधार-आधेय भाव के कारण यदि बुद्धि को हृदय रूपी प्रतीक प्रदान किया गया है तो वासनाओं के पुंजों को नाड़ी-केन्द्रों का।

मुण्डक उपनिषद् में शरीर को तत्त्व के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया गया है। 'यह आत्मा प्रवचन के द्वारा प्राप्य नहीं है, न बुद्धि के द्वारा, न ही बहुश्रुति के द्वारा; जिसको यह स्वयं चुनता है उसी के द्वारा यह प्राप्य है; उसी के समक्ष यह अपना शरीर अनावृत करता है।'[८] अज्ञानी व्यक्ति के लिए आत्मा अविद्या रूपी वस्त्र से आच्छन्न होता है। ज्ञानी व्यक्ति के समक्ष अविद्या उसी प्रकार विगलित हो जाती है जिस प्रकार प्रियजन के समक्ष शरीर का वस्त्र। यहाँ वस्त्र अविद्या का प्रतीक है, प्रेम ज्ञान का, तथा शरीर आत्मतत्त्व का। आध्यात्मिक ज्ञान का सम्बन्ध आत्मतत्त्व के साथ होता है जबकि लौकिक प्रेम का सम्बन्ध मुख्यतः शरीर के साथ। इस प्रकार आध्यात्मिक ज्ञान लौकिक प्रेम की अपेक्षा सूक्ष्मतर है। किन्तु दोनों के भीतर तल्लीनता जैसा समान धर्म पाया जाता है। इसी धर्म-साम्य के आधार पर स्थूल के द्वारा सूक्ष्म को प्रतीकायित किया गया है।

मुण्डक उपनिषद् में प्राण को ब्रह्म का प्रतीक बनाया गया है। "यह (ब्रह्म) प्राण है जो सभी भूतों के द्वारा विविध रूपों में भासित हो रहा है; इसे जानता हुआ व्यक्ति अतिवादी नहीं होता।"[९] शंकराचार्य यहाँ 'प्राण' का अर्थ 'प्राण का प्राण' करते हैं। किन्तु इस व्याख्या में अकथित-कथन है जो न केवल अनुचित अपितु अनावश्यक भी है। प्राण को ब्रह्म का प्रतीक मान लेने से इस समस्या का समाधान अनायास हो जाता है। जिस प्रकार एक ही प्राण-तत्त्व सभी प्राणियों के अस्तित्व का एक सर्वसाधारण आधार होते हुए भी सबके भीतर भिन्न-भिन्न रूपों में विद्यमान होता है उसी प्रकार ब्रह्म सबके अस्तित्व का मौलिक एवं सर्वसाधारण आधार होते हुए भी प्रत्येक व्यष्टि के भीतर भिन्न-भिन्न ढङ्ग से अभिव्यक्त होता है। इसके अतिरिक्त, ब्रह्म की तरह प्राण भी अदृश्य है। इस प्रकार जीवनाधारत्व, सर्वसाधारणत्व, अदृश्यत्व तथा अभिव्यक्तिगत वैयक्तिक वैभिन्य के कारण प्राण ब्रह्म का प्रतीक बन जाता है। इस प्रतीकोपन्यास में प्रतीक तथा प्रतीकायित पदार्थ के बीच गुण और क्रिया साम्य है।

कई उपनिषदों में आत्मा के स्वरूप का निरूपण इन्द्रियों के प्रतीक के द्वारा किया गया है। ऐतरेय उपनिषद् में जिज्ञासा प्रकट की गई है कि वह आत्मा क्या है जिसकी हम उपासना करते हैं। इसके उत्तर में कहा गया है कि जिसके द्वारा व्यक्ति देखता है, सुनता है, सूंघता है, बोलता है अथवा स्वादु-अस्वादु के मध्य विवेक करता है वह आत्मा है। इस रहस्यात्मक कथन का अर्थ छान्दोग्य उपनिषद् के परामर्श से स्पष्ट होता है। इसमें कहा गया है कि "जहाँ यह आत्मा आकाश में अनुसक्त होता है वहाँ वह चक्षु बन जाता है; आत्मा चक्षु में निवास करता है; चक्षु देखने के लिये होता है। 'मैं गन्ध लूँ' इसका कर्ता आत्मा होता है। गन्ध लेने के लिए घ्राणेन्द्रिय होती है। 'मैं बोलूँ' इसका ज्ञाता तथा कर्ता आत्मा होता है। बोलने के लिए वागेन्द्रिय होती है। 'इसे सुनूँ' इसका ज्ञाता आत्मा होता है। सुनने के लिए श्रवणेन्द्रिय

---

८. मु० उप० ३।२।३

९. मु० उप० ३।१।४

१०. ऐ० उप० ३/१.

होती है। 'मैं जानूं' इसका ज्ञाता आत्मा होता है। मन उसका दिव्य चक्षु होता है।"[११] इससे स्पष्ट है कि आत्मा ही आवश्यकतानुसार स्वेच्छा से इन्द्रियों और मन का रूप ग्रहण करता है। इन्द्रियाँ कार्य हैं तथा आत्मा कारण। अतः कार्य और कारण में अभेद करते हुए ऐतरेय उपनिषद् के उपर्युक्त वाक्य में इन्द्रियों को आत्मा कहा गया है। वस्तुतः इन्द्रियाँ प्रतीक हैं तथा आत्मा प्रतीकायित पदार्थ। यह प्रतीकोपन्यास कार्य-कारण के अभेद के ऊपर आधारित है। केनोपनिषद् में आत्मा को श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन, वाक् का वाक्, प्राण का प्राण एवं चक्षु का चक्षु कहा गया है।[१२] यहाँ ब्रह्म को श्रोत्र, मन, वाक् और चक्षु बताया गया है। अतः श्रोत्र आदि ब्रह्म के प्रतीक बन जाते हैं। जिस प्रकार इस संसार को हम इन्द्रियों और मन के द्वारा जानते हैं उसी प्रकार आत्यान्तिक दृष्टि से इसे हम ब्रह्म के कारण जानते हैं। इसलिए इन्द्रियाँ ब्रह्म का प्रतीक बन जाती हैं। अथवा, जिस प्रकार इन्द्रियों के द्वारा हम शरीर का नियमन करते हैं, उसी प्रकार एक ऐसी सत्ता की अपेक्षा है जो हमारी इन्द्रियों का नियमन करे। यहाँ प्रतीकोपन्यास का आधार प्रतीक तथा प्रतीकायित पदार्थ के बीच करण और कर्ता का सम्बन्ध है।

इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् में बताया गया है कि "जो यह आँख में पुरुष दिखाई पड़ता है यह आत्मा है ......, अमृत, अभय, ब्रह्म है।"[१३] यही वाक्य इन्द्र और विरोचन की कहानी में पुनः उद्धृत किया गया है। अक्षि पुरुष का तात्पर्य क्या है? इसका साधारण अर्थ स्पष्ट है—'आँख में बनता हुआ पुरुष का बिम्ब।' चाहे इन्द्र, विरोचन और प्रजापति हों, अथवा अन्य कोई गुरु-शिष्य युग्म, गुरु की आँखों में शिष्य के शरीर का बिम्ब बनना स्वाभाविक था। इन्द्र ने भी आरम्भ में इसी बिम्ब को आत्मा समझा, क्योंकि आगे चलकर उनके मन में विप्रतिपत्ति उत्पन्न होती है कि आत्मा कौन सा है—अक्षिपुरुष, आदर्श पुरुष अथवा जल में प्रतिबिम्बित पुरुष। उन्होंने अक्षि पुरुष को अभिधा में आत्मा समझा जो उनकी भ्रान्ति थी। वास्तव में इस प्रतीकात्मक प्रयोग की कुंजी छान्दोग्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय से प्राप्त की जा सकती है। यहाँ आंख की पुतली के विषय में कहा गया है कि इसमें घी अथवा जल जो भी डाला जाता है वह इस पर न टिक कर सदैव पलकों पर चला जाता है। पुतलियों की दूसरी विशेषता यह बतायी गयी है कि ये सदैव सुन्दर वस्तुओं की ओर आकृष्ट होती हैं तथा सुन्दर दृश्यों को ही अपने भीतर रखना चाहती हैं। इनकी तीसरी विशेषता है प्रकाशमयत्व। ये प्रकाशपुंज हैं जिनके अभाव में समस्त संसार अन्धकारमय हो जाता है। इसीलिए उपनिषद् में इन्हें 'संयद्वाम', 'वामनीः' तथा 'भामनीः' कहा गया है।[१४] घी और जल जैसे पवित्र पदार्थों को भी अपने ऊपर न टिकने देने वाली पुतलियाँ आत्मा की निर्भ्रान्त पवित्रता की प्रतीक हैं। पुतलियों का सुन्दर वस्तुओं की ही ओर आकृष्ट होना आत्मा के अमिश्रित सौन्दर्य का प्रतीक है। पुतलियों का प्रकाशमयत्व आत्मा की ज्ञानात्मकता का प्रतीक है। इस प्रकार पुतलियाँ अमिश्रित पवित्रता, सौन्दर्य तथा ज्ञान को प्रतीकायित करती हैं तथा

---

११. छा० उप० ८।१२।४-५.
१२. के० उप० १।२.
१३. छा० उप० १।२
१४. वही, ४।१५।२-४

इनमें उपहित अक्षिपुरुष सर्वगुणातीत लक्षित होता है। इस प्रकार वह निर्विकार एवं निर्गुण आत्मा का प्रतीक बन जाता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है कि "वह जो पुरुष के भीतर है तथा जो आदित्य के भीतर है वह एक ही है।"[१५] यहाँ शरीर के भीतर और सूर्य के भीतर स्थित पुरुष के एकत्व के द्वारा आत्मा और ब्रह्म के एकत्व की प्रतीकात्मक सिद्धि की गई है। सूर्य स्थिर होते हुए भी गतिशील प्रतीत होता है तथा पार्थिव सृष्टि का कर्ता, धर्ता एवं संहर्ता है। किन्तु ये कार्य वह जड़ होकर कैसे कर सकता है? अतएव चिरकाल से उसके भीतर चेतनता का सन्निवेश किया गया है। ज्ञानपूर्विका क्रिया प्रत्यक्षतः मानवचैतन्य का ही कार्य है। अतः सूर्य के भीतर सन्निविष्ट चेतना को पुरुषाकार में कल्पित करना स्वाभाविक था। छान्दोग्य उपनिषद् में इस पुरुष को सूर्य के ही अनुरूप "स्वर्णिम, स्वर्णमय श्मश्रु एवं केशों वाला सिर से नख तक सुवर्णमय" बताया गया है।[१६] इस प्रकार का पुरुष लोक विश्वास में आदिकाल से ही सूर्यदेवता के रूप में कल्पित एवं मान्य रहा होगा। उपनिषद् में सूर्य की वास्तविक सृजन, धारण तथा संहरण की अनन्त क्षमता को देखते हुए इस पुरुष को ब्रह्म का प्रतीक मान लिया गया। दूसरी ओर, यहाँ उस तत्त्व को, जो मनुष्य के भीतर निहित है तथा जिसकी ही वजह से उसका पुरुषत्व है, आत्मा के प्रतीक के रूप कल्पित किया गया। आत्मा सर्वव्यापी, अनन्तर एवं अबाह्य है। शरीर विशेष के भीतर उसका परिसीमित होना सर्वथा असम्भव है। किन्तु उसकी प्रतीति का एकमात्र स्थल मानव का शरीर एवं उसकी शक्ति, मन, बुद्धि तथा आनन्दात्मक वृत्तियाँ हैं। अतः शरीर, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द को कोशों के रूप में कल्पित किया गया है। कोश का सारा प्रतीक तलवार और म्यान के पारस्परिक सम्बन्ध से गृहीत प्रतीत होता है। जिस प्रकार म्यान के भीतर तलवार निहित होती है तथा एक तलवार के ऊपर कई म्यान चढ़े हो सकते हैं उसी प्रकार शरीर, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द रूपी म्यानों से उपहित पुरुषान्तर्गत चैतन्य पुरुष के रूप में कल्पित होकर आत्मा का प्रतीक बन जाता है। इस प्रकार आत्मा और ब्रह्म के तात्त्विक एकत्व की अनुभूति को मनुष्य के भीतर स्थित पुरुष और सूर्यमण्डल के भीतर कल्पित पुरुष के एकत्व के द्वारा प्रतीकात्मक रूप दिया गया है इस प्रतीक-विधान का आधार एक ओर लोक-विश्वास से उत्प्रेरित कल्पना है तथा दूसरी ओर तत्त्वदर्शी के द्वारा अपने व्यक्तित्व का अनुभव प्रवण विश्लेषण। लोक-विश्वास से उत्पन्न आदित्य पुरुष क्रिया साम्य की वजह से ब्रह्म का प्रतीक बनता है। तत्त्वदर्शी के आत्मविश्लेषण से अनुभूत तत्त्व आधार-आधेय सम्बन्ध तथा ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध से आत्मा के प्रतीक बनते हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् में स्वप्न-पुरुष और सुषुप्ति-पुरुष को आत्मा बताया गया है। "जो यह स्वप्न में बड़प्पन के साथ विचरण करता है, यह आत्मा है ······ यह अमृत, अभय है, यह ब्रह्म है।"[१७] इस वाक्य का अभिधार्थ ग्रहण करके इन्द्र भ्रमित हो जाता है। वह विचार करने लगता है कि यद्यपि स्वप्न-पुरुष शरीर के दोषों से दुष्ट नहीं होता, उसकी दुर्बलताओं से संकीर्ण नहीं होता, तथापि यह मारा जाता

१५. तै० उप० २।८

१६. छा० उप० १।६।६.

१७. वही, ८।१०।१.



हुआ, आक्रान्त होता हुआ अपने को समझकर अप्रिय अनुभवों को प्राप्त होता है तथा रुदन करता हुआ सा प्रतीत होता है। इस प्रकार का पुरुष आत्मतत्त्व कैसे हो सकता है? इस भ्रान्ति से ग्रस्त होकर लौटे हुए इन्द्र को प्रजापति ने अग्रिम उपदेश किया "तो जहाँ यह सोने के पश्चात् पूर्ण रूप से विलीन होकर, संप्रसन्न होकर स्वप्न नहीं देखता यही आत्मा है, ... यही अमृत और अभय, यही ब्रह्म है।" सुषुप्तिपुरुष को अभिधार्थ में आत्मा समझने वाला इन्द्र फिर उलझन में पड़ जाता है—"यह आत्मा न तो अपने को जानता है,......न ही इन सब भूतों को; विनाश को ही प्राप्त हुआ सा प्रतीत होता है।"[१८] इस उलझन का समाधान क्या है? क्या प्रजापति ने इन्द्र को आरम्भ में मिथ्या उपदेश किया? किन्तु प्रजापति से इसकी आशंका नहीं। वस्तुतः इसका समाधान इस उपदेश की प्रतीकात्मकता में गवेषणीय है।

इसके प्रतीकात्मक अर्थ के उन्मीलन में बृहदारण्यक उपनिषद् का निम्न प्रसङ्ग उपादेय हो सकता है: "आत्मा क्या है?" इस प्रश्न के उत्तर में यहाँ कहा गया है कि "जो यह इन्द्रियों में विज्ञानमय है, हृदय के अन्दर ज्योति स्वरूप पुरुष है वह समान होने के कारण दोनों लोकों में अनुसंचरण करता है, ध्यान सा करता है, लीला सी करता है; क्योंकि वह स्वप्न बनकर मृत्युरूप इस लोक का अतिक्रमण करता है।"[१९] अगले परिच्छेद में स्वप्न स्थान को इस लोक और परलोक के बीच सन्ध्य कहा गया है जहाँ से आत्मा इस लोक और परलोक दोनों को देखता है।[२०] इससे अगले परिच्छेद में स्वप्न चैतन्य के निरुपादान सर्जनों का उल्लेख किया गया है। अन्त में महामत्स्य की उपमा के द्वारा जो कि नदी के दोनों तटों पर अनासक्त भाव से विचरण करता है तथा श्येन अथवा सुपर्ण की उपमा के द्वारा जो कि पंख अच्छी तरह चलाने के पश्चात् अन्त में समेट भी लेता है, इस तथ्य की अवगति कराई गई है कि जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों ही परस्पर विभिन्न अवस्थाओं के भीतर जो चैतन्य समान भाव से द्रष्टा का कार्य करता है वही आत्मा है। स्वप्न और सुषुप्ति के चैतन्य तो उसके प्रतीक मात्र हैं। यही बात कुछ कम प्रतीकात्मक ढंग से कठोपनिषद् में कही गई है—"जो इन (इन्द्रियों) के सो जाने पर स्वेच्छा से निर्माण करता हुआ जागता है वही शुक्र है, वही ब्रह्म है, उसी को अमृत कहा जाता है।"[२१]

स्वप्न और सुषुप्ति के सम्बन्ध में आदिम जातियों के विश्वासों से अनुमान होता है कि प्रागैतिहासिक काल में सम्भवतः इन दोनों अवस्थाओं के अनुभवों के आधार पर मनुष्य के भीतर जीवात्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में आस्था उत्पन्न हुई थी। उनकी दृष्टि में स्वप्नावस्था का चैतन्य अथवा पुरुष ही आत्मा है। किन्तु यह आस्था केवल आदिम लोगों के भीतर रही हो अतः अन्धविश्वास मात्र हो ऐसा समझना उचित नहीं है। क्योंकि स्वप्न के माध्यम से मानव-मन का विश्लेशण करने के क्रम में फ्रायड तथा यूंग जैसे आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भी अन्ततोगत्वा क्रमशः अवचेतन और निर्वैयक्तिक अवचेतन को आत्मा-स्थानीय तत्त्व माना है। इन अवचेतनों में निहित चैतन्य न केवल स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाओं में ही जाग्रत होता है अपितु जागरण की स्थिति में भी प्रच्छन्न रूप से काम करता रहता है,

१८. वही, ८।११।१.
१९. वही, ८।१२।२–३.
२०. बृ० उप० ४।३।७.
२१. क० उप० ५।८.

यह इन मनोवैज्ञानिकों का निष्कर्ष है। अतः उनके विचार से इन अवचेतनों की चेतना में जाग्रत चैतन्य की अपेक्षा कहीं अधिक सातत्य है। जहाँ तक इनके सापेक्षिक विस्तार का प्रश्न है, फ्रायड के अनुसार अवचेतन समुद्र में डूबे हुए बर्फ के विशाल भाग जैसा है और जाग्रत चैतन्य बर्फ का ऊपरी भाग मात्र जैसा। यूंग के अनुसार निर्वैयक्तिक अवचेतन समस्त प्राणी जाति के अनुभवों का मानसिक संक्षेप है जिसमें वैयक्तिक अवचेतन और जाग्रत चैतन्य लघु अंश मात्र है। अतः इतने व्यापक तत्त्व को आत्मा मानना न केवल आदिम मनुष्य के लिए स्वाभाविक रहा होगा अपितु आधुनिक मनोवैज्ञानिकों को भी तर्कसंगत जान पड़ा। किन्तु उपनिषद् में इन्हें आत्मा का प्रतीक मात्र माना गया है। अतः इन्द्र को इस प्रतीक से वास्तविक प्रतीकायित तत्त्व तक पहुँचाने में सौ वर्षों तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए साधना करने की आवश्यकता हुई होगी। दूसरे शब्दों में यहाँ तक कहा जा सकता है कि इन्द्र, विरोचन और प्रजापति का यह आख्यान मानव जाति के द्वारा आत्मतत्त्व को गवेषणा के सुदीर्घ इतिहास का संक्षिप्त प्रतीकात्मक विवरण है।

जहाँ तक आत्म-तत्त्व के स्वरूप का प्रश्न है, यह आख्यान निम्नलिखित सन्देश देता है। स्वप्न चैतन्य स्थूल उपादानों के अभाव में भी नाना प्रकार के स्थूल पदार्थों की रचना करता हुआ प्रतीत होता है। जैसा कि स्वयं बृहदारण्यक में कहा गया है, "वहाँ न रथ होते हैं, न रथ के घोड़े, न पथ, फिर भी (स्वप्न चैतन्य) रथों, घोड़ों और पथों की रचना करता है।"[२२] स्वप्न चैतन्य की यह विशेषता आत्मा के पक्ष को उपस्थापित करती है जिसमें वह बिना किसी बाह्य उपादान का सहारा लिए सृष्टि की रचना कर डालता है। सुषुप्ति-चैतन्य आत्मा के निर्गुण सर्वातिशायी रूप को प्रतीकायित करता है।

शरीर, प्राण, मन, विज्ञान, प्रज्ञान, आनन्द, स्वप्न-चैतन्य को आत्मा अथवा ब्रह्म का प्रतीक बनाना कतिपय महत्त्वपूर्ण तथ्यों की ओर निर्देश करता है। पहली बात यह है कि उपनिषद् के ऋषि आत्मा और ब्रह्म जैसे दार्शनिक प्रत्ययों के ऊपर केवल वैचारिक स्तर पर ही चिन्तन नहीं करते थे। वे इनके अन्वीक्षण में अपना समग्र व्यक्तित्व विनियुक्त किये हुए थे। उनकी दृष्टि में सृष्टि का मूल तत्त्व कुछ ऐसा नहीं हो सकता जिसका चिन्तन हम उसे अपने से पृथक् करके कर सकते हैं। प्रत्युत वह हमारे व्यक्तित्व में भी उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार शेष जगत् में। क्योंकि हम सबसे अधिक अपने को जानते हैं, इसलिए उस तत्त्व की गवेषणा सबसे उत्कृष्ट रूप में अपने व्यक्तित्व के माध्यम से हो सकती है। दूसरी बात यह है कि आत्मज्ञान की सर्वोत्कृष्टता ज्ञाता और ज्ञेय के तादात्म्य के कारण है। शरीर आदि में ब्रह्म-भावना की अवतारणा से ब्रह्मज्ञान शनैः-शनैः तादात्म्यमूलक होने लगता है जो महावाक्यों की उद्भावना में परिणत होता है। तीसरा निष्कर्ष यह है कि इस कोटि का प्रतीकोपन्यास आगे चलकर राजयोग तथा हठयोग को जन्म देता है। राजयोग के अन्तर्गत चरम तत्त्व की गवेषणा बाह्य जगत् में न करके अन्तर्मन में की जाती है। हठयोग की साधना प्राण एवं नाड़ीतन्त्र के माध्यम से की जाती है जो शरीर के ही व्यापार तथा अवयव हैं। योग की इन दोनों ही विधाओं को इस प्रतीकोपन्यास से आरम्भिक प्रेरणा मिली होगी।

---

२२. बृ० उप० ४।३।१०

नैय्यायिकानामुपमानं शब्दप्रमाणञ्च

डॉ० (श्रीमती) नलिनी शुक्ला

नैय्यायिकाः प्रमाणचतुष्टयं स्वीकुर्वन्ति। प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दप्रमाणानि तत्रान्तर्भवन्ति। तत्र प्रत्यक्षानुमान प्रमाणे द्वे प्रायेण सर्वैरेव दर्शनैः स्वीक्रियेते परं नोपमानम्। उपमानस्वरूपमुपमानमिति शब्दश्रवणकाले एव झटिति स्पष्टी भवति, उपमीयते=उपमाविषयीक्रियते येन तदुपमानम्। अर्थात् कमपि पदार्थं दृष्ट्वा तत्सदृशमन्यं पदार्थं ग्रहीतुं यत्साध्यस्य सामञ्जस्यं क्रियते तदुपमानं कथ्यते।[1] तर्कभाषायां तस्य लक्षणमुक्तम्—"अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृत गोसादृश्यादिविशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानम्"। अस्यायमाशयः—अतिदेशवाक्येन पूर्वश्रुतेन केनाप्यतिदृष्टेन अर्थात् बोधितेन गोसदृशो गवयः, इत्यादि वाक्येन यत् वनादौ गतस्य पुरुषस्य गवादिसदृशस्य पिण्डस्य दर्शनेन अयं गवयपदवाच्य इति यज्ज्ञानं जायते तत् पूर्वश्रुतस्य 'गोसदृशो गवयः' इति वाक्यस्यार्थस्मरणादेव। अत्र गवा गवय उपमीयते, तस्य ज्ञानं चात्रोपमानेनैव भवति इत्युपमानज्ञानं कथ्यते। गोसादृश्यविशिष्टस्य पिण्डस्य ज्ञानानन्तरम् अयमसौ पिण्डो गवयशब्दवाच्यः गोसदृशत्वात्। इत्थं संज्ञायाः अर्थात् नाम्नः, संज्ञिनः=पदार्थस्य गवयस्य तयोः वाच्यवाचकभावरूपसम्बन्धस्य च प्रतीतिः उपमितिरिति कथ्यते। सा चोपमितिरेव फलम्। अर्थात् उपमितीयज्ञानमेव उपमितेः फलं भवति। प्रत्यक्षेण यथा ज्ञानं भवति अनुमानेन च यथा ज्ञानं भवति प्रत्यक्षानुमितपदार्थानां तथैव उपमानेनापि उपमितस्य पदार्थस्य ज्ञानं प्रत्यक्षो भवति, इति उपमानमपि प्रत्यक्षानुमानातिरिक्तं प्रमाणं व्युत्पादितम्।

उपमानप्रक्रियायाः त्रीणि अङ्गानि भवन्ति, यथा—

(१) गोसदृशपशुविशेषज्ञानम् (तस्य प्रत्यक्षं वा)।

(२) अतिदेशवाक्यार्थस्मरणम्।

(३) अयं गोसदृशपशुविशेषः गवयपदवाच्य इत्याकारा प्रतीतिः संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानं वा। इयं संज्ञा—(गवयः) संज्ञिनः (पशुविशेषस्य) सम्बन्ध प्रतीतिरेव करणस्योपमानप्रमाणस्य यथार्थानुभव प्रमा स्वरूपा फलम्।

न्यायसूत्रे—"प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्" (१·१·६) इति, उपमानलक्षणं प्रदत्तम्। अस्य व्याख्यावसरे न्यायभाष्यकारेणोक्तम्—"समाख्यासम्बन्ध प्रतिपत्तिरूपमानार्थः।" कालान्तरे अस्य स्वरूपपरिष्कारः कृतः। तर्कभाषायामप्यस्य परिष्कृतः स्वरूप एव प्रदत्तः। संज्ञासंज्ञिसंम्बन्धज्ञानमेवोपमानस्य फलम्। अत उपमानं शक्तिग्रहस्येवैकं साधनं स्वीकृतम्।

तर्कभाषाकारेण उपमानस्य लक्षणानिरूपणावसरे करणव्यापारयोः पृथग् रूपेण न निर्देशं कृतम्। अग्रे अस्यास्पष्टीकरणमस्ति। तदनुसारं उपर्युक्तरीत्या सादृश्यज्ञानमेवोपमितेः करणम्। अतिदेश-वाक्यार्थ स्मरणं च तस्यावान्तरव्यापारः।

---

१. अतिदेशवाक्यस्यार्थः समानत्वादिबोधको वाक्यः—,'अतिदिश्यते प्रतिपाद्यतेऽनेन, साधर्म्यादिः" इति अतिदेशः।

केचित्तु दार्शनिकाः प्रत्यक्षानुमानयोरेव उपमानमप्यन्तर्भावयन्ति । नैय्यायिकानां नये न तत्समीचीनम् । यथा तर्कभाषायां तन्मतनिरसनाय एवोपमानोपसंहारे—"इदन्तु प्रत्यक्षानुमानासाध्यप्रमासाधकत्वात् प्रमाणान्तरम्" इति स्वमतम् प्रमाणितम् । तथाहि—नैय्यायिकमतेन उपमानप्रमाणस्य फलं सदृशपिण्डज्ञानं तच्चातिदिष्टवाक्यस्मरणादेव भवति । यदि च प्रत्यक्षेण स्यात् तदा तु अश्रुतादिष्टवाक्यस्यापि स्यात् । प्रत्यक्षप्रमा यतो हीन्द्रियार्थसन्निकर्षमात्रजन्या नातिदेशवाक्यार्थस्मरणमपक्षते । इति न तज्ज्ञानं प्रत्यक्षेण सम्भवति । नाप्यनुमानेन अनुमापकसामग्र्यभावात् ।

अतः प्रमाणान्तरमेवोपमानमिति नैय्यायिकाः ।

शब्दः ॥

'आप्तवाक्यं शब्दः', इति तर्कभाषाकारः । आप्तस्तु यथार्थवक्ता साधारणो वा विशिष्टो वा[1] रागादिवशादपि यो नान्यथावादी स इति । अर्थात् यद्यथाप्तं=दृष्टमनुभूतं च तस्य तथैव स्ववाक्येन कथनम् आप्तवाक्यं भवति । वाक्यं तु आकांक्षायोग्यतासन्निधि-मतां पदानां समूहः । आसत्तिः सन्निधिः । एभिः रहितपदसमूहास्तु वाक्यानि न कथ्यन्ते । अतएव गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इति पदानि न वाक्यम् परस्पराकांक्षारहितत्वात् । तथैव वह्निना सिंचेदिति न वाक्यं वह्नेः सिंचनयोग्यताशून्यत्वात् । सिंचनं तु द्रवद्रव्यीयो धर्मः । अतः वह्निसेकयोः परस्परान्वययोग्यताविरहः वह्नेः द्रवद्रव्यत्वाभावात् । अतएवाग्नेः सेके करणत्वं न घटते । एवमेव एकैकशः प्रहरे प्रहरे असहोच्चारितानि=पृथगुच्चारितानि विलम्बेनोच्चारितानीति यावत् "गाम् आनय" इत्यादि पदानि न वाक्यम् । 'आकांक्षायां योग्यतायां च सत्यामपि एकपदोच्चारणानन्तरं द्वितीयपदस्य महताविलम्वेनोच्चारणात् सान्निध्याभावात् । अतः पदानां सन्निधिरप्यपेक्ष्यते वाक्यार्थबोधे । अतः साकांक्षाणि योग्यतावन्ति, सन्निहितानि च यानि पदानि तेषामेव समूहो वाक्यं भवति । साकांक्षाणीत्यत्राकांक्षापदार्थस्तु पदानां पदान्तरं विना ऽन्वयाऽननुभावकत्वम् । योग्यता तु अर्थाबाधः । सन्निधिस्त्वविलम्वेनोच्चारणमिति। 'यथा' 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्' इत्यादि । यथा च नदीतीरे पञ्चफलानि सन्तीति' । अथवा 'देवदत्त ! गाम् आनय 'इति एक धारयैव, उच्चरितानि पदान्यत्र वाक्यानि भवन्ति ।

अत्र पदानामाकांक्षायोग्यतासन्निधिमतां विषये शंका प्रादुर्भवति । तद्यथा यदुक्तं पदानि सांकांक्षाणि भवन्ति, इत्यादि तन्न विचारसहम् । आकांक्षायाश्चेतनधर्मत्वात् पदानि चाचेतनानि यदि चोच्येत न पदानि साकांक्षणि कथ्यन्ते अपित्वर्थाः तदप्यविचारपेशलम् । अर्था अप्यचेतनाः भवन्ति । तैरप्याकांक्षा कर्त्तुं न पार्यते । इत्थं साकांक्षाद्युक्तेः क आशयः कथं चात्र संघटनीयः इति सर्वमेवात्र विशदीकरणीयम् । तदेवाशङ्कितम् तर्कभाषायां मूले—"नन्वित्यादिना······चेतनधर्मत्वादि" त्यन्तेन ।

तत्रोच्यते—पदानि तदर्था वा उच्चारयितुरधीनानि । आकांक्षा च उच्चारयितृश्रोतृगतैव भवति । तयोश्च चेतनत्वमपि भवति । तथा च परम्परा सम्बन्धेन पदान्यर्थाश्च साकांक्षाः इति व्यवह्रियन्ते इति सारः । तदेवोक्तं तर्कभाषाकारेणं—अर्थाः=पदार्थाः स्वबोधकपदश्रोतरि अन्योन्यविषयाकांक्षाजनकत्वेन अर्थात् अर्थाः पदे पदानि चार्थात् बोध्यबोधकभावेनाकांक्षन्ते । सा चेयमाकांक्षा एनयोरूपचरितैव तस्याः

---

१. द्र० "ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्" (न्यायभाष्य १·१·७)

मुख्यतया वक्तृश्रोतृचेतनगतत्वादेव । एवमेव अर्थाः साकांक्षाः परस्परान्वयोग्याः । तन्माध्यमेन पदान्यपि परस्परान्वययोग्यानि उच्यन्ते ।

सन्निहितत्वं तु एकेनैव पुरुषेण उच्चारयित्रा एकैव धारया अविलम्वेनोच्चारणम् । उच्चारणं तु साक्षात्पदानामेव भवति नार्थद्वारा अर्थस्योच्चरणासम्भवात् अतएवार्थानामुच्चारितपदबोध्यत्वं भवति । तयोर्बोध्यबोधकभावसम्बन्धात् ।

अतोऽयमर्थ उपपन्नः—अर्थसंपादनमाध्यमेन श्रोतुः, अन्यपदविषयिणीमर्थान्तरविषयिणीं वा आकांक्षाम् उत्पादकानां अबाधरूपेणज्ञायमानपारस्परिकान्वयोग्यार्थप्रतिपादकानां सन्निधियुक्तानां पदानां समूहो वाक्यम् भवति ।

वस्तुतः केनाप्युच्चारितानि कानिचिदपि पदानि श्रोतुः कर्णगतानि तदर्थबोधनाय श्रोतारं विवश-यन्ति । श्रोता च तेषाम् अर्थावगमाय साकांक्षो भवति । तत्र यदि उच्चारयित्रा आकांक्षायोग्यतासन्निधि-मन्त्येव पदानि उच्चारितानि तदा सारल्येन श्रवणानन्तरमेव श्रोतुरर्थबोधोऽपि भवति । यदा पदान्युक्तत्रय विरहितानि तदा श्रोतर्यर्थबोधः समन्वितो न जायते । स समन्वितार्थज्ञानाय उच्चारयितारं पुनरनुरुणद्धि । यथा उच्चारयित्रा केवलम् 'गामिति' पदमेवोच्चारितम् श्रोत्रा च श्रुतं तदा श्रोता 'आनय, नय, बधान इत्यादीनि गामित्यनेन साकांक्षाणि पदानि वक्तुः पृच्छति । एषु पदेषु गामित्यस्य कुत्रान्वये भवतामाशय इति । तदा यावत् वक्ता तदन्वयोग्यं कमपि पदं श्रोतृबोधनाय नोच्चारयति तदा श्रोतुरर्थबोधो न भवत्येव । न च श्रुत्वा क्रियाकारिता श्रोतर्युदेति यदा च वक्तोक्तं 'गामानयेति' तदा निरस्तसंदेहः श्रोता तदर्थकारणे क्रियायां प्रवर्तते अतएव 'गामानय' इति वाक्यं गव्यानयनयोग्यतादीनां सत्यां पदसमूहो भवति । ये च शब्दाः परस्परमनन्विताः निराकांक्षाश्च—'दशदाडिमानि कुण्डमजाजिनम्' इत्यादयः चेदविलंबितेनोच्चारिता अपि न वाक्यतामर्हन्ति परस्पराकांक्षाद्यभावात् ।

यथा पूर्वोक्तं 'पदसमूहो वाक्यमिति' तत्र पदस्यापि लक्षणं ज्ञातव्यम् । 'पदं च वर्णसमूहः' इत्याह तर्कभाषाकारः । वर्णानां समूहः वर्णसमूहः । समूहश्चैकज्ञानविषयीभाव एवात्र उक्तः । अत शंका उदेति, यदि वर्णसमूहः पदं तदा वर्णानामाशुविनाशित्वेन अर्थादुच्चरितप्रध्वंसित्वेन कथमेकज्ञानविषयीभावः सम्भवति ? अत्र ज्ञातव्यमस्ति यत् वक्त्रोच्चरितपदश्रवणकाले अन्तिमवर्णानुभवसमये पूर्वंपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कार सहकृतेन अन्त्यवर्णश्रवणसम्बद्धेन पदव्युत्पादन संकेतग्रहानुकूलेन श्रवणेन्द्रियेण एकदैव = समकालमेव सदसदवर्णावगाहिनी (सन्तम् अन्तिमवर्णं असतश्च संस्काररूपान् पूर्ववर्णान् अवगाहते = आनुकूल्येन बोधयति तच्छीला सदसदवर्णावगाहिनी) पदप्रतीतिः (= पदज्ञानं) जन्यते सहकारि दाढयात् (सदसतो साहचर्यबलात्) प्रत्यभिज्ञानवत् । अर्थात् यथा प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षे (प्रत्यभिज्ञाननितप्रत्यक्षे) अतीतापि (अपिशब्दाद्वर्तमानापि) पूर्वावस्था स्फुरत्येव ।

अत्र नैय्यायिकानामयमाशयः । कस्यापि पदस्य वर्णसमूहरूपस्य प्रत्यक्षे यद्यपि पूर्वंपूर्ववर्णाः, विनाश-शीलास्तथापि पूर्वंपूर्ववर्णानां संस्कारस्तु स्थास्नुः (स्थिरः) उत्पद्यत एव स च संस्कारोऽन्तिम वर्णोच्चारण-कालेऽस्त्येव । अतोऽन्तिमवर्णेन मिलित्वा पूर्णपदबोधं श्रोतुर्जनयति इन्द्रियसहकारि संस्कारदार्ढयात् प्रत्य-भिज्ञानवदेव ।

अत्र प्रत्यभिज्ञापि स्फुटीकरणीया प्रत्यभिज्ञा । तु तत्तेदन्तावगाहिनी बुद्धिः । तत्ता अर्थात् पूर्वानुभूत विषयास्यातीतावस्था । इदन्ता वर्तमानानुभवावस्था । उभयप्रकारकज्ञानावस्था च प्रत्यभिज्ञा कथ्यते । अतो यथा प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षेइन्द्रियसहकारि संस्कारस्य दृढत्वेन पूर्वानुभवास्था वर्तमानानुभवावस्था च प्रकाशते तथैव क्रमेणोच्चारिता शुतरविनाशशीलवर्णसंस्कारप्राबल्यात् श्रोत्रेन्द्रियेणापि सदसदवर्णानाम् एकबुद्ध्युपारूढ़ता सम्भवत्येव ।

इत्थं पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसाहाय्येन अन्तिमान्तिमवर्णेन परस्परं मिलित्वा पदपदार्थयोः साक्षात्कारो जायते । अर्थात् पूर्वपूर्ववर्णानुभवजन्यसंस्कारसध्रीचीन चरमवर्णानुभवतः शाब्दबोधः । (पदबोध इति यावद्) एवमेव पूर्वपूर्वपदसंस्कारसहकृतेन अन्तिमपदान्तिमवर्णसंस्कारसहकृतेन चान्तिमपदवर्णेन वाक्यार्थबोधो जायते ।[१]

टिप्पणी—नैय्यायिकानामभिहितान्वयवादो मतम् । अभिहितान्वयवादे च अभिहितस्य अर्थात् शब्देन संकेतद्वारा उक्तमात्रस्यैवार्थस्य पदान्तरार्थेन सहान्वयो बोध्यते । स चान्वयः तात्पर्याख्यावृत्तिमन्तरा न पूर्णो भवति । अत एतेषां मते पदपदार्थान्वियाय तात्पर्याख्यवृत्तिर्मन्यते । यथा 'राज्ञः पुरुष' इत्यत्र अभिहितान्वयवादमतेनार्थे करणीये राजशब्देनाभिहितोऽर्थः छत्रचामरादिविशिष्टो व्यक्तिः प्रजापालकः राजा इति, षष्ठ्या अर्थः सम्बन्धः इति, पुरुषपदस्यार्थः पुरुष इति, तथा च अभिहितान्वयेन 'राजा सम्बन्धः पुरुषः' इत्येवासम्बद्धोऽर्थ;, भवितुमर्हति । सम्बद्धार्थश्च राजनिरूपित सम्बन्धवान् पुरुष इति । तत्र निरूपितमित्यर्थः तात्पर्याख्यवृत्तिमन्तरा न भवितुमर्हत्यपदार्थत्वात् । अतः नैय्यायिका वाक्येषु सम्बद्धार्थकारणाय तात्पर्याख्यां वृत्तिं गृह्णन्ति । तात्पर्याख्यावृत्तिरेव संसर्गमर्यादा कथ्यते । अतएव व्युत्पत्तिवादारम्भे अभिहितान्वयवादिना गदाधरेण 'एकपदार्थेऽपरपदार्थस्य संसर्गः संसर्गमर्यादया भासते' इत्युक्तम् ।

वाक्यार्थबोध एव शाब्दीप्रभा कथ्यते ।

पदसमूहरूपमिदं वाक्यमपि चेदाप्तपुरुषेण प्रयुक्तं तदैव प्रमाणीभवति । तदैव सद्वाक्यमिति कथ्यते । तस्यैवार्थबोधाय ज्ञातारो जनाः प्रवर्तन्ते । अतएव आप्तवाक्यं शब्दः । वाक्यश्रवणस्य फलं त्वस्य वाक्यार्थज्ञानं भवति । तत्फलं तु तदनुकूलक्रियायां प्रवृत्तिः । तया च लोकव्यवहार उपपद्यते । एतच्च शब्दलक्षमर्थात् शाब्दं प्रमाणं लोकवेदयोः समानमेव । वेदस्य तु सर्वस्याप्तवाक्यतैव ईश्वरोक्तत्वात् । लोके तु आप्त-पुरुषेणोक्तमेव वाक्यं प्रमाणं भवति ।

—: ० :—

Anātmavāda of the Buddhists

VIJAYA RANI

There are mainly two streams of thought regarding self or soul (*ātman*) in Indian philosophy : The first one is the advocate of soul theory (*ātmavāda*) and the other believes in the no-soul-theory (*anātmavāda*).

All the orthodox systems, and the Jainas, are unanimous in assuming that there is a permanent and independent entity in the from of 'soul' which is different from the body and the senses. The other stream of thought does not accept soul (*ātman*) as an independent and permanent entity. The Cārvākas and the Buddhists may be regarded as the upholders of this view, but their concepts of soullessness totally differ. The Cārvākas identify soul with the body qualified by consciousness.[1] According to them, consciousness arises in the body due to a particular combination of the four elements-earth, water, fire and air; just like the intoxicating quality of wine arising from fermented yeast.[2] Consciousness is a bye-product of material elements and it vanishes when the body is vanished.[3]

The Buddhists, on the other hand, do not, like Cārvākas, maintain that consciousness arises from matter and vanishes when the body is vanished. They accept consciousness (**Vijnana**) in the from of '**Vijnana-skandha**', more particularly in from of **Alaya-vijnana**, as separate from material elements and it is always present in from of ceaseless flow (**Jnānāsantāna**). And further, unlike the Cārvākas, the Buddhists believe in the law of action and result (i. e. **karma-phalavyavasthā**) as well as in the law of rebirth (**Punarjanma**). These characteristics distinguish the Buddhists from the materialist, Cārvākas with regard to the soul.

Meaning of the word 'nairatmya' is—'devoid of *ātman* orsoul'. So a theory according to wcich every being is devoid of any **ātman** or soul, is called **Nairātmya-vāda** or **Anātmavāda** or No-soul theory.

---

1. तच्चैतन्यविशिष्ट देह एवात्मा । सर्वदर्शन संग्रह p. 4.
2. अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्युनलानिलाः ।
   चतुर्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ।।
   किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत् । Ibid Ka 6, & 7 ab, p. 10.
3. विनिष्टेषु सत्सु स्वयं विनश्यति । Ibid p. 4, Line 18.

After having enlightenment, Lord Buddha gave his second sermon about **Anātmavāda**. It has been restored in **'Vinaya-pitaka'** with the name **'Anatta-lakhana-Sutta'**. In this sermon, he preached to his disciples that the five **skandhas** i. e corporeal form (**rupa**) feeling (**vedanā**), pirception (**samjnā**), primary mental formation (**samskara** and consciousness (**vijnana**) are transitory (**ksanika**), they are painful (**dukkha**) and they are no self (**anatma**). He preached so because such type of thinking produces righteous knowledge in one's mind.[1] In fact he always preached about no-self, because the feeling of self (**atma-bhavana**) is the first and foremost cause of one's bondage [2] The nature of **Anatmavada** is beautifully illustrated by the Buddhist sage Nagasena through the example of a 'chariot' in the 'Questions of king Milinda'.[3]

The Buddhists maintain that every thing in the universe is in perpetual flux. Every thing is merely a link in the chain, a spoke in the wheel, a transitory phase in the series. Every thing is dependently originated i. e. **pratitya-samutpanna**.[4] There is nothing that may be regarded as an independent and permanent untity like soul.[5] The so called individuality is nothing but a combination of fivc constituent elements i. e. the five **Skandhas**.[6] "Thus all questions relating to individuality are solved by the Law of Dependent Origination and no room is left for the intervention of self."[7]

I here are some sects of the Buddhists like **Vatsiputriyas** and **Sammitiyas**, and

---

1. c p. अनिच्चतो दुक्खतो अनतत्तो मनसि करोतो ज्ञानम्
   उपज्जति परिसम्भिदा मग्ग २/१००-१०१.
2. c p. आत्मीयदृष्टौ च सत्यामात्मीयस्नेहः।
   एवमेषां दृढतरात्मात्मीयस्नेहपरिगाहितबन्धनानां मोक्षो दूरीभवेद्।
   Abhidharma-kosa, VIII, **Pup. Viui.**, p. 1215, line 3–4.
3. **Milinda-panho**, ii. 1. 1.
4. c p. सर्वें इमे धर्मा अनित्याः संस्कृताश्चेति ताः प्रतीत्य समुत्पन्नाः
   Abhidharma-कोष VIII, **Pud. Vini.** p. 1202, line 7–8.
5. cp. आत्मैव ह्यात्मनो नास्ति विपरीतेन कल्प्यते।
   नास्तीह् सत्व आत्मा च धर्मास्त्वेते सहेतुका ॥ **Ibid.**, p. 1203.
6. cp. स्कन्धसन्तान एवेदमात्माभिधानं वर्तते, नान्यस्मिन्नभिधेये इति **Ibid.**, p. 1889.
   cp. (ii) एवं स्कन्धानुपादाय संवृत्या सत्व उच्यते। Ibid., p. 1202.
7. **V. S. Bhattacharya, Basic Gonception of Buddhism., p. 90.**

sammitiyas, who, on the basis of **Bharavaha-Sutra**,[1] have accepted a permanent entity in the form of **'pudgala'**,[2] according to which internal **skandaas** at a given mement constitute a certain unity which is related to them as fire to fuel.[3] For all the other Buddhist Schools **'pudgala'** was but another name foı atman. and hence, they refuted it alongwith the theory of atman by the same arguments.

While refuting the Buddhist theory of **anatma**, Kumarial refers to the Buddhist school of **'Jnanamatra-atmavadinah'** (i. e. those who hold mere consciousness as self). According to them consciousness is momentary, devoid of movement (**niskriya**) and devoid of all pervasiveness (avibhu).[4] This Buddhist school of Yogacaras or of Vijnanavadins, not accepting the plurality of elements, maintain that consciousness is the only reality,[5] which is beginningless and naver ending continnum.[6] It is of two kinds **alaya-vijnana** and **pravrtti-vijnana** Alaya Vijnana is just like or ocear in which **pravrtti-vijnanas** appear and disappear momentarily. It may be urged that the so called **'alaya vijnana'** is nothing but another name for **'soul'** or **'atman'**. But such type of thinking would be a misconception only, in as much as it is altogether different from soul· It is not an eternal and independent entity like 'soul' but is only a ceaseless flow of consciouness (**vijnana-santana**), in which each succeeding conscious moment is dependently originated by its preceding conscious-moments.[7]

---

1. 'भारं च वो भिक्षवो देशयिष्यामि भारादानं च भारनिक्षेपणं च भारहारं च ।
   भारः पंचोपादानस्कन्धाः । ······· भारहारः कतमः ? पुद्गल इति स्याद् वचनीयम् ।'
   Cited in **Abhidharm-kosa, Sphntartha**, p. 1206.
2. केचित्त सोगतम्मन्या अप्यात्मानं प्रचक्षते ।
   पुद्गलव्यपदेशेन तत्त्वान्यत्वादिवर्जितम् ॥
   Tattva-Sangraha, ka, 336.
3. cp. आध्यात्मिकानुपात्तान् वर्तमानान् स्कन्धानुपादाय पुद्गल प्रज्ञप्यते
   ······यथेन्धनमुपादायाग्निः ।
   Abhidharma-kosa, VIII. **Pud.** vini, p. 1192–93.
   Also, Stcherbatsky, **Central Conception of Buddhism**, p. 70–71.
4. See **Sl. Var., Arma. Ka** 33.
5. 'विज्ञप्तिमात्रमेवैतदसदर्थवभासनाद्' Vinisatika कारिका
6. See Mookerje Satkari, Buddhist Philosophy of universal Flux, p. 205, line 8–9
7. cp. Shastri S. N., **Bauddha-दर्शन का. Vivecana.** p. 228–29.

Thus, the Bnddhism adopts a middle path, leaving aside the two extremes of Eternalism (śaṣvatavada) of the उपनिषद् and Nihilism (ucchedavada) of the Carvakas. It accepts only thc ceaseless flow of the five skandhas (panca-skandha-pravaha) or of consciousness (vijnana-santana). The idea of an individual or personality or a living being is mere empirical, formed under the law of dependent-origination and there is no 'atman' or 'soul' in its eternal sense. Prof. Stcherbatsky rightly observes : "Buddhism never denied the existence of a personality or a soul in theempirical sense, it only maintained that it was no ultimate reality (not a dharma)"[1].

---

1. Centrai Conception of Buddhism, p. 25-26.

श्रीपतेः श्रीकरभाष्यम्

डॉ० हरिदत्त शास्त्री

महर्षिव्यासप्रणीतानां ब्रह्मसूत्राणां भाष्यम् चतुर्विधवैष्णवैः स्वं-स्वं राद्धान्तं उपोद्वलयितुं व्यधायि । तेषु पण्डितपतिः श्रीपतिः अन्यनिम्बाकाचार्यमतविलक्षणमभेदाभेद-सिद्धान्तम् प्रतिपादयितुं वीरशैवमतं लिङ्गायतमतं वा समर्थयितुं श्रीकराभिधानं भाष्यं अरीरचत् । तस्यैव भाष्यस्य रूपं निरूपयितुं प्रयत्यते सुहृदवर—प्रो० कुन्दललालशर्माशास्त्रि क्रियमाणाभिनन्दनग्रन्थप्रकाशनव्यासंगेन । भगवान् शंकराचार्योपि शैव-मतावलम्बीसन् शाङ्करभाष्यं प्रणैषीत् । श्रीमान् अप्पयदीक्षितश्च वीक्षितवान् ब्रह्मसूत्रेषु काश्मीरिकशैवमतम् तदनुसारे विहितवान् भाष्यम् । ततः वैशिष्टयं उद्बोधयितुम् श्रीपतिः वीरशैवमतं समतिष्ठिपत् । इमे भाष्यकाराः प्रातिस्विकमताग्रहग्रहिलाः सूत्राणि वैयासिकानि विभिद्य व्याचचक्षिरे । श्रीपतिरपि स्वमतप्रतिपादनाय मतोपनेत्रं बुद्धिचक्षुषोर्निधाय पिधाय च सत्यार्थग्रहं बभाषे । वीरशैवमताव-लम्बिभाष्ये इमे लिङ्गायताः दधति कण्ठे लम्बमानां वह्निकुण्डिकां चिह्नयन्ति च मस्तकबाहून् लिङ्ग-चिह्नेन । सम्प्रदायोऽयं महीसूर (मैसूर) देशे विशेषतः प्रचलति यतश्च प्रतिपादितं श्री सी० हयग्रीव राव महोदयेन स्व भूमिकायाम् ।

श्रीकरभाष्यकर्ता पण्डिताराध्यः श्रीपतिः शङ्कर-रामानुज-मध्वाचार्याणां मतमयौक्तिकमित्याह स्म, एवं चास्य १३०० ईशाब्दतः १४०० ईशाब्दमध्यवर्ती जन्मसमयः । अयं च वीरशैवमत-समर्थकात् श्रीवासवात्परस्ताज्जन्माग्रहीष्ट, मतमिदं श्रीरामकृष्णगोपालभाण्डारकरः "वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म" नामके ग्रन्थेऽलेखीत् । अयं भगवत्पादाचार्य-देशिक (अध्यात्मगुरु) पदवीभ्यां शुशुभे । अस्य श्रीकर-भाष्यं ब्रह्मसूत्राणामगस्त्यवृत्तिमाश्रित्य व्यलिख्यत । यथा शाङ्करभाष्यं वराहसहोदरवृत्ति, श्रीरामानुजकृतं श्रीभाष्यं च बोधायनवृत्तिमाश्रयते, तथैवेदमगस्त्यवृत्त्याश्रितम् । अगस्त्यवृत्तिरियमगस्त्यसूत्रेभ्यो नितरां भिन्ना । लिङ्गायतसम्प्रदाय इति वीरशैवमतस्यैव नामान्तरम् । श्रीश्रीपतिपण्डितानां वासवेशविजये माहात्म्यमित्थमुपवर्णितम्—

प्रसादः पावन इति प्रतिज्ञायाग्निमंशुके ।
बद्ध्वा बबन्ध यः शम्पां जीयाच्छ्रीपतिपण्डितः ॥

शिवो जगदुत्पादकः, उत्पादकत्वं च पुंव्यञ्जनेन व्यज्यते तस्मादिमे लिङ्गायताः तदेव धारयन्ति । अस्मिन् पुंव्यञ्जने भवतु नामान्येषामन्यथा वासना भावना, वीरशैवानां तु श्रद्धा, ध्यान-भक्तिप्रतीकात्मकत्वादस्य, भवत्यस्मिन् धर्मवासना न लौकिकवासनालेशोऽप्यत्रोदञ्चति । ते मन्यन्ते यद् ऋग्वेदेऽपि लिङ्गार्चनं प्रति-पादितं किन्तु कुत्र मन्त्रे इत्यत्र मेक्डानलभाण्डारकरौ द्वावपि मौनमालम्बेते । महाभारतस्य १०म पर्वणि ७ सप्तमाध्याये उत्तमे पद्ये लिङ्गार्चनमित्यपि प्राहुः ।

विकटाऽऽकाललम्बोष्ठ बृहच्छेपाण्डपिण्डक ।
शेफसे ते रेतः पातु नान्तरम्—॥

इति च वाक्यं तैत्तिरीयब्राह्मण ३।३३ स्थले प्रतिपादितमुदाहरन्ति । महाभारतोक्तं कृष्णोपमन्युसंवादमप्यत्र प्रमाणयन्ति । भाण्डारकरमतानुसारेणोपाख्यानमिदं दस्युभिन्नोच्चजातिष्वार्येषु वा लिङ्गार्चास्वीकरणं पुष्णातीति च प्राहुः । भवतु श्रीपतिरयं कृष्णागोदावर्योर्मध्यवर्तिनि वीजावर्ते विद्यावर्ते वा (वैंजवाडाऽभिधाने) स्थाने जन्म लेभे कालधारिनामकेऽग्रहारे । बैंजवाडाग्रामश्च गुण्टूरप्रान्ते वर्तते । आराध्यब्राह्मणश्चायम् ।

अयं स्वभाष्येऽनेकान् न्यायानुदाहार्षीत्तेषु कतिचिदिमे :—

१. आग्नीध्रशालान्यायः ।
२. निषादस्थपतिन्यायः ।
३. अयस्कान्तसूचीन्यायः ।
४. अन्धसन्ध्यान्यायः ।
५. अर्थिसार्थो विवादे नाधिक्रियते इतिन्यायः ।
६. गोबलीवर्दन्यायः ।
७. छागपशुन्यायः ।
८. नदीसमुद्रन्यायः ।
९. वीजाङ्कुरन्यायः ।
१०. भ्रमरकीटन्यायः ।
११. शाखाचन्द्रन्यायः ।
१२. सौधसोपानन्यायः (भामतीकारमते सोपानारोहणन्यायः ।
१३. रात्रिसत्रन्यायः ।
१४. समक्षप्रवातन्यायः, इत्येवमादयः ।

तत्र भ्रमरकीटन्यायमयम् अष्टादशवारान् प्रयुङ्क्ते । स्थूलारुन्धतीन्यायं च द्वादशवा । इति ।

एतन्मते ब्रह्मविष्ण्वादयः पशवः, पशुपतिश्च शिवः । लिङ्गरूपेण शिश्नधारणमेव देवधारणम् । अयमेव छन्दसामृषभः । "लिङ्गमध्ये जगत्सर्वम्" 'लिङ्गं ब्रह्मैव केवलम्' इत्यादिवाक्यानि हंससंहितारुद्रसंहिताकठवल्ल्यादिषु प्रयुज्यमानानि शिवस्यैव जगत्कारणतामामनन्ति । एतदेव मोहेञ्जोदारो-स्थानोपलब्धलिङ्गपूजायाश्चिह्नैरपि विशदीक्रियते । येनेदं सिद्धयति यत् शिवपूजेयं कालप्रभावात्परीवर्तमुपेता । शैवमतमिदं नकुलीशपाशुपतमतप्रभावितमिति केचिदाहुः, तथा चेदं प्रतिभात्यंशतः, यतो वैष्णवमतं दासतायुक्तं परतन्त्रम् । इदन्तु—मुक्तात्मानः परमेश्वरगुणसम्बन्धिनः पुरुषत्वे सति समस्तदुःखबीजविधुरत्वात्, परमेश्वरवदित्यनुमित्सापरं पञ्चार्थप्रपञ्चनपरं पाशुपतशास्त्रमाश्रयते, पाशुपतसूत्रेषु सूत्रमिदं प्रथते—अनुस्नाननिर्माल्यलिङ्गधारीति । अत्र च पावित्र्यहेतुषु लिङ्गधारणमप्युक्तं तदेव च वीरशैवैः स्वीक्रियते तस्माद् व्यक्तः प्रभावः

शिवो ब्रह्मेत्यनर्थान्तरम्

श्रीपतिमते ये गुणाः परे ब्रह्मणि ते सर्वे परे शिवे सदाशिवे वा सन्ति । ये चान्ये ते सर्वे शिव एवं, तन्मते 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादिश्रुतिरोपनिषदी साक्षादभिधावृत्तिमाश्रयते । स च—

अष्टादशानामेतासां विद्यानां ब्रह्मवर्तिनाम् (?) ।
अधिकर्ता शिवः साक्षात् शूलपाणिरिति श्रुतिः ॥१॥
साद्योजातेन ऋग्वेदं वामदेवेन याजुषम् ।
अघोरेण तथा साम पुरुषेणात्त्वथर्वणम् (?) ॥२॥
ईशानेन मुखेनैव कामिकाद्यागमं तथा ।
जनयामास विश्वेशः सर्वसिद्धिप्रदायकः ॥३॥

विमर्शरूपिणी शक्तिः शिवस्य परमात्मनः ।
निगमागमरूपा स्यात् सर्वतत्त्वप्रकाशिनी ॥४॥
तस्माद्वेदागमार्थेषु यः कुर्याद् भेदभावनाम् ।
स सहस्रकुलं घोरे नरके पतति ध्रुवम् ॥५॥

शिवात्मका एव वेदाः शब्दज्ञानादिरूपत्वेऽपि नित्याः । ते वेदानां चतुर्मुखप्रभवत्वं अग्निवायुरविप्रभवत्वं वा नोरीकुर्वते, वदन्ति च यद् अग्निवायूत्पत्तेरपि ब्रह्मणश्चापि प्राग् वेदाः 'यो ब्रह्मणं विदधाति पूर्वम्' इत्यादि-वचनेभ्योऽवस्थिता आसन् शिवे, अतः शिव एव वेदस्य जगतश्च प्रभवः ।

भेदाभेदसिद्धान्तः

श्रीपतिभाष्यं वीरशैवेभ्यः, रामानुजभाष्यं श्रीवैष्णवेभ्यः आनन्दतीर्थभाष्यं सद्वैष्णवेभ्यो माध्व-वैष्णवेभ्यो वा, शाङ्करभाष्यं स्मार्तेभ्यो निरमीयत । श्रीमान् श्रीकण्ठः शुद्धशैवधर्मं श्रीपतिश्च वीरशैवमतं प्राचीचरत्, श्रीकण्ठभाष्यं श्रीमद्भिरप्पयदीक्षितैर्व्याख्यातं टीकितं वा, श्रीकण्ठः स्वमतं विशिष्टाद्वैतशब्देनापि निर्वक्ति । श्रीपतिश्रीकण्ठौ यद्यपि शैवौ तथापि श्रीपतिः शैवविशिष्टाद्वैतं शाङ्कराद्वैतसम्पृक्तं नतरां स्वी-करोति । रामानुजमते सूत्रकारः सप्तभङ्गीनयं भेदाभेदञ्चैकपद एव निरास्थत्, "नैकस्मिन्नसम्भवादि' ति सूत्रयन् । श्रीपतिस्तु एकस्मिन्नसम्भवाधिकरणे—अनन्तरोक्तसूत्रादग्रे स्वमतसिद्धयर्थमेवं च चात्मानित्यत्वम् (१) शरीराणाञ्चानवस्थितपरिमाणत्वात् (२) न च पर्यायादप्यविशेषो विकारादिभ्यः (३) अन्त्यावस्थिते-श्चोभयनित्यत्वादविशेषः (४) इति चत्वारि सूत्राणि भेदाभेदसाधकानि वदति । यतः शङ्करभास्कर-रामानुजश्रीकण्ठआनंदतीर्थनिम्बार्कवल्लभविज्ञानभिक्षवो द्वितीयं शरीराणामित्यादि सूत्रं स्वभाष्येषु न प्रस्तुवन्ति । बादरायणसूत्राणि न पाणिनिसूत्राणीव प्रक्षेपविक्षेपशून्यानि । सूत्रैकभागं कश्चित् पूर्वसूत्रेण युनक्ति कश्चित् परसूत्रभागेन । प्रतिज्ञाविरोधादिति सूत्रं (१।१।६) श्रीपतिरामानुजौ स्वीकुरुतः, परम् अतएव च स ब्रह्म (१।२।१६) इतिसूत्रं रामानुजोऽनुजज्ञौ शङ्करानन्दतीर्थश्रीपतयश्चेदं निरास्थुः । प्रतिज्ञाऽनुपरोधाच्चे (२।४।३) ति सूत्रस्यापीयमेव स्थितिः । मुक्तेश्च (२।३।१६) यथेतदनेव च (३।१।६) इमे सूत्रे आनन्दतीर्थ-भाष्यमेवालं कुर्वाते । पूर्ववृत्तेश्चे (२।२।२) ति सूत्रं शङ्करानन्दतीर्थभाष्ययोरुपलभ्यते न श्रीपतिरामानुजयोः । भवतु । जीवब्रह्मणोर्भेदं दहरमेवान्तरं श्रीपतिरुपस्कुरुते । नदीसमुद्रवत् भ्रमरकीटवत्, छायाऽऽतपवत्, तमः प्रकाशवच्च साधनीयम् । द्वादशाहवदुभयविधम् (४।४।१२) इतिसूत्रं बादरायणस्य प्रमाणयति । अतएव दुर्वासीयनामकग्रन्थे लिखितम्:—

अनाद्यविद्यया बद्धं ब्रह्म तत्कालकारणम् ।
स्वाविद्यया संसरति मुक्तिः कल्पितवाक्यतः ॥
एवं प्रतारणं शास्त्रं सर्वमाहात्म्यनाशकम् ।
उपेक्ष्यं शिवभक्तैस्तु श्रुतिस्मृतिविरोधतः ॥इत्यादि ।

श्रीपतिः षट्स्थलाभिधानंग्रन्थमेकमलिखत्, यत्र ध्यानादीनि षट् स्थलानि प्रतिपादितानि । तान्येव मुक्तिसाधनानि,तदुक्तम्—

"जीव एव भवेच्छम्भुः क्रिमिवत् कीटचिन्तनात्" इति श्रीपतिः रामानुजवद् द्वैतमङ्गीकुरुते । तदीयमद्वैतं केवलं नित्यं शिवसारूप्यं तत्सामीप्यं तद्भोगमात्रं वा । मुक्तौ सारूप्ययुक्तिमात्रं न तु जीवस्या-

ऽपूर्णत्वं, अशक्तत्वं, अस्वातन्त्र्यञ्चापैति । माध्वास्तु पञ्च भेदवादिनः—तथाहि—१—जीवानां परस्परभेदः । २—जीवेश्वरभेदः । जडानामचेतनानां वा परस्परभेदः । ४—ब्रह्मजडयोर्भेदइति । इमे पञ्च अनपायिनः । श्रीपतिस्तु ४/४/ २२ सूत्रे ब्रूते जीवेश्वरयोः संसारदशायां स्वाभाविकं भिन्नत्वं, मोक्षदशायां तद्वदभिन्नत्वं ब्रह्मणो मूर्तामूर्तत्वात् । श्रीपतिर्जगन्मिथ्यात्वं शङ्करवन्न मनुते । रामानुजवदयं चेतनाचेतने नेश्वररूपे मन्यते । आनन्दतीर्थवन्मोक्षेऽपि जीवस्य भिन्नत्वमेवास्तीति न स्वीकरोति यद्यपि स्वीकरोति तद्वत् जीवेश्वर-प्रवृत्तीनामनादित्वम् । श्रीकण्ठस्यविशिष्टाद्वैतमपि तिरस्करोति । किन्तु चेतनाचेतनजगति कर्तृत्वं ब्रह्मण्येव मनुते । कानिचित् सूत्राणि पूर्वपक्षियाणि कानिचिच्च तदुत्तरपक्षस्थितानि इति ।

रामानुजशङ्करोक्तमपि भिनत्ति, तन्मते सर्वाणि वाक्यानि सिद्धान्तरूपाण्येव । तेषां समन्वय एव भेदाभेदात्मकविशेषाद्वैते । शिवस्य परोत्कृष्टत्वं तस्यैव च परब्रह्मत्वमसावातिष्ठते । देवराजस्य (द्वितीयस्य) राज्ये (१४२३-१४४६) ईशाब्दे विजयनगरीयराजानां वंशजाः वीरशैवविदुषां ग्रन्थाननेकान् प्राकाश्यमापिपन्–यथा श्रीमहालिङ्गदेवस्य एकोत्तरषट्स्थलम् षट्स्थलविवेकश्च । श्रीलक्ष्मणदण्डेशस्य शिवतत्त्वचिन्तामणिः श्रीकुमारबङ्कनाथस्य षट्स्थलोपदेशः । श्रीचामरसस्य प्रभुलिङ्गलीलेत्यादयः । अस्य भेदाभेदे सगुणनिर्गुणयोः यथार्थवादादर्शवादयोः सामञ्जस्यं स्थाप्यते—भेदः संसारदशायामभेदो मोक्षे, अतश्च भेदाभेदात्मको विशेषाद्वैतपक्षोऽस्य लोकेभ्यो वीरशैवानुयायिभ्यो रोचते । शिवत्वं भ्रमरकीटन्यायेन-उपासनाध्यानधारणाभिः, दर्शनेन (सत्यविवेकेन)श्रवणेन (गुरूपदेशेन) निदिध्यासनेन (समाधिना) चेतिषट् स्थलेन लभ्यते । षट् स्थलानि सामरस्यं शिवाभिन्नत्वमुपपादयन्ति । इमानि षट् सोपानानि (stages) १—भक्ति—२—महेश (महेश-दर्शनोत्कण्ठा) ३—प्रसाद, ४—प्राणलिङ्ग, ५—सारण ६—ऐक्यरूपाणि षट् स्थलानि परिभाष्यन्ते । प्राण-लिङ्गपदे लिङ्गं दृश्यशरीरं (gross or visible body) मोक्षेऽपि मुख्यत्वं परमशिवे ब्रह्मण्येव, मुक्तास्तु मोक्षेऽपि तदाराधनतद्दर्शनापरा एव सन्तिष्ठन्ते । एतादृशोऽयं भेदाभेदः श्रीश्रीपतिमते । एतद्विषये साधक-बाधकयुक्तिप्रमाणादिपरस्ताद् वक्ष्यामः । तथापि—श्री० सी० हयवदनरावमहोदयेन यदुक्तमत्र विषये तदपि तद्भाषयैव श्रोतुमर्हन्ति सन्तः । तथा हि—

"It may be urged that श्रीपति is unable to distinguish between philosophy and religion. But the answer should be that if the perfectly real being can alone be perfectly known,and if to know ब्रह्मन्, the perfectly real being, is eternal life, the goal of philosophy is the same as the goal of religion—perfect knowledge of the perfect. Nor can a man's philosophy be completely separated from his religion. श्रीपति's realism, shows us the way to bridge the dilemma of idealism and realism, a dilemma which still confronted the philosophical controversies of his time……… like Plato he not only confirms the dualism of "this" world and "the other", but also passionately strives to demonstrate the unity of things, the unity of the universe.

काश्मीरिकस्पन्दप्रत्यभिज्ञादर्शनयोर्भेदाभेदः ।

स्पन्ददर्शनं श्रीवसुगुप्तो नाम विद्वान् A. D. नवमशतकोद्भवः प्रातिष्ठिपत् । श्रीमदभिनवगुप्त-पादाश्च प्रत्यभिज्ञादर्शनमदर्शन । अभिनवगुप्तश्च A. D. १० मशतकमलंचकार । द्वयोरप्यनयोर्दर्शनयोर्जगदु-

त्पत्तिः शिवस्य महेश्वरस्य सिसृक्षावशादेव भवति । न हि स भगवान् जगन्निर्माणाय कर्म वा प्राणिविहितं प्रधानं वा कापिलमपेक्षते । अनल्पविकल्पनामूलं मायामपि सदसद्भ्यामनिर्वाच्यां न कोऽप्यनयोः स्वीकुरुते । श्रीपतिवदिमावपि मायायै द्रुह्यतः । माति प्रलये जगदस्यामिति व्युत्पत्त्या मायाशब्दो शिवपर्याय एव । रामानुजवदचेतनजगदात्मकत्वमपि भगवतस्तौ नोरीकुरुतः । भगवान् संकल्पमात्रेण स्वस्मिन् जगदाभासयति । जनाश्च जगत् ततोऽभिन्नमपि भिन्नमिव प्रतियन्ति । तेन जगता भगवान्न स्पृश्यते ऽण्वपि । यथा दर्पणे प्रतिबिम्बानि न दर्पणं विकुर्वन्ति तथैव शिवोऽपि प्रतीतिमात्ररूपेण जगता न संसृज्यते । जीवोऽयं शिवप्रतिरूपः । स्पन्दनादेव भजते शिवरूपताम् । स्पन्दनमिदं गुरुप्रतिच्छन्दनापेक्षं शिवानुग्रहाधीनं वा । मलापचयोऽयमनादिरात्मनि यदा स्पन्दते क्षरति तदैव जीवः शिवरूपतामात्मनः संजानीते । मलापाकरणं च स्पन्दशास्त्रोक्तध्यानपरिकर्मादिना साध्यम्, समाधिसाधिम्ना वा । समाधिना निश्चलध्यानेन निःस्पन्दो जीवः भगवद्रूपदर्शनात्मकतां स्वात्मनो ज्ञातुं स्पन्दने प्रभवति । मलोच्छेदोऽपि भगवदनुग्रहात्तस्मिन्नात्मार्पणादेव । नास्ति काचित् क्रिया प्रत्यभिज्ञासाध्येति न शङ्क्यम् । याह्यर्थक्रिया बाह्यरूपभिन्ना, केवलं प्रीत्यादिरूपा सा प्रत्यभिज्ञानमपेक्षते एव । यथा नायकमपरिचिन्वती काऽपि नायिका दूतीवचनात्तं परिचिनोति—न तु जनसार्थवर्तिनं पार्श्वे परिचरन्तमपि वेत्ति, तथैव स्वात्मनि विश्वेश्वरात्मना भासमानेऽपि तन्निर्भासनं तदीयगुणपरामर्शविरहसमये गुणाधिकरणाज्ञानात् नासादयतिपूर्णभावम् । यदा तु गुरुकृपाऽपारवृष्टिसृष्टचा विध्वस्तस्वात्ममलतिरस्करणीकः सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वलक्षणं परामर्शं शिष्यः स्वस्मिन् तनुते तदा पूर्णात्मतालाभो भवति । तदुक्तमभियुक्तैः—

> तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तस्याः स्थितोऽप्यन्तिके,
> कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा ।
> लोकस्यैष तथाऽनपेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो
> नैवायं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता ।।

इदं च शास्त्रं श्रीसोमनाथानन्दपादैः उदयाकरसूनु—उत्पलाचार्यप्रभृतिभिः समुपबृंहितं प्रचारातिशयमलब्ध । ते चात्र प्रवृत्तिं तस्यैवमाचक्षते:—

> योऽधीतो निखिलागमेषु पदविद्यो योगशास्त्रश्रमी,
> यो वाक्यार्थसमन्वये कृतरतिः श्रीप्रत्यभिज्ञामृते ।
> यस्तर्कान्तरविश्रुतश्रुततया द्वैताद्वयज्ञानवित्
> सोऽस्मिन् स्यादधिकारवान् कलकलप्रायः परेषां रवः ।। इति ।।

एवञ्च शैवानुसारिणोरनयोरपि मतयोः सारूप्यलाभः तद्रूपताऽऽपत्तिर्वा नैकान्ताद्वैतं सिद्धान्तयति, किन्तु श्रीपतिप्रोक्तभेदाभेदमेव श्रयते । नहि प्रत्यभिज्ञानस्पन्दयोः क्रिया जीववर्तिनी जीवं तत्क्रियाविरहितं कदापि सम्पादयतीति सर्वं विशदम् ।

पाश्चात्यदार्शनिकेषु भेदाभेदवादः

ईशवीये द्वादशे शतके श्रीवासवाचार्येवंसवाचार्यैर्वा यो भेदाभेदक्षुपः प्रत्यारोपितः स एव श्रीपतिना संवर्धितः सन् पुष्पितः पल्लवितः फलितश्चाभवत् । हिब्रू लेखकैराध्यात्मिकविचारा ये भारतीयविचारप्रभावितैरुदलिख्यन्त, यांश्च डेस्कार्टिस (Descartes) प्राकाशयत् त एव दार्शनिकजगतः पाश्चात्येषु पितृपदवोमा-

दधता स्पिनोजा (Spinoza) विदुषा प्राचार्यन्त। स एव जगति एकात्मकतां (Unity) सिद्धान्तयामास। इदञ्च ऐक्यम् ईश्वररूपेण वास्तविकपदार्थरूपेण वा शक्यमनुभवितुम्। ये गुणाः यानि वा रूपाणि जगति लक्ष्यन्ते, ते तानि वा भेदवन्ति सन्त्यपि वस्तुतो न भिद्यन्ते। वयं वस्तुनो वृद्धिं पश्यामः, विचारांश्चोहापोह-रूपान् विमृशामः। द्वयमिदं (Extension and thought) न प्रत्यक्षम्। हेगलः (Hegel) (१७७०–१८३१) यद्यपि समालोचयति स्पिनोजां तथापि तमेवानुसरति। अत एव स आधुनिकपाश्चात्यदार्शनिकानां जनकपदं बिभर्ति। द्वावपीमौ यत् सादृश्यं (identity) परस्परं भिन्नेषु पदार्थेषु पश्यतः—सोऽयं भेदाभेदः। अयं प्रतिवस्तु पाश्चात्यदार्शनिकप्रतिपाद्यमानेषु वस्तुषु प्रतीयते। स्पिनोजामते कीदृश आत्मा? कीदृशी प्रकृतिः? कीदृशानीन्द्रियाणि? किमात्मकं वपुः? इत्यादि सर्वं न साम्प्रतकालम्। (Bruno) (ब्रूनो) बेकन (Bacon) प्लेटो मतानुयायिनश्च—स्पिनोजासिद्धान्तमनुसरन्ति। श्री (Pollock) पोलकमहोदयः स्पष्टं व्यलिखत्—"The East has a considerable share in the portion of Spinoza's materials" इति। श्री मैलमीड (Melamed) नामको विद्वान् "स्पिनोजा तथा बुद्धः" इतिपुस्तके तम् उपनिषद्भिः बुद्धस्य भगवतो विचारैश्च प्रभावितं वदति। स स्पिनोजां वर्णयन् "The greatest occidental representatives of Eastern mysticism" इत्यादि वचनैः भारतीयतां तस्य ख्यापयति। श्रीमेलमैडमहोदयो बहुत्र प्राशंसीद् भारतीयान् तत्प्रभावितं स्पिनोजां च।

अयं च स्पिनोजो यन्मतमाश्रयते सोऽयं द्वैताद्वैतवादः, न विशिष्टाद्वैतवादः, नापि द्वैतवादः किन्तु श्रीपतिस्थापितो भेदाभेदात्मको विशेषाद्वैतवादः। बल्लभस्य शुद्धाद्वैतवादः पुष्टिमार्गसिद्धान्ताऽऽङ्कोऽपि श्रीपति-मतिकृतिसृतिमनुसरति। नतरामद्वैतमिति तस्मादात्मचिन्तनधर्मैराश्रयणीयोऽयं पन्थाः। यदुक्तं सी. आइ. ई महामहोपाध्याय श्रीगङ्गाधरशास्त्रिभिर्हंसाष्टकस्य द्वितीये पद्ये—

मृत्पिण्ड नीडमाप्याऽस्थिरचित्तमनिलान्दोलितं रन्ध्रपूर्णं
हंसाश्रित्यं प्रमाद्यंस्त्यजसि यदि सुखावाप्तिहेतुं विचारम्।
वर्षैरल्पैरमुष्मिन् विदलति वितथीभूततत्स्थैर्ययत्नो
विस्मृत्योच्चैर्गतिं स्वां त्वमशरणतयाऽधः पतन् शोचितासि॥

एवं संक्षिप्य प्रदर्शितः श्रीपतेः पन्थाः। यदीममपरिज्ञाय कश्चित् परिहरति तदाऽम्लद्राक्षाशृगालन्यायमेवानु-हरति—नैतावता प्रतीमः पन्थाः कन्थायते। इत्यलं बहूक्त्वा क्षोदक्षमविषयेऽस्मिन्। अम्लद्राक्षाशृगालन्याय-श्चेत्थं परिज्ञेयः, तमेवोक्त्वा विरम्यते:—

द्राक्षामनोकहगतां नरबाहुलभ्यां
थूत्कृत्य याति यवलब्धफलः शृगालः।
का हानिरस्ति नरनाथ वनोद्भवायाः
तस्यास्तु साधुजननीतमहार्घतायाः॥ इति॥

॥ इति शिवम्॥

भरत और पिंगल का लौकिक छन्दोद्दृष्टि से मूल्यांकन

आचार्य राम किशोरमिश्र

छन्द को वेद के षडङ्गो में[1] स्थान प्राप्त हैं। जिस प्रकार वेद के अन्य अङ्ग शिक्षा कल्पादि महत्त्वपूर्ण हैं, उसी प्रकार छन्द का महत्त्व किसी अन्य अङ्ग से कम नहीं है। छन्द को वेद का पाद कहा गया है; पाद का अर्थ चरण है[2]। जिस प्रकार चरणों से रहित व्यक्ति चलने में असमर्थ होताहै। उसी प्रकार छन्दों के विना वेद की गति नहीं होती। अतः वेद छन्दों पर आश्रित हैं, इस कारण छन्दों का अधिक महत्त्व है।

ऋग्वेद से पूर्व भी छन्दों का अस्तित्व था, क्योंकि ऋग्वेद के छन्द प्राचीन छन्दःशास्त्र की दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध तथा विकसित हैं। निस्सन्देह ऋग्वेद की रचना तक छन्दोनिर्माण के अनेकशः अभ्यास हुए होंगे, जिनके फलस्वरूप छान्दस प्रयोग उस परिक्वावस्था को प्राप्त कर सका, जिसमें ऋग्वेद की रचना हुई; किन्तु अन्य किसी स्थूल सामग्री के अभाव में हम ऋग्वेद को ही पुरातनतम छन्दोबद्ध रचना स्वीकार करते हैं[3]। वैदिक युगारम्भ से वैदिक युग की समाप्ति तक छन्द इतने प्रसिद्ध हो चुके थे कि उन्हें सुरक्षित रखने के लिए छन्दःप्रवक्ता आचार्यों ने उनके नियम बनाने प्रारम्भ किये, तब से उनकी गणना छन्दो-नियामक ग्रन्थों में होने लगी। प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में छन्दःशास्त्र के लिए अनेक नामों का व्यवहार मिलता है,[4] जिससे ज्ञात होता है कि छन्दोनियामादि का काफी प्रसार हो चुका था और छन्दःशास्त्र की सम्बन्धी इधर उधर बिखरी हुई सामग्री[5] को एकत्रित कर पिङ्गल ने छन्दःसूत्र की रचना की, जिसमें

---

(१) शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, व्याकरण और ज्योतिष।

(२)' छन्दः पादौ तु वेदस्य.........' पाणिनीय शिक्षा–श्लोक–४१।

(३) डॉ० संसारचन्द्र, छान्दोऽङ्कारप्रदीप, देहली, १९७३, पृ० १६४--६५

(४) छन्दोविचिति, छन्दोमान, छन्दोभाषा, छन्दोविजिनी (पाणिनीयगणपाठ–४/३/७३; जैनेन्द्रगण-पाठ३/३/४७; जैन शाकटायन गणपाठ--३/१/१३६) तथा इन्द्रोविजिति, छन्दोनाम, छन्दोव्याख्यान (चान्द्रगण- पाठ–३/१/४५) और छान्दसांविचव (निदानसूत्र–१/१/१)।

(५) १. शांखायनब्राह्मण–२३/खण्ड–२ में शक्वरी छन्द की निरुक्ति।

२. ताण्डिप्रोक्त ताण्ड्यब्राह्मण में द्विपदा–विष्टारपङ्क्त्यादिछन्दोविवरण (उपनिदानसूत्र–१, पृ० २ तथा अध्याय ८/१)।

३. आर्षेय ब्राह्मण—१/१ में वर्णित छन्द का महत्त्व।

४. देवताध्याय ब्राह्मण, खण्ड--३ की कण्डिकाओं में छन्दों की निरुक्तियाँ।

५. यास्ककृत निरुक्त–७/१२, १३ में वर्णित छन्दों की निरुक्तियाँ।

६. शांख्यायन श्रौत्रसूत्र के अध्याय–६,७, १४, १६ में गायत्र्यादि छन्दों का सपाद वर्णन।

छन्दो का साङ्गोपाङ्ग वर्णन है । छन्दःसूत्र से पूर्व पतञ्जलि के **निदानसूत्र**, शौनक के **ऋक्प्रातिशाख्य**[६] और कात्यायन की **ऋक्सर्वानुक्रमणी**[७] में वैदिक छन्दों पर तथा भारत के **नाट्यशास्त्र**[८] में लौकिक छन्दों पर विचार प्राप्त होता है; और कतिपय छन्दः[९] प्रवक्ताओं का उल्लेख पिङ्गल ने छन्दसूत्र में किया है,[१०] जिनके आज छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थ प्राप्त नहीं होते ।

प्राथमिकता में तो आचार्य पिङ्गल छन्दोजगत् में प्रसिद्ध हैं किन्तु भरतमुनि छन्दोगत दृष्टि से उपेक्षित रहे हैं कुछ विद्वान् नाट्यशास्त्रगत छन्दोविवरण को प्रक्षिप्त मानते हैं,[११] और डॉ० कीथ के मतानुसार पिङ्गल का छन्दःसूत्र नाट्यशास्त्र के छन्दो विषयक चौदहवें और पन्द्रहवें परिच्छेदों से पूर्ववर्ती है[१२] । पिङ्गल ने छन्दःसूत्र में बीजगणितात्मक पद्धति अपनायी है[१३] और गद्यात्मक सूत्र पद्धति से[१४] छन्दों के लक्षण दिये हैं किन्तु भरत के छन्दोविवेचन में छन्दों के लक्षण सूत्रों में न होकर अनुष्टुप् आदि छन्दों में हैं, [१४अ] जिससे छन्दःसूत्र को नाट्यशास्त्र के छन्दो विषयक पन्द्रहवें तथा सोलहवें अध्याय से पूर्ववर्ती माना जाता है ।[१५] पिङ्गल की बीजगणितात्मक पद्धति एक विकसित पद्धति है, जो लघुगुरुवर्णनिर्देश पद्धति का

---

(६) निदानसूत्र के प्रथम प्रपाठक के प्रथम सात खण्डों में छन्दोवर्णन (समय–शौनक से पूर्व, देखें–युधिष्ठिर मीमांसककृत **वैदिक छन्दो मीमांसा**, पृ० ५९, अमृतसर, ११५९ ।)

(७) ऋक्प्रातिशाख्य के १६–१८ पटलों में छन्दोवर्णन (समयः–कात्यायन से पूर्व, देखें–बलदेव उपाध्याय, **वैदिक साहित्य और संस्कृति**, पृ० २८०, वाराणसी, १९७३)

(८) ऋक्सर्वानुक्रमणी में छन्दोवर्णन (समय–पाणिनि से पूर्व. यह कात्यायन वैय्याकरण कात्यायन से भिन्न हैं, देखें–बलदेव उपाध्याय, **वैदिक साहित्य और संस्कृति** पृ० ३५०–५१ और पृ० २८० ।

(९) नाट्यशास्त्र के अध्याय–१६ और ३२ में लौकिक छन्दों का वर्णन ।

(१०) छन्दःसूत्र—४/२९, ३०, ३६; ४/१८, ७/९, ११, ३६ में क्रमशः क्रौष्टुकि, यास्क, ताण्डी, सैतव काश्यप, शाकल्य, रात, माण्डव्य का उल्लेख ।

(११) काणे ने प्रथम पांच तथा अन्तिम और छान्दोविषयक पन्द्रहवें सोलहवें अध्यायों को मौलिक भाग से परवर्ती माना है तथा अध्याय ६ से १४ और १७ से ३५ तक मौलिक भाग माना है ।–काणे, **संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास**, पृ० २२

(१२) ए० बी० कीथ, **संस्कृत साहित्य का इतिहास** (हिन्दी अनुवाद) अनु० मंगलदेव शास्त्री, पृ० ५२२, दिल्ली, १९६७ चौदहवें और पन्द्रहवें परिच्छेदों के स्थान पर नाट्यशास्त्र में पन्द्रहवें और सोलहवें अध्याय हैं

(१३) लघु को ल गुरु को ग और मगण (SSS) नगण (III) आदि अष्टगणात्मक निर्देश पद्धति ।

(१४) 'हलमुखा नौं स् । छन्दःसूत्र ६/१४।

(१४अ) आद्येपुनरन्त्ये द्वे द्वे गुरुणी चेत् ।
वृत्तं तनुमध्या गायत्रसमुत्था ॥ नाट्यशास्त्र–१६/२

(१५) कीथ, सं० सा० इति० (हिन्दी, पृ० ५२२, दिल्ली, १९६७ ।

विकसित रूप है।[१६] ऋक्प्रातिशाख्य के वैदिक छन्दोलक्षण भी पद्यों में हैं किन्तु वे पिङ्गल से परवर्ती तो नहीं, फिर नाट्यशात्र के पद्यगत छन्दोलक्षण पद्धति के आधार पर परवर्ती क्यों ? जब कि भरतमुनि पिङ्गल से पूर्ववर्ती हैं।[१६अ]

किसी पद्धति विशेष में रचना के होने से रचना पूर्ववर्ती या परवर्ती नहीं मानी जा सकती। गद्यात्मक सूत्र पद्धति में तो रचनाएँ पाणिनि से लेकर हेमचन्द्र (१२वीं ई०) तक प्राप्त होती हैं किन्तु उन्हें किसी पद्धति विशेष के कारण पूर्ववर्ती या परवर्ती नहीं माना जाता, अपितु उस प्रकार की स्थिति में रचना के समय विशेष की ही मान्यता होती है। प्राचीन रचना में कालान्तर से पाठ-भेद तो हो सकता।* है किन्तु विभिन्न अध्यायों के प्रक्षेप से उसके प्राचीन संस्करण भी विभिन्न होंगे। नाट्यशास्त्र के प्राचीन संस्करण भी छन्दोविवरण से रहित नहीं मिलते। छन्दोविषयक अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे प्रक्षिप्त माने जाने वाले छन्दोविषयक अध्याय भरतमुनि की मौलिक रचना के ही भाग हैं।[१६ब] इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र के ३२ वें अध्याय में ही ध्रुवाविधान में प्रसङ्गवश छन्दों को लक्षित किया गया है, जिनके उदाहरण प्राकृत भाषा में दिये गये हैं किन्तु छन्द संस्कृत के ही वर्णिक वृत्तों में हैं। अतः भरत और पिङ्गल के छन्दः कार्यगत मूल्याङ्कन के निमित्त सर्वप्रथम उनके समय पर विचार करना आवश्यक होगा, जिससे समय की वास्तविक स्थिति का निष्कर्ष समक्ष आ सके और फिर उनके छन्दोगत कार्य का मूल्याङ्कन किया जा सके।

अधिकतर विद्वान् पिङ्गल को पाणिनि के समकालीन मानते हैं। षड्गुरुशिष्य ने अपनी टीका में पिङ्गल को पाणिनि का अनुज माना है[१७] और यही मत मीमांसक जी का भी है[१८]। महाभारत में सर्पसत्र से अवशिष्ट नागों के साथ पिङ्गल की गणना की गयी है[१९] और मत्स्यपुराण के अनुसार पिङ्गल

---

(१६) सर्वप्रथम अक्षरपरिमापपद्धति थी, जिसमें वैदिक छन्दों के लक्षण पतञ्जलि और कात्यायन ने किये, जिसके अनुसार छन्दों की एक निश्चित संख्या बतायी जाती है। तदनन्तर लौकिक छन्दों को भरतने लघुगुरु वर्णन निर्देश से लक्षित किया, जिसके अनुसार छन्द के पाद में २, ५, ८, १० लघु शेष वर्णदीर्घ के समान निर्देश रहता है। ततः पिङ्गल ने उक्त क्रम से बीजगणितात्मक पद्धति का विकास किया, जिसके अनुसार छन्द के पाद में म न य ल ग के समान निर्देश होता है। बाद में यही पद्धति अधिकतर अपनायी गयी।

(१६ अ) युधिष्ठिर मीमांसक, वैदिक छन्दोमीमांसा, पृ० ५६,

* छन्दोविषयक पन्द्रहवें अध्याय के दो प्रकार के पाठ मिलते हैं—डॉ शिवशरण शर्मा आचार्य भरत, पृ० २३।

ब. 'छन्दोविचिति नामक सोलहवें अध्याय को नाट्यशास्त्र से असम्बद्ध नहीं कहा जा सकता। —डॉ० शिवशरण वर्मा, आचार्य भरत, पृ० १६१, भोपाल १९८१,

(१७) षड्गुरुशिष्य (सं० १२३४) कृत पिङ्गल सूत्र की टीका वेदार्थदीपिका–३/३३

(१८) युधिष्ठिर मीमांसक, संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास–भाग १, पृ० १३२

(१९) महाभारत, आदिपर्व–३५/९

नग के पुत्र सिद्ध होते है,[२०] अतः उन्हें पिङ्गलनाग भी कहा जाता है[२१]। श्री रामगोविन्द शुक्ल पिङ्गल को महर्षि पतञ्जलि मानते हैं[२२] जिससे उनके सर्पराज होने में किसी को सन्देह न हो और परवर्ती छन्दः शास्त्रियों ने पिङ्गल को भुजङ्गराज, भुजगाधिप, नागनाथ, अहीन्द्र, फणीन्द्र आदि अनेक[२३] नामों से स्मृत किया है। वैय्याकरण पतञ्जलि का समय १५० ईसा पूर्व माना जाता है[२४], जो पाणिनि और कात्यायन से परवर्ती थे। पिंगल को पतञ्जलि से अभिन्न माना जाता है[२५] किन्तु कुछ विद्वान् पाणिनि और पिङ्गल को आचार्य वर्ष का शिष्य मानने के कारण दोनों का भ्रातृत्व मानते हैं[२६] और कुछ ने पिङ्गल को पाणिनि से पूर्ववर्ती ग्रन्थकार माना है, वे उन्हें पाणिनि का मामा मानते हैं[२७] किन्तु वाचस्पति गैरोला ने पिङ्गल को पाणिनि का अनुज और समकालीन ग्रन्थकार माना है[२८]। पाणिनि की **अष्टाध्यायी** का समय ईसापूर्व चतुर्थ शतक (४००) माना जाता है[२९] और नाट्यशास्त्र का समय ५०० ईसापूर्व तक माना गया है[३०]।

(२०) मत्स्यपुराण—१९६/६, ३२

(२१) 'याः षट् पिङ्गलनागाद्यैः छन्दोविचितयः कृताः।' के० एन० भटनागर, **निदानसूत्र**, भूमिका पृ० २५, देहली, १९७१।

(२२) अयोध्यानाथ सान्याल, छन्दःसूत्र **कादम्बिनी टीका**, प्राक्कथन, पृ० ८-९, वाराणसी, सं० २०२६।

(२३) 'भुअआहिव (भुजगाधिप) सालाहण बुड्ढकई पिरूविअं दइए।' **वृत्तजातिसमुच्चय**—२/८-९ (१० वीं शती)
जोधपुर १९६२
'चूलिके इत्यहीन्द्रः।' हेमचन्द्र कृत छन्दोऽनुशासन-३/३२ और ५२ (१२ वीं शती) बम्बई, १९६१
'शम्भुं नत्वा गिरमनु ततः पिङ्गलं नागनाथं। शूरः, **कविदर्पण**—१/१ की टीका (१३ वीं शती)
जोधपुर १९६२
'चंचला विणिम्मिआ फणिंद एउ वल्लहाइ।' **प्राकृतपैंगल**—२/१७२ (१४ वीं शती) वाराणसी १९५९
'भुजङ्गराजवर्णिता प्रमाणिकेति सा मता।' **वाणीभूषण**--२/५९ (१४ वीं शती) बम्बई १९२५

(२४) कीथ, सं०सा० का० इति० (हिन्दी सं०) पृ० ५६। पाण्डेय, व्यास, सं० सा० की रूपरेखा, पृ० ३० कानपुर १९५८।

(२५) कीथ, सं० सा० का० इति० (हिन्दी) पृ० ६०, दिल्ली १९६७।

(२६) अयोध्यानाथ सान्याल, छन्दः सूत्र-**कादम्बिनी टीका**, प्राक्कथन, पृ० ९, वाराणसी, सं २०२६।

(२७) विनय सागर, **वृत्तमौक्तिक**, भूमिका, पृ० १२, जोधपुर, १९६५।

(२८) वाचस्पति गैरोला, **संस्कृत साहित्य का इतिहास**, पृ० १९१-९२

(२९) कीथ, सं सा० का इति० (हिन्दी) पृ० ५३५। पाण्डेय, व्यास, **संस्कृत साहित्य की रूपरेखा**, पृ० ३०।

(३०) बाबूलाल शुक्ल, **नाट्यशास्त्र**, प्रस्तावना, पृ० ४३, वाराणसी, १९७२।

श्री आई० शेखर ने नाट्यशास्त्र का अस्तित्व २०० ईसापूर्व में माना है [३१]। नाट्यजास्त्र के सम्पादक पी रेग्नों तथा जे० ग्राँसे ने काव्यशास्त्रीय तथा छन्दःशास्त्रीय स्वरूप को दृष्टिगत रखते हुए उसका रचनाकाल ईसापूर्व एक शती निर्धारित किया है,[३२] किन्तु डॉ० मदन घोष के अनुसार नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त छन्दों में वैदिक पद्धति का साम्य दृष्टिगत होता है, जिसके आधार पर इसे ५०० ईसापूर्व के आदि में रखा जा सकता है [३३]। कालिदास ने विक्रमोर्वशीय में भरतमुनि को नाट्यशास्त्र के आचार्य के रूप में उनके द्वारा स्वीकृत आठ रसों की चर्चा की है[३४]। श्री कन्हैया लाल पोद्दार तो नाट्यशास्त्र का स्थितिकाल वैदिक काल के पश्चात् तथा पुराणकाल के पूर्व मानते हैं [३५]। युधिष्ठिर मीमांसक ने भरत को छन्दः प्रवक्ताओं में त्रेतायुगीन माण्डव्य और सैतव से परवर्ती तथा द्वापर युगीन यास्क से पूर्ववर्ती और पिङ्गल को भरत से परवर्ती माना है [३६]। नाट्यशास्त्र में भरतमुनि के शतपुत्रों में पिङ्गल का उल्देख मिलता है [३७]। अतः नाट्यशास्त्र पिङ्गल के छन्दःसूत्र से पूर्व की रचना है।

पिङ्गल ने निम्नाङ्कित छन्दों को भरतमुनि के [३८] नाट्यशास्त्र से ग्रहण किया है—

सुप्रतिष्ठा (५) वर्णसमवृत्त—

१—भूतलतन्वी (भगग) भरत–३२/६५; पिङ्गल[३९]–६/६ पंक्ति

गायत्री (६)

२—तनुमध्या (तय) भरत–१६/२; पिङ्गल–६/७

अनुष्टुप् (८)

---

(३१) आई० शेखर, संस्कृत ड्रामा (लीडेन, १९६०) पृ० ४३, पादटिप्पणी १।

(३२) बाबूलाल शुक्ल, नाट्यशास्त्र, प्रस्तावना, पृ० ३९।

(३३) मदन घोष, नाट्यशास्त्र, परिचय पृ० ६१-६२, कलकत्ता, १९६७।

(३४) 'मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः।'–विक्रमोर्वशीय–२/१८।

(३५) बाबूलाल शुक्ल, नाट्यशास्त्र, प्रस्तावना, पृ० ४०-४२।

(३६) युधिष्ठिर मीमांसक, वैदिक छन्दो मीमांसा, पृ० ५९, अमृतसर १९५९।

(३७) 'कौत्सं ताण्डायनिं चैव पिङ्गलं छत्रकं तथा।' नाट्यशास्त्र–१/२९, वाराणसी, १९२९। भरत ने शतपुत्रों को नाट्यवेद की शिक्षा भी दी थी (नाट्यशास्त्र–१/२५, शतपुत्र सूची, नाट्य–१/२६-४०) यदि पिङ्गल भरत से पूर्ववर्ती होते तो नाट्यशास्त्र में उनका उल्लेख आचार्य के रूप में होता, पुत्ररूप में नहीं। पिङ्गल भरत के पुत्र के रूप में थे और उन्होंने उन्हें नाट्यशास्त्र की शिक्षा भी दी थी, अतः पिङ्गल ने छन्दोज्ञान भरत से प्राप्त किया था। किन्तु पिङ्गल ने छन्दः सूत्र में पूर्वाचार्यों के साथ भरत का उल्लेख क्यों नहीं किया? संभवतः समसामयिक होने से वे छन्दो विषय में अपनी ही ख्याति चाहते हों और कालान्तर में वे केवल उन्हीं की छन्दोविषयक प्रसिद्धि का प्रसार रहा। भरत की प्रसिद्धि नाट्य सिद्धान्त में रही, क्योंकि भरतके छन्दोविषय पर कालक्रम की दृष्टि से किसी विद्वान् ने विशेष ध्यान नहीं दिया।

(३८) नाट्यशास्त्र, वाराणसी, १९२९।

(३९) छन्दः सूत्र, मेरठ, १९०९।

३—विद्युल्लेखा (ममगग) भरत–१६/१६; (विद्युन्माला) पिङ्गल–६/११

वृहती (९)

४—मधुकरी (न न म) भरत–१६/१८; (भुजगशिशुसृता) पिङ्गल–६/१३

पङ्क्ति (१०)

५—कुवलयमाला, उत्पलमालिनी (म न य ग) भरत–१६/२०; (पणव) पिङ्गल–६/१६

६—पुष्पसमृद्धा (भमसग) भरत–३२/२२७; (रुक्मवती) पिङ्गल–६/१७

७—शिखिसारिणी (रजरग) भरत–१६/२२; (मयूरसारिणी) पिङ्गल–६/१८

त्रिष्टुप् (११)

८—इन्द्रवज्रा (ततजगग) भरत–१६।२८, पिङ्गल–६/२१

९—उपेन्द्रवज्रा (ज त ज ग ग) भरत–१६/३०, पिङ्गल–१६/२२

१०—दोधक (भभभगग) भरत–१६/२४; पिङ्गल–६/२४

११—शालिनी (६,९ लघु शेष दीर्घ) भरत[४०]—१६/३६; (मततगग) पिङ्गल[४१]—६/२५
४ पर यति ४,७ पर यति

१२—रथोद्धता (रनरलग) भरत—१६/३२, पिङ्गल—६/२८

१३—स्वागता (रनभगग) भरत—१६/३४ पिङ्गल—६/२९

जगती (१२)

१४—वंशस्थ (जतजर) भरत[४२]—१६/४६, पिङ्गल—६/३४

१५—हरिणप्लुता (नभभर) भरत–१६/४८, (द्रुतविलम्बित) पिङ्गल—६/३६

१६—तोटक (ससससं) भरत—१६/३८, पिङ्गल—६/३७

१७—पुट (नवमय) भरत—१६/५६, पिङ्गल—६/३८

१८—अप्रमेया (यमय) भरत—१६/५२, (भुजङ्गप्रयात) पिङ्गल—६/४३

१९—पद्मिनी (ररर्र) भरत—१६/४४, (स्रग्विणी) पिङ्गल—६/४४

२०—प्रमिताक्षरा (सजसस) भरत—१६/४४, पिङ्गल—६/४५

२१—चन्द्रलेखा (ममयय) भरत—१६/४२, (वैश्वदेवी) पिङ्गल—६/४७

अतिजगति (१३)

२२—प्रहर्षिणी (मनजरग) भरत—१६/६०, पिङ्गल—७/१

२३—प्रभावती (जभसजग) भरत—१६/५८, पिङ्गल—७/२

२४—मत्तमयूर (मतयसग) भरत—१६/६२, पिङ्गल—७/३

---

४०. यह भरत की गुरु लघु निर्देश पद्धति है। इसी में उनके अधिकतर छन्द लक्षित हैं।

४१. यह पिङ्गल की बीजगणितात्मक पद्धति है, जिसमें गुरुलघु तथा अष्टगणों में से उचित गणों का निर्देश रहता है। इसी में इनके अधिकतर छन्द लक्षित हैं।

४२. जगती के समान वैदिक मूल छन्द उक्ता से उत्कृति पर्यन्त निर्दिष्ट किये गये हैं, जिनके अन्तर्गत लौकिक छन्द विकसित हुए हैं। कोष्ठक ( ) में अङ्क छन्दों के पादसूचक हैं।

शक्वरी (१४)

२५—असम्बाधा (मतनसगग) भरत—१६/६६, पिङ्गल—७/५

२६—उद्धर्षिणी (तभजजगग) सैतव (छन्दः सूत्र—७/१०), वसन्ततिलका-भरत—१६/६४, पिङ्गल—७/८[४३]

अतिशक्वरी (१५)

२७—नन्दीमुखी (ननमयyय) भरत—१६/७०, (मालिनी) पिङ्गल—७/१५

अष्टि (१६)

२८—गजविलसित (भरननगग) भरत—१६/७२, (ऋषभगजविलसित) पिङ्गल—७/१६

अत्यष्टि (१७)

२९—वृषभचेष्टित (नसमरसलग) भरत—१६/७८, (हरिणी) पिङ्गल—७/१७

३०—विलम्बितगति (जस जस यलग) भरत—१६/८४[४४], (पृथ्वी) पिङ्गल—७/१८

३१—वंशपत्रपतित (भरनभनलग) भरत—१६/८२, पिङ्गल—७/१९

३२—श्रीधरा[४५] (मभनततगग) भरत—१६/८०, (मन्दाक्रान्ता) पिङ्गल—७/२०

३३—शिखरिणी (यमनसभलग) भरत—१६/७६, पिङ्गल—७/२१

धृति (१८)

३४—चित्रलेखा (मतनयyय) भरत—१६/८६, (कुसुमितलतावेल्लिता) पिङ्गल—७/२२

अधिधृति (१९)

३५—शार्दूलविक्रीडित[४६] (मसजसततग) भरत—१६/८८-८९, पिङ्गल—७/२३

---

४३. पिङ्गल ने वसन्ततिलका वृत्त के पूर्वनामों के सम्बन्ध में पूर्ववर्ती छन्दःशास्त्रियों के नाम के साथ उल्लेख किया है, जिसमें वसन्ततिलका का नाम सैतवाचार्य के मत में उद्धर्षिणी (छन्दः सूत्र—७/१०), काश्यप के मत में सिंहोन्नता (छन्दः सूत्र—७/९) और शाकल्य के मत में मधुमाधवी (छन्दः सूत्र—७/११) था। इनमें सर्वप्राचीन आचार्य सैतव हैं (वैदिक छन्दोमीमांसा, पृ० ५९)।

४४, ४५. विलम्बितगति और श्रीधरा वृत्त के लक्षण नाट्यशास्त्र में पद्यबद्ध बीजगणितात्मक पद्धति में प्राप्त होते हैं। यह संभवतः भरत ने अपनी सुविधा के अनुसार पद्धति में परिवर्तन किया हो, जैसे कि पिङ्गल ने वृत्त छन्द के लक्षण में परिवर्तन किया है और उसे गुरुलघु निर्देश पद्धति से लक्षित किया (देखें—छन्दः सूत्र—७/२०)। यद्यपि भरत ने बीजगणितात्मक पद्धति के गुरु—ग, लघु—ल के साथ अष्टगणों का निर्देश किया है और उन्हें ब्रह्मसम्भूत बताया है (देखें—नाट्यशास्त्र—१५/८६—८९), तथापि ग्रन्थ के अनुष्टुप् छन्द में लिखे जाने से छन्दों के लक्षण अधिकतर अनुष्टुप् छन्द में ही दिये हैं।

४६. शार्दूलविक्रीडित का लक्षण भरत ने गुरुलघुवर्णनिर्देश पद्धति के अनुसार (अन्तिम—१९ वां, १७ वां, १६ वां, १४ अग्रग—१३ वें के साथ, १२ वां, ६ठा, ८ वां और प्रारम्भ में तीन वर्ण गुरु शेष लघु) किया है, यह कितना विश्रृंखल लक्षण है। (देखें, नाट्यशास्त्र—१६/८८,८९)।

कृति (२०)

३६—सुवदना (मरभनयभलग) भरत—१६/६१–६२, पिङ्गल—७/२४

प्रकृति (२१)

३७—स्रग्धरा (मरभनयय) भरत—१६/६४–६५, पिङ्गल—७/२६

आकृति (२२)

३८—मद्रक (भरननररनग) भरत—१६/६७–६८, (भद्रक) पिङ्गल—७/२७

विकृति (२३)

३९—मत्ताक्रीडा-विद्युन्माला (ममतननननलग) भरत—३२/३०२, पिङ्गल—७/२६

अभिकृति (२५)

४०—क्रौञ्चपादी (भमसभननननमग) भरत—१६/१०६—१०७, (क्रौञ्चपदा) पिङ्गल—७/३१

उत्कृति (२६)

४१—भुजङ्गविजृम्भित (ममतनननरसलग)—१६/१०९—११०, पिङ्गल—७/३२

दण्डक (२७)

४२—चण्डवृष्टिप्रपात (२ नगण ७ रगण) माण्डव्य[४७] (छन्दः सूत्र—७/३६), भरत—१६/११२—११३, पिङ्गल—७/३४–३५

गाथा (त्रिष्टुप्—११)

४३—रुचिरा (भतनगग)[४८] भरत—३२/२३५, (कुड्मलदन्ती) पिङ्गल—८/२

गाथा (अतिजगती—१३)

४४—विलम्बिता (सजसजग) भरत—३२/१५१ (कनकप्रभा) पिङ्गल—८/७

इससे ज्ञात होता है कि पिङ्गल की गणात्मक पद्धति से भरत की गुरुलघु निर्देश पद्धति प्राचीन है। पिङ्गल की पद्धति में भरत की पद्धति का समावेश हो रहा है, जिसका परवर्ती छन्दःशास्त्रियों ने अधिकतर अनुसरण किया है और छन्दः प्रक्रिया में आज उसे ही उपयुक्त माना जाता है।

४७. पिङ्गल से पूर्ववर्ती आचार्य रात ने भी चण्डवृष्टि प्रपात दण्डक को माना है। छन्दः सूत्र—७/३६)।

४८. पिङ्गल ने छन्दः सूत्र के अष्टम अध्याय में सूत्र—२ से १६ तक १८ गाथाओं को लक्षित किया है, जो त्रैष्टुभपाद से अतिधृतिपाद के अन्तर्गत आती हैं और जिन्हें समवर्णवृत्तों के साथ ही यथास्थान लक्षित किया जा सकता था किन्तु वैसा नहीं किया गया। इससे ज्ञात होता है कि वे बाद में किसी आवश्यक स्रोत के प्राप्त होने से ही लक्षित की गयी हैं, जिनमें भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के अध्याय ३२ से १५१ और २३५ वें पद्य में लक्षित दो ध्रुवाएँ भी समाविष्ट हैं। नाट्यशास्त्र के ३२ वें अध्याय में छन्दोविवरण का कोई क्रम नहीं है किन्तु छन्दः सूत्र में एक क्रम मिलता है। अतः स्पष्ट है कि छन्दः सूत्र नाट्यशास्त्र से परवर्ती रचना है।

अर्धसमवृत्त

४५—केतुमती (सजसग, भरनगग) भरत—१६/१४०, पिङ्गल—५/३६

४६—अपरवक्त्र (ननरलग, नजजर) भरत—१६/१४२, पिङ्गल—५/४०

४७—पुष्पिताग्रा (ननरय, नजजरग) भरत—१६/१४४, पिङ्गल—५/४१

विषमवृत्त

४८—विपुला[४९] (६+ल+१) भरत—१६/१२६, पिङ्गल—५/१७

२,४ पाद में मात्रावृत्त

४९—आर्या-भरत—१६/१५२–१५८, पिङ्गल—४/१४–२२

५०—पथ्या आर्या, भरत—१६/१५९, पिङ्गल—४/२३

५१—विपुला आर्या, भरत—१६/१५९, पिङ्गल—४/२४

५२—चपला आर्या, भरत—१६/१६१, पिङ्गल—४/२५

५३—आर्यागीति, भरत—१६/१६७, पिङ्गल—४/३२

उपर्यङ्कित वृत्तों के अतिरिक्त भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के अध्याय—१६ तथा ३२ के पद्य ४६ से ३२५ के मध्य ९५ वृत्तों के और लक्षण मिलते हैं तथा पिङ्गलाचार्य के छन्दः सूत्र के अध्याय—४ से ८ के मध्य ८४ वृत्तों के और लक्षण प्राप्त होते हैं, जो परवर्ती छन्दः शास्त्री कालिदास, जनाश्रय, जयदेव, स्वयम्भू, जयकीर्ति, विरहाङ्क, राजशेखर, क्षेमेन्द्र, केदारभट्ट, रत्नमञ्जूषाकार, हेमचन्द्र, कविदर्पणकार, दामोदरमिश्र, प्राकृतपैङ्गलकार, वेङ्कटेश, गङ्गादास, चन्द्रशेखर भट्ट, श्रीकृष्ण भट्ट, दुःख भञ्जन राधा दामोदर और दत्तदीनेशचन्द्र के छन्दोविषयक ग्रन्थों[५०] में ग्रहण किये गये हैं। उन सभी ग्रन्थों में भरतमुनि और आचार्य पिङ्गल के लक्षित वृत्तों को विवरण सहित प्रदर्शित करना एक विपुलाकार ग्रन्थ का विषय है। अतः जिज्ञासु पाठकों को उन उन ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए, क्योंकि उक्त सभी छन्दोविषयक ग्रन्थकार भरतमुनि और पिङ्गलाचार्य के ऋणी हैं।

—: ० :—

---

४९. आचार्य सैतव के मत में विपुला के प्रत्येक पाद में सप्तमवर्ण लघु होता है। (छन्दः सूत्र—५/१८)। सैतव भरत से पूर्ववर्ती हैं।

५०. श्रुतबोध, जानाश्रयी छन्दोविचिति, जयदेवच्छन्दः, स्वयम्भूच्छन्दः, छन्दोऽनुशासन, वृत्तजाति समुच्चय, छन्दः शेखर, सुवृत्ततिलक, वृत्तरत्नाकर, रत्नमञ्जूषा (इसका रचयिता अज्ञात है), छन्दोऽनुशासन, कविदर्पण (इसका रचयिता अज्ञात है), वाणीभूषण, प्राकृत पैंगल (इसका रचयिता अज्ञात है), वृत्तरत्नावलि, छन्दोमञ्जरी, वृत्तमुक्तावली, वाग्वल्लभ, छन्दः कौस्तुभ और छन्दः सन्दोह।

अद्भुत रस और चमत्कार-तत्त्व

डॉ० महेश भारतीय

भारतीय आलङ्कारिकों ने अद्भुत रस को प्रमुख रसों में स्वीकार किया है। इसका स्थायी भाव विस्मय माना गया है और अलौकिक या असामान्य विषयों को इसका आलम्बन स्वीकार किया गया है।[1] इन असामान्य विषयों में प्रायः दिव्य-दर्शन, ईप्सित-मनोरथ-पूर्ति, उपवन तथा देवकुल आदि में गमन; सभी विमान, माया तथा इन्द्रजाल आदि स्वीकार की गई हैं।[2] भाव यह है कि ऐसे सभी विषय जो असामान्यता या विचित्रता के कारण प्रमाता को चमत्कृत कर विस्मय का भाव उत्पन्न कर देते हैं, अद्भुत रस के आलम्बन हैं। विलक्षण वस्तुओं के दर्शन, श्रवण आदि से जो चित्त का एक विकास सा होता है वह विस्मय कहा गया है।[3]

जैसा कि कहा गया है, यह चमत्कृत होने या विस्मित होने का भाव किसी भी विलक्षण वस्तु के दर्शन, श्रवण आदि से उत्पन्न होता है। यह विलक्षण वस्तु दिव्य भी हो सकती है, अदिव्य भी, किन्तु उस का एक आवश्यक तत्त्व है सामान्य से भिन्न होना। इस दृष्टि से विलक्षणता का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है। जहाँ इसमें दिव्य वस्तु तथा इन्द्रजाल आदि आते हैं वहाँ सुन्दर और रमणीय वस्तुएँ भी आ जाती हैं। वास्तव में प्रत्येक सौन्दर्यानुभूति एक चमत्कृति का भाव ही है और इसीलिये प्रत्येक कलात्मक विषय इसका आलम्बन है। हम सुन्दर कलाकृति-चित्र, मूर्ति आदि को देखकर चमत्कृत हो जाते हैं, साथ ही सुन्दर काव्य को पढ़कर या नाटक को देखकर भी चमत्कृत हो जाते हैं। इसीलिये रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करने वाले काव्यशास्त्रियों ने रस को चमत्कार-स्वरूप ही माना है। ध्वन्यालोककार ने काव्य-रस के लिये 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग किया गया है (ध्वन्यालोक, निर्णय सागर संस्करण, पृ० १४४; राघवन SCAS पृ० २६९)। अभिनवगुप्त ने रस को **'अलौकिकचमत्कारकारी'** कहा है जिसका मम्मट समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं।[4] विश्वनाथ इसे **'लोकोत्तरचमत्कारप्राणः'** कहते हैं[5] और उनके अनुसार उनके प्रपितामह

---

१. अद्भुतो विस्मय स्थायिभावो……।
………लोकातिगमालम्बनं मतम्। **साहित्यदर्पण**, III, २४२-४३।

२. स च दिव्यदर्शनेप्सितमनोरथावाप्त्युपवनदेवकुलादिगनसभाविमानमायेन्द्रजालसम्भावनादिभिर्वि-भावैरुत्पद्यते।—नाट्यशास्त्र ६, ७४ के बाद गद्य।

३. विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु।
विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः॥ **साहित्यदर्पण**, III, १८०।
चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः।—**वही**, III, ३, वृत्ति।

४. **काव्यप्रकाश**, (सं० डॉ० श्रीनिवास शास्त्री), IV उल्लास, पृ० १३०।

५. **साहित्यदर्पण**, III, ३।

श्री नारायण ने इस बात का प्रतिपादन किया था कि इसका प्राण चमत्कार है।[1] इसीलिये नारायण इस बात के भी समर्थक थे कि वास्तविक रस केवल एक है और वह है अद्भुत। विश्वनाथ ने धर्मदत्त नामक किसी आलङ्कारिक के ग्रन्थ से उदाहरण देते हुए कहा है—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।

[रस में साररूप चमत्कार सब जगह अनुभव किया जाता है। उस चमत्कार के (रस का) सार होने पर (काव्य में) सभी जगह अद्भुत रस है। अतः विद्वान् नारायण ने (केवल) अद्भुत को ही रस कहा है।]

इस उद्धरण से प्रतीत होता है कि काव्यशास्त्रियों में एक सम्प्रदाय ऐसा था जो 'चमत्कार' को ही रस की आत्मा मानता था और इसीलिये काव्य में सर्वत्र अद्भुत रस की ही स्थिति स्वीकार करता है। इस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक विश्वनाथ के प्रपितामह नारायण ही प्रतीत होते हैं और धर्मदास इसके समर्थक रहे हैं। यद्यपि न तो नारायण का और न धर्मदास का कोई ग्रन्थ इस समय उपलब्ध है, किन्तु क्षेमेन्द्र को हम दस प्रकार के चमत्कार के रूप में रस का सार प्रतिपादित करते हुए पाते हैं।[2] विश्वेश्वर कविचन्द्र (१३३० ई०) के **'चमत्कारचन्द्रिका'** नामक ग्रन्थ में चमत्कार को विद्वानों के आनन्द-प्रवाह को उत्पन्न करने वाला बताया गया है और चमत्कार के सात आलम्बन बतलाये गये हैं—गुण, रीति, वृत्ति, पाक, शय्या, अलङ्कार और रस—

चमत्कारस्तु विदुषामानन्दपरिवाहकृत्।
गुणं रीतिं रसं वृत्तिं पाकं शय्यामलङ्कृतिम्।
सप्तैतानि चमत्कारकारणं ब्रुवते बुधाः॥ (चमत्कारचन्द्रिका, पृ० २)

विश्वेश्वर ने चमत्कार युक्त शब्द और अर्थ को ही काव्य बतलाया है—

शब्दार्थौ सचमत्कारौ काव्यं काव्यविदो विदुः। (पृ० ३)

सन् १७२९ ई० में हरिप्रसाद (मथुरा मिश्र गंगेश के पुत्र) ने अपने काव्यालोक नामक ग्रन्थ[3] में स्पष्टतः चमत्कार को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है—

विशिष्टशब्दरूपस्य काव्यस्यात्मा चमत्कृतिः।

कवि कर्णपूर ने अलङ्कारकौस्तुभ नामक ग्रन्थ में काव्य को 'कविवाङ्निर्मितिः' बतलाया है और

---

१. तत्प्राणत्वञ्चास्मद्वृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितमुख्यश्रीमन्नारायणपादैरुक्तम्।
—वही, III, ३, वृत्ति

२. तत्र दशविधश्चमत्कारः—अविचारितरमणीयः, विचारितरमणीयः, समस्तसूक्तव्यापी, सूक्तैकदेशदृश्यः, शब्दगतः, अर्थगतः, शब्दार्थगतः, अलङ्कारगतः, रसगतः प्रख्यातवृत्तिगतश्च।
—कविकण्ठाभरण, काव्यमालागुच्छक, IV, पृ० १२९

३. Peterson's III Report, pp. 356–57.

'निर्मिति' की व्याख्या '**असाधारणचमत्कारकारिणी रचना**' के रूप में की है।[1]

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी जब **रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्**' कहकर काव्य को परिभाषित किया तो रमणीयता की व्याख्या चमत्कार रूप में ही की—

रमणीयता च लोकोत्तरह्लादजनकज्ञानगोचरता। लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतः चमत्कारापरपर्यायः अनुभवसाक्षिको जातिविशेषः।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आलङ्कारिकों का एक वर्ग या तो रस को काव्य की आत्मा मानता हुआ रस को चमत्कारस्वरूप बतलाता है या चमत्कार को ही काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार करता है। वास्तव में रस को चमत्कार स्वरूप मान लेने पर नारायण के इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना पड़ेगा कि सब जगह एक ही रस है और वह है अद्भुत रस। फिर हम चाहें तो अद्भुत रस के अवान्तर भेद शृङ्गार आदि कर सकते हैं।

इस सिद्धान्त के अन्तर्गत चमत्कार का अद्भुतरस के आलम्बन के रूप में गुण, रीति, रस, अलङ्कार आदि विभिन्न काव्य के तत्त्व जो विभिन्न आलङ्कारिकों द्वारा काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किये गये हैं, सभी आ जाते हैं।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि अलङ्कारों को प्रायः आलङ्कारिक व्यंग्यार्थ से रहित मानते हैं। मम्मट ने अपने काव्य के विभाजन में तीन प्रकार का काव्य माना जाता है—उत्तम, मध्यम और अधम। व्यंग्यार्थ प्रधान काव्य को वे उत्तम काव्य, गुणीभूत व्यंग्य को मध्यम काव्य और व्यंग्यार्थ रहित काव्य को अधम कोटिक का काव्य मानते हैं। तृतीय व्यंग्यार्थ रहित अधम काव्य उन्होंने चित्रकाव्य को माना है जिसके अन्तर्गत शब्द और अर्थ पर आश्रित अलङ्कार आते हैं। चित्र काव्य की अधमता मम्मट ने इसी बात में मानी है कि यह व्यंग्यार्थ रहित होता है।[2] किन्तु मम्मट का यह कथन कहाँ तक औचित्यपूर्ण है यह विचारणीय है। शुद्ध चित्र-काव्य, यदि उसमें किसी और प्रकार का व्यंग्यार्थ न भी हो तो कम से कम वह सामाजिक के अन्दर चमत्कार को तो जन्म देता ही है। और यदि सामाजिक इससे चमत्कृत हो जाता है तो दूसरे शब्दों में हम उसके अन्दर अद्भुत रस की अभिव्यंजना को स्वीकार कर सकते हैं। मम्मट रस को व्यंग्यार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं, अतः यह कहना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता कि चित्रकाव्य व्यंग्यार्थ रहित है। यदि हम नारायण के मत को न भी स्वीकार करें और प्रत्येक रस को अद्भुत रूप स्वीकार न करें, तो भी मम्मट आदि के अनुसार अद्भुत रस की स्थिति तो स्वीकार करनी ही पड़ेगी। अद्भुत रस के स्थायी भाव विस्मय का आलम्बन विलक्षण वस्तु है। चित्र काव्य निश्चित रूप से विलक्षण विषय स्वीकार किया जा सकता है। श्लेष, यमक आदि अलङ्कारों का उद्देश्य तो शुद्ध रूप से चमत्कार या विस्मय उत्पन्न करना ही है। यदि ये ऐसा करने में समर्थ हो जाते हैं तो इन्हें अद्भुत रस का अभिव्यञ्जक माना ही जा सकता है। यदि यह माना जाय कि यह पाठक या श्रोता के अन्दर अद्भुत रस को नहीं, केवल विस्मय

---

१. कविवाङ्निर्मितिः काव्यम्।······असाधारणचमत्कारकारिणी रचना हि निर्मितिः।

—अलङ्कारकौस्तुभ, १/२।

२. शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्।—काव्यप्रकाश, I, ४।

नामक भाव को जन्म देते हैं तो भी यह मानना पड़ेगा कि ये व्यंग्यार्थ-रहित नहीं हैं क्योंकि भाव भी मम्मट आदि व्यञ्जनावादियों के अनुसार व्यंग्यार्थ-रहित नहीं है तो इन्हें किसी भी प्रकार अवर या अधम काव्य नहीं कहा जा सकता।

हम संस्कृत कविता और हिन्दी कविता में भी एक ऐसा युग पाते है। जब-कविता में चमत्कार पर विशेष बल दिया गया है। संस्कृत में कालिदासोत्तर काव्य प्राय: इसी प्रकार का है और हिन्दी में रीति काल इस रूप में विद्यमान है। प्रश्न उठता है कि कवि इतने व्यापक रूप से शुद्ध चमत्कार-तत्त्व की ओर क्यों झुकते देखे जाते हैं? जब कवि अर्थ की भी उपेक्षा कर के श्लेष आदि शब्दालङ्कारों के रूप में केवल शब्दों से खिलवाड़ करने लगता है तो वह ऐसा क्यों करता है? इसका एक ही उत्तर हमारे पास है और वह यह कि पाठक इसको पसन्द करता है। जब तक पाठक के लिये इस प्रकार की कृति दुर्बोध नहीं हो जाती तब तक वह उसमें चमत्कृत होकर उसमें आनन्द लेता रहता है। संस्कृत-काव्य के अनेक काव्य-रत्नों को यदि आज हम दुर्बोध होने के कारण अधम मान लें तो बात दूसरी है किन्तु हमें सोचना चाहिये कि जिस वर्ग के लिये ये लिखे गये उसके लिये भी क्या ये आनन्ददायक नहीं थे? यदि भाषा पर पूर्ण अधिकार रखने वाला व्यक्ति बाण की कादम्बरी को पढ़ेगा तो क्या उसे ऐसी ही अनुभूति होगी जैसी पाश्चात्य आलोचक वेबर को हुई जिसने उसकी तुलना एक भयङ्कर वन से कर दी। निश्चित बात है कि भाषा के पूर्ण ज्ञान के साथ कादम्बरी को यदि पढ़ा जायेगा तो इसके श्लेष आदि अलङ्कारों के प्रयोग चमत्कार उत्पन्न करते चलेंगे और पाठक अद्भुत रस में डूब जायेगा।

चमत्कार या विस्मय भाव को यदि हम गम्भीरता से देखे तो हम पायेंगे कि यह अन्य भावों की अपेक्षा अधिक व्यापक और मूलभूत है। शृङ्गार-रस की अनुभूति में एक बच्चा प्राय: अक्षम रहता है क्योंकि वह 'रति' के संस्कार से रहित है किन्तु विस्मय का अनुभव वह सरलता से कर लेता है और इसी लिये परियों और भूत-प्रेतों की कहानियों में वह एक अलौकिक आनन्द का अनुभव करता है। यह अलौकिक आनन्द कुछ और नहीं, अद्भुत रस ही है। किशोरावस्था में बच्चा जब जासूसी साहित्य को पढ़ता हुआ खाना-पीना भूल जाता है तो वह और कुछ नहीं इसी अद्भुत रस का अनुभव करता है। परिपक्वावस्था में भी हम पाते हैं कि मुक्तक काव्य में प्राय: आनन्द की वह वेद्यान्तरसंस्पर्श रहित अनुभूति नहीं हो पाती जो प्रबन्ध-काव्यों में होती है। जब हम उपन्यास या कहानी पढ़ते हैं तो हम अधिक रस-मग्न हो जाते हैं। उसका कारण प्राय: इस प्रकार का कथा-संयोजन होता है कि उसमें कुतूहल की निरन्तरता बनी रहे। और यह कुतूहल की निरन्तरता ही हमारे विस्मय को जन्म देकर हमें अद्भुत रस में डुबो देती है।

अत: यदि हम रस को काव्य की आत्मा मानकर चलते हैं तो सम्पूर्ण चमत्कारात्मक साहित्य अद्भुत रस की कोटि में आ जाता है और किसी प्रकार भी हीन नहीं ठहराया जा सकता। यह बात दूसरी है कि हम काव्य में रसेतर तत्त्व भी ढूँढने लगें, उदाहरणार्थ हम देखने लगें कि इसमें कान्ता-सम्मित उपदेश है या नहीं या इसमें लोकमंगल का तत्त्व है या नहीं, और इस दृष्टि से शुद्धचमत्कारात्मक काव्य को अधम कोटि का मान लें। किन्तु जब तक काव्य का प्रमुख तत्त्व हम 'रस' मानते हैं, इस चमत्कारात्मक साहित्य को अधम नहीं मान सकते।

———

सञ्चारी भाव : एक विश्लेषण

डॉ० धर्मप्रकाश अग्रवाल

भारतीय काव्य-शास्त्र के प्रथम आचार्य भरत मुनि ने 'भाव' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है—"वागङ्ग सत्त्वोपेतान् काव्यार्थान्भावयन्तीति भावा इति" अर्थात् "वाक्, अङ्ग और सत्त्व से युक्त काव्य के अर्थों को भावित करने वाले तत्त्व 'भाव' कहलाते हैं।" आगे इसकी व्याख्या करते हुए मुनिश्रेष्ठ ने इसका अर्थ 'भावित या परिव्याप्त करने वाला' किया है। इस प्रकार उन्होंने 'भाव' शब्द का प्रयोग केवल चित्तवृत्ति की भावात्मक स्थिति के लिए न करके, अभिनेता को मुख्यतः दृष्टि में रखते हुए, वाक्, अङ्ग एवं सात्त्विक अभिनय के द्वारा कवि के हृदयस्थ भावों को सहृदय के हृदय में भावित या परिव्याप्त करने वाले तत्त्वों के लिए किया है। १४ वीं शताब्दी के आचार्य विश्वनाथ तक प्रायः सभी संस्कृत-काव्य-शास्त्रियों ने 'भाव' शब्द का प्रयोग भरत के उपर्युक्त अर्थ में ही किया है; किन्तु पंडितराज जगन्नाथ ने पूर्व आचार्यों द्वारा की गई इस व्याख्या का खण्डन करते हुए इस शब्द का प्रयोग 'चित्तवृत्ति'—मात्र के लिए ही करते हुए कहा है—"विभावादिव्यज्यमान—हर्षाद्यन्यतमत्वं तत्त्वम्"। स्पष्ट ही 'भाव' की यह व्याख्या आधुनिक मनोविज्ञान के भी अनुकूल है।

हिन्दी-साहित्य-शास्त्रियों—आ० रामचन्द्रशुक्ल, डॉ० श्यामसुन्दर दास, डॉ० गुलाबराय, डॉ० नगेन्द्र एवं डॉ० नगेन्द्र एवं डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत आदि—ने भी 'भाव' शब्द का प्रयोग चित्त-वृत्ति के ही अर्थ में किया है। डॉ० नगेन्द्र की यह परिभाषा इसी तत्त्व की व्यञ्जना करती है—"बाह्य जगत् के संवेदनों से मनुष्य के हृदय में जो विकार उठते हैं—वे ही मिलकर भाव की संज्ञा प्राप्त करते हैं।" इससे स्पष्ट है कि आधुनिक मनोविज्ञान-सम्मत व्याख्या प्रस्तुत करते हुए हमें 'भाव' का प्रयोग 'चित्तवृत्ति' के अर्थ में ही करना उपयुक्त होगा। इसी दृष्टि से यहाँ सञ्चारी भावों का विश्लेषण किया गया है।

जहाँ तक सञ्चारी भावों के स्वरूप का सम्बन्ध है, प्रायः सभी संस्कृत-हिन्दी काव्य-शास्त्रियों ने यह स्वीकार किया है कि ये क्षण-स्थायी भाव हैं, जो सागर-तरङ्ग-वत् स्थायी भावों में ही उत्पन्न होकर, उन्हें समृद्ध एवं प्रदीप्त करते हुए, पुनः उन्हीं में विलीन हो जाते हैं। साथ ही, स्थायी भावों के साथ इनका सम्बन्ध भी अनियत रहता है; अर्थात् कोई भी सञ्चारी किसी भी स्थायी के साथ अथवा एक ही सञ्चारी अनेक स्थायी भावों में संचरण कर सकता है (इसीलिए सञ्चारी की दूसरी संज्ञा 'व्यभिचारी' मानी गई है)। इसी प्रकार सञ्चारी भावों की संख्या के विषय में भी अधिकांश काव्याचार्य भरत मुनि का अनुगमन करते हैं। आचार्य भरत ने इन तैंतीस संचारियों को बतलाया है—निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीड़ा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, उत्सुकता, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, विबोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास एवं वितर्क। रामचन्द्र गुणचन्द्र इस सूची में क्षुधा, तृष्णा, मैत्री, मुदिता, श्रद्धा, दया, उपेक्षा, रति, सन्तोष,

क्षमा, मार्दव, आर्जव, दाक्षिण्य आदि नवीन भावों का भी योग करते हैं। शिङ्ग भूपाल दम्भ, स्नेह, ईर्ष्या, उद्वेग एवं अन्य भावों को इसलिए पृथक् व्यक्त नहीं करते, क्योंकि वे उपर्युक्त तैंतीस भावों में ही अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। रीतिकालीन हिन्दी कवि-आचार्यों ने भी प्रायः भरतोक्त सञ्चारियों को ही स्वीकार किया है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य-शास्त्रियों ने भी इस सम्बन्ध में अपना चिन्तन प्रस्तुत किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी संख्या-वृद्धि सम्भव मानते हुए सात नवीन संचारियों को अपनी सूची में स्थान दिया है—संतोष, असंतोष, आशा, नैराश्य, विस्मृति, मृदुलता और चित्त की चंचलता। पं० रामदहिन मिश्र संचारियों की संख्या निर्धारित करना सम्भव न मानते हुए 'विचार-विमर्श की सुविधा' के लिए ही तैंतीस की संख्या ग्रहण करते हैं। वे अनेक आचार्यों द्वारा व्यक्त नवीन संचारियों का अन्तर्भाव इन्हीं तैंतीस में सम्भव मानते हैं। इसके अतिरिक्त सरलता, आशा, निराशा, पश्चात्ताप, विश्वास, दया, दाक्षिण्य आदि अनेक ऐसे भाव भी उन्होंने स्वीकार किये हैं जो इस सूची में नहीं आते। उनके अनुसार, सम्भवतः आचार्यों की दृष्टि में इनका महत्त्व कम रहा हो अथवा उपर्युक्त तैंतीस में ही इनका अन्तर्भाव मान लिया गया हो। इस प्रकार, दबे स्वर में ही सही, मिश्र जी इन नये सञ्चारियों को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं।

डॉ० नगेन्द्र भी सञ्चारियों की संख्या परिवर्तनीय मानते हैं और अनेक काव्यशास्त्रियों द्वारा नवीन सञ्चारियों को प्राचीन में ही अन्तर्भुक्त करने के प्रयास से सहमत नहीं हो पाते। आदर, श्रद्धा, पूजा, औदार्य, दया, स्नेह, असन्तोष, अवमान, अविश्वास आदि भावों को वे, प्राचीन भावों के अतिरिक्त अन्य सञ्चारी मानने के पक्ष में अपना मत प्रकट करते हैं। साथ ही, सञ्चारियों की गणना के प्रयत्न को भी व्यर्थ मानते हैं। डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित भी सञ्चारियों की तैंतीस संख्या अन्तिम नहीं मानते और अनेक नवीन सञ्चारियों को प्राचीन सञ्चारियों में ही अन्तर्भुक्त करते हुए भी दया, श्रद्धा, पश्चात्ताप, धृष्टता, सन्तोष, असन्तोष एवं सरलता के पृथक् अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि भरत आदि संस्कृत-काव्य-शास्त्रियों द्वारा गिनाये गये तैंतीस सञ्चारियों को अन्तिम नहीं माना जा सकता। मानव-अन्तःकरण की अनन्त अनुभूतियों को किसी निश्चित संख्या में सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता। अतः सञ्चारियों की संख्या निश्चित करने का प्रयास उचित नहीं होगा। उनमें नवीन सञ्चारियों को स्थान देने की तत्परता आवश्यक है।

साथ ही, यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि उपर्युक्त तैंतीस सञ्चारियों में सभी चित्तवृत्ति-रूप नहीं हैं, अतः सभी कथित सञ्चारी 'भाव' के अन्तर्गत नहीं आते। इनमें कुछ तो स्पष्टतः शारीरिक अवस्थाएँ हैं; जैसे—व्याधि, अपस्मार, निद्रा, विबोध, श्रम, मरण; और कुछ बौद्धिक अवस्थाएँ हैं; जैसे—स्मृति, मति, वितर्क। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सञ्चारियों के अपने वर्गीकरण में कुछ ऐसा ही विभाजन किया भी है। डॉ० नगेन्द्र ने भी सञ्चारियों के इस विवेचन की सदोषयता स्वीकार करते हुए 'मुख्यतः शरीर के धर्म' के अन्तर्गत आने वाले सञ्चारियों को इस सूची से निकालने की आवश्यकता बतलाई है। डॉ० राकेश गुप्त भी केवल चौदह सञ्चारियों को ही भावन-पक्ष से युक्त मानते हुए शेष उन्नीस सञ्चारियों को शरीर की अवस्थाओं अथवा बौद्धिक गुणों आदि में रखते हुए उन्हें सञ्चारी भावों से पृथक् करना चाहते हैं।

कुछ आलोचक संस्कृत के इन तैंतीस सञ्चारियों में इस प्रकार का दोष स्वीकार नहीं करते। पं० रामदहिन मिश्र सभी सञ्चारियों को चित्त-वृत्ति-रूप में ही ग्रहण करते हैं और इस दृष्टि से प्रेरित होकर उन्होंने मरण, श्रम, निद्रा, स्मृति आदि को बलपूर्वक मनोवृत्ति के रूप में प्रमाणित करने का प्रयत्न भी किया है। किन्तु यह अनावश्यक हठवादिता ही है।

इसके विपरीत, डॉ० मनोहर काले यह स्वीकार करते हैं कि सभी सञ्चारी भाव मनोभावात्मक नहीं हैं। उनमें से कुछ बौद्धिक अवस्थाएँ भी हैं और कुछ शारीरिक अवस्थाएँ भी। किन्तु वे इस प्रकार की अवस्थाओं को सञ्चारियों में से पृथक् करने का विरोध करते हुए यह तर्क प्रस्तुत करते हैं—"नाट्य-शास्त्र की दृष्टि से प्रस्तुत तैंतीस व्यभिचारीभाव नाट्य-धर्मी पदार्थ हैं। इनमें निहित शारीरिक और बौद्धिक अवस्था-रूप सञ्चारियों की भी अपनी महत्ता है। वे सभी रस-निष्पत्ति के सहायक तत्त्व हैं; अतः इनमें निहित शारीरिक और बौद्धिक अवस्था-रूप सञ्चारियों की भी अपनी महत्ता है। वे सभी रस-निष्पत्ति के सहायक तत्त्व है; अतः इनमें से शारीरिक, बौद्धिक अवस्था-रूप सञ्चारियों का पृथक्करण भरत मुनि के दृष्टिकोण के प्रतिकूल होगा।" इससे पूर्व डॉ० काले ने यह भी कहा है कि "भरत-मुनि-प्रयुक्त 'भाव' शब्द का अर्थ एकान्ततः मनोभाव नहीं है। उन्होंने सामान्यतः रस-पोषक सभी तत्त्वों को 'भाव' रूप में ग्रहण किया है। कालान्तर में संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में 'भाव' शब्द का अर्थ 'मनोभाव' के लिए रूढ़ होता गया; परिणामतः सभी सञ्चारी भावों को मनोभाव-स्वरूप सिद्ध किया गया।"

डॉ० काले का यह तर्क उपयुक्त नहीं माना जा सकता कि आचार्य भरत की मान्यता के अनुकूल न होने के कारण ही उनके पश्चात् के सभी प्रमुख संस्कृत-काव्य-शास्त्रियों द्वारा 'भाव' शब्द से गृहीत 'चित्तवृत्ति' का अर्थ लेना अनुचित है। प्रथम तो यही सत्य नहीं है कि भरत के पश्चात् के सभी आचार्यों ने 'भाव' का अर्थ केवल चित्तवृत्ति लिया है। इस विवेचन के आरम्भ में ही 'भाव' की व्याख्या करते समय हमने बताया है कि आचार्य विश्वनाथ तक इस शब्द से प्रायः भरत मुनि का ही अर्थ ग्रहण किया गया है। द्वितीयतः, काव्य-शास्त्र-चिन्तन की विशाल परम्परा द्वारा की गई उपलब्धियों को इस तर्क के आधार पर ही उपेक्षित नहीं किया जा सकता। पुनः, यह भी स्मरणीय है कि भरतोक्त जिन सञ्चारी भावों को लेखक ने 'नाट्य-धर्मी' कहा है, उनको नाटक की अपेक्षा काव्य के अन्य प्रबन्ध एवं मुक्तक भेदों में कहीं अधिक व्यापकता के साथ अपनाया गया है। अतः क्या केवल इसी आधार पर उन्हें काव्य के अन्य भेदों में ग्रहण करना अनुपयुक्त कहा जा सकता है कि भरत मुनि ने उनका वर्णन नाटक के प्रसङ्ग में ही किया है ? स्पष्टतः ऐसा नहीं किया जा सकता। इसी परम्परा के विकास में यदि आज यह आवश्यक प्रतीत है कि सञ्चारियों की परम्परागत सूची में से चित्तवृत्ति-भिन्न शारीरिक एवं बौद्धिक अवस्थाओं को पृथक् किया जाए, तो इसे अनुचित नहीं माना जा सकता। नवीन उद्भावित सञ्चारियों के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करते हुए एवं आधुनिक समीक्षकों के इस परम्परा-भिन्न चिन्तन को स्तुत्य मानते हुए डॉ० काले भी विकास का महत्त्व स्वीकार करते ही हैं। अतः परम्परा द्वारा वर्णित तैंतीस सञ्चारियों के स्वरूप के विषय में अब विचार कर लिया जाए। सर्वप्रथम ऐसे सञ्चारी लें जो सभी काव्य-शास्त्रियों

एवं समीक्षकों द्वारा भाव-रूप में स्वीकार किये गये हैं और जो शुद्ध रूप में चित्तवृत्तियाँ हैं। ऐसे कुल चौदह सञ्चारी भाव है—निर्वेद, असूया, दैन्य, धृति, हर्ष, विषाद, गर्व, व्रीडा, आवेग, अमर्ष औत्सुक्य, चपलता, उग्रता, एवं त्रास। अनुभूति एवं काव्य-शास्त्रियों द्वारा स्पष्टतः भाव-रूप में स्वीकृत इन सञ्चारियों के स्वरूप पर यहाँ विचार करना अनावश्यक ही होगा।

कुछ सञ्चारी प्रायः सभी आचार्यों द्वारा वर्णित आधार पर शारीरिक अवस्थाएँ-मात्र प्रमाणित होते हैं। 'श्रम' सञ्चारी को भरत मुनि ने अधिक मार्ग-गमन व व्यायाम आदि से उत्पन्न थकान माना है; धनञ्जय के अनुसार यह यात्रा तथा रत्यादि—जनित खेद या थकान है; अग्निपुराणकार के अनुसार 'अधिक कार्य करने से शरीर के भीतर उत्पन्न क्लान्ति' ही श्रम है; हेमचन्द्र के अनुसार व्यायाम आदि जनित खेद या थकान श्रम है; विश्वनाथ के अनुसार भी मार्ग-गमन या रत्यादि जनित खेद या थकान श्रम एवं जगन्नाथ के अनुसार 'बहुत शरीर-व्यापारों से उत्पन्न खेद-विशेष या थकान' श्रम है। ये सभी लक्षण थकान का शारीरिक अवस्था-रूप ही व्यक्त करते हैं।

'मरण' को भी भरत तथा हेमचन्द्र ने व्याधि एवं अभिघात एवं अभिघात-जन्य, धनञ्चय ने सुप्रसिद्धि एवं अनर्थवत्ता के कारण अवाच्य, विश्वनाथ ने शरीरादिकृत जीवन-त्याग एवं जगन्नाथ ने रोगादि से उत्पन्न मूर्च्छा-रूप मृत्यु-पूर्व की दशा बतलाया है। इन सबसे इसकी शारीरिक अवस्था ही व्यक्त होती है। 'निद्रा' को भरत एवं हेमचन्द्र ने दुर्बलता, श्रम, क्लम, मद, आलस्य, चिन्ता, अतिभोजन आदि जनित; धनञ्जय ने चिन्ता, आलस्य, थकान आदि से उत्पन्न मन का सम्मीलन अर्थात् बाह्य इन्द्रियों से सम्बन्ध न रहना; विश्वनाथ ने श्रम, क्लम एवं मद आदि जन्य चित्त-सम्मीलन एवं जगन्नाथ ने श्रमादि-जन्य चित्त-सम्मीलन कहा है। इनसे इसका शारीरिक अवस्था-रूप ही व्यक्त होता है। निद्रा की शारीरिक अवस्था में जीव बाह्य इन्द्रियों से स्थूल सम्बन्ध का त्याग कर देता है। 'विबोध' को सभी आचार्यों ने निद्रा की समाप्ति के उपरान्त चेतना-प्राप्ति या जागरण माना है, जो शारीरिक अवस्था ही है। 'अपस्मार' को भरत एवं हेमचन्द्र ने देव-यक्ष-ब्रह्मराक्षस-भूत-प्रेत-पिशाचादि द्वारा ग्रहण, उनके अनुस्मरण, एव उच्छिष्ट भोजन, एकान्तसेवन, अशौच, व्याधि आदि जनित अवस्था माना है; धनञ्जय ने ग्रहावेश व दुःखादि से उत्पन्न (रोग); विश्वनाथ ने ग्रहादि (भूत-प्रेतादि) के आवेश से उत्पन्न चित्त-विक्षिप्तता एवं जगन्नाथ ने वियोग-शोक-भय-जुगुप्सा आदि की अधिकता तथा ग्रहावेशादि से उत्पन्न व्याधि-विशेष कहा है। अतः यह भी केवल शारीरिक अवस्था है। 'व्याधि' को भरत एवं धनञ्जय ने वात-पित्त-कफ के सन्निपात से उत्पन्न रोग कहा है; 'अग्निपुराण' ने शरीर की प्रतिकूल स्थिति; विश्वनाथ ने वात-पित्तादि-जन्य ज्वरादि कहा है। हेमचन्द्र ने व्याधि को विरहादि-जनित मनस्ताप एवं जगन्नाथ ने रोग-विरहादि-जनित मनस्ताय माना है। किन्तु हेमचन्द्र का उदाहरण विरहोत्पन्न शारीरिक रोग-जैसी अवस्था ही उपस्थित करता है। अतः व्याधि भी शारीरिक अवस्था ही है। मनस्ताप का आंशिक रूप ग्रहण करने पर भी यह विषाद से भिन्न मनोदशा होगी—ऐसा सम्भव प्रतीत नहीं होता, जिससे मनस्ताप के रूप में 'व्याधि' पृथक् मनोभाव प्रमाणित नहीं हो पाता। इस प्रकार यह छहों तथाकथित सञ्चारी भाव न होकर शारीरिक अवस्थाएँ ही सिद्ध होती हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं डॉ० मनोहर काले ने भी इन्हें स्पष्टतः शारीरिक अवस्थाएँ स्वीकार किया है।

इसी प्रकार स्मृति, मति, वितर्क, अवहित्था और चिन्ता भी मनोभाव के स्थान पर बौद्धिक अवस्थाएँ ही हैं। 'स्मृति' को आचार्य भरत ने सुख-दुःख देने वाले भावों का अनुस्मरण माना है; धनञ्जय

ने समान वस्तु के दर्शन या चिंतन आदि से (अतीत) संस्कार जागृत होने के परिणाम-स्वरूप वस्तु आदि 'पूर्व ज्ञान के आभास' को स्मृति कहा है; हेमचन्द्र ने स्मृति को सदृश दर्शन, स्पर्शन, श्रवण आदि के द्वारा सुख-दुःख के हेतुओं का स्मरण बतलाया है; विश्वनाथ के अनुसार सदृश ज्ञान, चिन्ता आदि द्वारा पूर्वानुभूत विषयों का ज्ञान स्मृति है; जगन्नाथ के शब्दों में संस्कार-जन्य ज्ञान स्मृति है। ये सभी लक्षण स्मृति को अनिवार्यतः बौद्धिक अवस्था सूचित करते हैं। इस अतीत ज्ञान के परिणाम-स्वरूप ही वर्तमान में तत्सम्बन्धी सुख-दुःखात्मक भावों की अनुभूति होती है। अतः यह भावानुभूति स्मृति का रूप न होकर इसका परिणाम है। 'मति' को सभी आचार्यों ने विभिन्न शास्त्रों के श्रवण-चिन्तन-जनित तत्त्व-ज्ञान-प्राप्ति अथवा निश्चित अर्थ-निर्धारण के रूप में व्यक्त किया है, जो स्पष्टतः बौद्धिक अवस्था है। इस प्रकार 'वितर्क' को भी संदेह के परिणाम-स्वरूप होने वाला विचार, चिन्तन, विमर्श या ऊहापोह कहा गया है, जिसका बौद्धिक अवस्था-रूप स्पष्ट ही है। 'अवहित्था' को भरत ने 'आकार-प्रच्छादनात्मक' कहा है; धनञ्जय, अग्निपुराणकार एवं विश्वनाथ ने लज्जा, भय, गौरव आदि से उत्पन्न अंग-विकारों का गोपन बतलाया है; हेमचन्द्र तथा जगन्नाथ ने लज्जा, भय, गौरव आदि से उत्पन्न चेष्टा-गोपन अथवा आच्छादन की चित्तवृत्ति माना है। प्रश्न यह है कि क्या यह 'गोपन' भाव है? भाव तो भय, गौरव, लज्जा आदि ही हैं, जिनका परिणाम बुद्धि में यह ज्ञान उत्पन्न होना है कि सम्बन्धित अवसर पर इन भावों से प्रेरित अंग-चेष्टाएँ आदि अभिव्यक्त होनी अनुपयुक्त हैं। इस से व्यक्ति उन चेष्टाओं को छिपाने का प्रयत्न करता है। अतः अवहित्था भाव न होकर बौद्धिक अवस्था ही है। 'चिन्ता' को सभी आचार्यों ने ऐश्वर्य-नाश, इष्ट वस्तु आदि के अपहरण, उसकी अप्राप्ति, दरिद्रता एवं अनिष्ट की प्राप्ति के परिणाम-स्वरूप बार-बार उनकी ओर ध्यान जाना कहा है। हेमचन्द्र ने इसे स्मृति का ही अन्य रूप कहा है और जगन्नाथ ने भी 'ध्यान' को चिन्ता का दूसरा पर्याय माना है। इससे स्पष्ट है कि चिन्ता बौद्धिक अवस्था है, न कि भावात्मक अवस्था। व्यवहार में चिन्ता को कभी-कभी आधि अर्थात् मानसिक पीड़ा कहा जाता है, जो वास्तव में चिन्ता न होकर चिन्ता-जनित विषाद है।

अब तक एक-रूप (भावात्मक, शारीरिक अथवा बौद्धिक) सञ्चारियों पर विचार किया गया है। कुछ सञ्चारी ऐसे भी हैं जिनमें एक से अधिक रूप या पक्ष होते हैं। ये आठ है—सुप्त या स्वप्न, मद, आलस्य, ग्लानि, जड़ता, मोह, शंका और उन्माद। अब इन पर विचार करना है। 'सुप्त' को भरत ने निद्रा से सम्भव होने वाली दशा कहा है और इसकी उत्पत्ति निद्रा में बाधा, विषय-भोग, अति मोहन-दशा, पृथ्वी पर शयन, शरीर फैलाने या सिकोड़ने आदि विभावों से मानी है; धनञ्जय ने इसे निद्रा से उत्पन्न अवस्था कहते हुए गहन निद्रा के उदाहरण से पुष्ट किया है; हेमचन्द्र ने सुप्त को निद्रा से उत्पन्न अर्थात् निद्रा की प्रगाढ़ दशा कहा है; विश्वनाथ ने 'स्वप्न' शब्द का प्रयोग करते हुए उसे निद्रा को प्राप्त व्यक्ति का विषयानुभव माना है; जगन्नाथ ने सुप्त एवं स्वप्न को एक ही मानते हुए इसे निद्रा से उत्पन्न ज्ञान कहा है। यहाँ 'सुप्त' से दो प्रकार की अवस्थाएँ सूचित की गई हैं —(१) प्रगाढ़ निद्रा, और (१) स्वप्न, जो हल्की निद्रा की अवस्था है। प्रगाढ़ निद्रा का अभिप्राय भरत व धनञ्जय का है। धनञ्जय द्वारा दिया गया उदाहरण इसी का पोषक है। हेमचन्द्र ने सुप्त को प्रगाढ़ निद्रा की अवस्था कहते हुए भी उदाहरण स्वप्न का दिया है। विश्वनाथ 'सुप्त' के स्थान पर 'स्वप्न' का ही वर्णन करते हुए उसे विषयानुभव

मानते हैं, जबकि जगन्नाथ दोनों को एक ही मानते हुए उसे निद्रा के ज्ञान-पक्ष के रूप में स्वीकार करते हैं। 'प्रगाढ़ निद्रा' के अर्थ में निद्रा के समान ही यह मात्र शारीरिक अवस्था होगी, क्योंकि इससे मन का बाह्य इन्द्रियों से सम्बन्ध निद्रा की अपेक्षा और भी अधिक विच्छिन्न होगा और वह अनुभूति अथवा ज्ञान से परे होगा। दूसरे अर्थ 'स्वप्न' को विश्वनाथ ने अनुभव और जगन्नाथ ने ज्ञान कहा है। वास्तव में स्वप्न उपचेतना की अवस्था है, जिसमें स्थूल जगत् अथवा चेतना-काल के विषयों का ही ज्ञानात्मक ग्रहण होता है। भावानुभूति स्वप्न में उपभुक्त विषयों का परिणाम है, न कि स्वयं स्वप्न भावानुभूति है। इस प्रकार शारीरिक एवं बौद्धिक दोनों अवस्थाओं में सुप्त या स्वप्न भाव प्रमाणित न हो पाने के कारण सञ्चारी भावों के अन्तर्गत ग्राह्य नहीं ठहरता।

'मद' की भी लगभग ऐसी ही स्थिति है। सभी आचार्यों ने इसे मद्यपान-जनित अवस्था कहा है, जिसे धनञ्जय ने हर्षोत्कर्ष, अग्निपुराणकार ने मानसिक सम्मोह, हेमचन्द्र और विश्वनाथ ने आनन्द व सम्मोह के मिश्रण एवं जगन्नाथ ने उल्लास के रूप में व्यक्त किया है। आचार्यों ने इसके अनुभाव भी मद्यपान -जनित हास, रुदन, निद्रा आदि दिये हैं। इसके हर्षोत्कर्षादि रूप-कथन के द्वारा इसका भाव-रूप स्थापित करने की चेष्टा की गई है। किन्तु मद्य से आच्छादित चेतना में सहज जीवन के आनन्द या सम्मोह की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः इसे अस्वाभाविक शरीर-दशा कहना ही उपयुक्त होगा। पुनः, सामान्य जीवन में मद को सौन्दर्य, वैभव, शक्ति आदि से उत्पन्न भी माना जाता है, जिसमें मग्न मनुष्य असामान्य आचरण कर बैठता है। वास्तव में यह मद 'गर्व' का ही पर्याय है। धनञ्जय ने गर्व को उच्च कुल, लावण्य, बल, ऐश्वर्य आदि से उत्पन्न मद कहा भी है। अतः इस रूप में इसकी पृथक् भाव-रूप में मान्यता निरर्थक है। यदि स्तर-भेद के आधार पर गर्व की तीव्र अवस्था होने के कारण इसकी पृथक् सत्ता मानने पर बल दिया जाए, तो भी उचित न होगा। प्रत्येक भाव में तीव्रता के विभिन्न स्तर होते हैं अथवा हो सकते हैं, किन्तु इसी कारण उन्हें पृथक्-पृथक् भावों के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है।

'आलस्य' को भरत व हेमचन्द्र ने खेद या थकान, व्याधि, गर्भ, स्वभाव, श्रम, तृप्ति आदि जनित पुरुषार्थ का अनादर कहा है; धनञ्जय तथा विश्वनाथ ने श्रम, गर्भ आदि से उत्पन्न शिथिलता माना है; अग्निपुराणकार ने शृङ्गार आदि धारण करने में चित्त की उदासीनता बतलाया है और जगन्नाथ ने अति-तृप्ति, गर्भ, श्रम, व्याधि आदि जनित चित्त की क्रिया-अनुन्मुखता स्वीकार किया है। इनमें थकान, व्याधि, गर्भ, श्रम आदि से उत्पन्न आलस्य शरीर की शिथिलता के रूप में शारीरिक दशा-मात्र है, भाव नहीं। तृप्ति-जन्य कार्य-सम्बन्धी अरुचि एवं शृङ्गार आदि धारण करने में चित्त की उदासीनता अवश्य ही मानसिक अवस्था है और केवल इसी रूप में इसे सञ्चारी मानना उपयुक्त होगा।

'ग्लानि' को भरत मुनि एवं हेमचन्द्र ने वमन, रेचन, व्याधि, तप, नियम, उपवास, मनस्ताप, मदन एवं मद्य के अतिसेवन, अधिक व्यायाम व मार्ग-गमन, क्षुधा, पिपासा, निद्रा-हानि, जरा एवं कलाभ्यास-जन्य बलापचय अर्थात् बल की हानि की अवस्था माना है; धनञ्जय ने इसे रति आदि परिश्रम, पिपासा, क्षुधा, आदि से उत्पन्न निष्प्राणता या शक्तिहीनता कहा है; अग्निपुराणकार के अनुसार यह मानसिक पीड़ा आदि से उत्पन्न एवं शरीर में व्याप्त शैथिल्य है; विश्वनाथ इसे रति, श्रम, मनस्ताप, क्षुधा, पिपासा



आदि से उत्पन्न निष्प्राणता स्वीकार करते हैं; और जगन्नाथ की दृष्टि में यह अधि-व्यावि-जन्य बलहानि से उत्पन्न दुःख-विशेष है। इन लक्षणों में जगन्नाथ पण्डित के अतिरिक्त शेष सभी आचार्यों ने ग्लानि को विभिन्न विभावों से उत्पन्न शक्ति-हीनता के रूप में ही व्यक्त किया है, जो भावात्मक अवस्था न होकर प्रत्यक्षतः शारीरिक अवस्था है और सञ्चारी भाव नहीं मानी जा सकती। किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ ग्लानि के मानसिक रूप को व्यक्त करते हुए उसे आधि-व्याधि-जनित बलहीनता से उत्पन्न मानसिक दुःख के रूप में ग्रहण करते हैं। यह मानसिक दुःख मात्र दुःख या विचार नहीं होगा, वल्कि इसमें आत्महीनता-जनित लज्जा का हल्का-सा भाव भी मिश्रित रहेगा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार भी 'अपनी बुराई, मूर्खता, तुच्छता इत्यादि का एकान्त अनुभव करने से वृत्तियों में जो शैथिल्य आता है, उसे 'ग्लानि' कहते हैं'। वे इसे सत्त्व-प्रधान अन्तःकरण का भाव मानते हैं। ग्लानि का यह रूप सम्पूर्ण भक्ति-काव्य में मार्मिकता के साथ व्यक्त हुआ है। अतः आत्महीनता-जन्य ईषत् लज्जा-मिश्रित मानसिक दुःख के रूप में ग्लानि एक महत्त्वपूर्ण सञ्चारी भाव है; केवल मानसिक दुःख 'विषाद' सञ्चारी के अर्न्तगत होगा।

'जड़ता' की भी उभयात्मक स्थिति है। भरत, धनञ्जय, हेमचन्द्र, एवं विश्वनाथ इसे इष्ट-अनिष्ट के श्रवण-दर्शन एवं व्याधि आदि से उत्पन्न सभी प्रकार के कार्यों में प्रवृत्ति का अभाव-रूप अथवा कर्त्तव्य-ज्ञान का अभाव मानते हैं; 'अग्नि-पुराण' में इसे कर्त्तव्य के विषय में कुछ प्रतिभान न होना कहा गया है; जगन्नाथ की दृष्टि में चिन्ता, उत्कण्ठा, भय, विरह, इष्ट, अनिष्ट के श्रवण-दर्शन आदि से उत्पन्न चित्तवृत्ति ही जड़ता है, जिसमें अवश्य करणीय कर्म के विषय में असमर्थता होती है। इसकी पुष्टि में दिये गये उदाहरणों में अनुभव रूप में शारीरिक जड़ता या स्तम्भ सात्त्विक अनुभाव का चित्रण करते हुए भी मानसिक जड़ता को बराबर व्यञ्जित किया गया है। यह मानसिक जड़ता भी दो रूपों से सम्भव है—

(१) विवेक का अभाव अर्थात् करणीय-अकरणीय कर्मों के निर्णय में असमर्थता, जो बौद्धिक अवस्था होने के कारण भाव के अन्तर्गत गृहीत नहीं होगी; (२) मूर्च्छा-तुल्य आकस्मिक एवं तीव्र भावुकता, जिससे बुद्धि एवं शरीर के कार्य कुछ क्षणों के लिए अवरुद्ध हो जाएँ। यही आकस्मिक एवं तीव्र भावाकुलता 'जड़ता' सञ्चारी होगी।

'मोह' का वर्णन भी अनेक रूपों में किया गया है। भरत, धन धनञ्जय, हेमचन्द्र एवं विश्वनाथ के अनुसार यह आकस्मिक दुर्घटना, विपत्ति, व्याधि, भय, आवेग, पूर्व वैर-स्मरण, चित्त-विक्षेप, प्रहार, मत्सर आदि से उत्पन्न चित्त की विकलता, मूढ़ता या मूर्च्छा है; 'अग्निपुराण' से इसे किसी कार्य (भय से छूटने या इष्ट-वस्तु को पाने आदि) के लिए उपाय न सूझना मानता है; शारदातनय की दृष्टि में में यह चित्त की शून्यता है; और जगन्नाथ भय, वियोग आदि से उत्पन्न एवं वस्तु-तत्त्व के निर्धारण में असमर्थ चित्तवृत्ति को मोह कहते हैं। इन लक्षणों में मोह के तीन रूप उपलब्ध होते हैं—(१) आकस्मिक दुर्घटना, व्याधि, प्रहार आदि भौतिक आघातों से उत्पन्न मन की चिन्तन-सम्बन्धी असमर्थता, जो मस्तिष्क के तन्तुओं के क्षतिग्रस्त हो जाने का परिणाम है। अतः यह मात्र शारीरिक अवस्था है, भाव नहीं; (२) विपत्ति, भय, आवेग आदि से उत्पन्न मन की कर्त्तव्य-निर्धारण में असमर्थता या विवेकहीनता, जो बौद्धिक अवस्था ही होगी; और (३) भय, आवेग, पूर्व वैर-स्मरण, मत्सर, अनुचिन्तन आदि से उत्पन्न मूर्च्छा-

तुल्य भावाकुलता, जिसके परिणाम-स्वरूप व्यक्ति के कार्यों में तर्क-सम्मतता एवं क्रम-बद्धता नहीं रहती। शुक्ल जी इस अवस्था को जड़ता के समान और केवल दुःखजन्य मानते हैं। मोह का यह भावात्मक रूप जड़ता से इतनी भिन्नता नहीं रखता कि इसे पृथक् सञ्चारी के रूप में ग्रहण करना आवश्यक हो। यह जड़ता का ही अंग है।

'शंका' के भी दो रूप मिलते हैं। भरत तथा हेमचन्द्र के अनुसार चोरी पकड़ी जाने, राजापराध, पाप-कर्म आदि विभावों से संदेहात्मिका शंका उत्पन्न होती है; धनञ्जय एवं विश्वनाथ दूसरे की क्रूरता अथवा अपने दोष या दुर्व्यवहार के कारण होने वाली अनर्थ की दृष्टि, कल्पना या तर्कणा को शंका कहते हैं; 'अग्निपुराण' में अनिष्ट-प्राप्ति की सम्भावना को शंका कहा गया है; जगन्नाथ 'मेरा क्या अनिष्ट होगा ?' इस प्रकार की चित्तवृत्ति-विशेष को शंका मानते हैं। इन लक्षणों में शंका का द्विविधात्मक रूप व्यक्त हुआ है। (१) अपने अनिष्ट की सम्भावना के विषय में संदेह या तर्क-वितर्क करना शङ्का है। यह रूप बौद्धिक अवस्था होने के कारण सञ्चारी भाव से बाहर होगा; (२) अनिष्ट की सम्भावना के रूप में भय की हल्की अनुभूति, जिसे 'अग्निपुराण' एवं जगन्नाथ में अधिक स्पष्टता मिली है। यही रूप भाव है और सञ्चारी भावों में गृहीत होगा। शुक्ल जी ने आलम्बन की अस्फुटता में ही इसका उदय (भय के अनिश्चय के रूप में) माना है, जबकि 'भय' में आलम्बन की धारणा निश्चित होने के कारण अनिष्ट का बहुत-कुछ निश्चय रहता है।

इसी प्रकार 'उन्माद' भी द्विविधात्मक है। भरत एवं हेमचन्द्र ने उन्माद को इष्टजन-वियोग, विभव-नाश, अभिघात, वात-पित्त-कफ त्रिदोषों के प्रकोप या सन्निपात एवं ग्रह आदि से उत्पन्न चित्त-विप्लव माना है; धनञ्जय ने इसे सन्निपात एवं ग्रह आदि जनित बिना सोचे-समझे कार्य करने की अवस्था कहा है; 'अग्निपुराण' में इसका रूप काम आदि के कारण असम्बद्ध प्रलाप का बतलाया गया है; विश्वनाथ की दृष्टि में काम, शोक, भय आदि से उत्पन्न चित्त-सम्मोह उन्माद है; जगन्नाथ विप्रलम्भ, महान् आपत्ति एवं परम आनन्द-जनित अन्य वस्तु में अन्य वस्तु के आभास को उन्माद स्वीकार करते हैं। इनमें अभिघात, सन्निपात, ग्रह आदि से उत्पन्न उन्माद शारीरिक ही होगा, क्योंकि इन कष्टों द्वारा मस्तिष्क के स्नायुओं के क्षति-ग्रस्त होने के परिणाम-स्वरूप ही यह अवस्था आएगी। इष्टजन-वियोग, विभव-नाश, काम, शोक, भय, विप्रलम्भ, परमान्द आदि से उत्पनन्न भावात्मक होगा, क्योंकि इस प्रकार की वेदनाओं से मानव का भाव-जगत् तीव्र आलोड़न से अस्त-व्यस्त हो उठता है, जिसके परिणाम-स्वरूप उसके वचनों में एवं उसकी क्रियाओं-चेष्टाओं आदि में भी अस्त-व्यस्तता आ जाती है। उन्माद का यही भाव-रूप सञ्चारी भावों के अन्तर्गत ग्रहण किया जाएगा।

सञ्चारी भावों के इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि निर्वेद, असूया, दैन्य,, धृति, हर्ष, विषाद, गर्व, व्रीड़ा, आवेग, अमर्ष, औत्सुक्य, चपलता, उग्रता, एवं त्रास—ये चौदह ही शुद्ध सञ्चारी भाव हैं। आलस्य, ग्लानि, जड़ता, शंका एवं उन्माद—ये पाँच आंशिक रूप से भाव होने के कारण उतने अंश में ही सञ्चारी भावों में स्थान पाने के अधिकारी हैं। इस प्रकार काव्य-शास्त्रीय तैंतीस सञ्चारियों से से उन्नीस ही भाव-रूप हैं। शेष सञ्चारियों में से स्मृति, मति, वितर्क, अवहित्था और चिन्ता—ये पाँच बौद्धिक अवस्थायें ही हैं, और श्रम मरण, निद्रा, विबोध, मद, अपस्मार और व्याधि—ये सात शुद्ध शारीरिक अवस्थाएँ ही हैं। सुप्त या स्वप्न शारीरिक एवं बौद्धिक उभयात्मक अवस्था है, जबकि मोह शारीरिक,

बौद्धिक एवं भावात्मक त्रिविध अवस्था है। मोह का भावात्मक रूप जड़ता का ही अङ्ग होने के कारण उसकी पृथक् मान्यता की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार पाँच बौद्धिक, सात शारीरिक एवं दो मिश्रित (बौद्धिक एवं शारीरिक) अवस्थाएँ भाव-रूप न होने के कारण सञ्चारी भावों के अन्तर्गत स्थान पाने की अधिकारिणी प्रमाणित नहीं हो पातीं।

उपर्युक्त उन्नीस भावात्मक सञ्चारियों के अतिरिक्त अनेक नवीन सञ्चारी भावों को इस सूची में स्थान देना आवश्यक होगा। श्रद्धा, आशा, निराशा, सन्तोष, असन्तोष, दया, सहानूभूति, कृतज्ञता, पश्चात्ताप आदि प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण भावों को सञ्चारी भावों में सहज ही ग्रहण किया जा सकता है। साथ ही, सञ्चारियों की अन्तिम संख्या निर्धारित करने का प्रयास करना निरर्थक ही होगा।'

सन्दर्भ-ग्रन्थ :—

१. भरत मुनिः नाट्य-शास्त्रम्।
२. धनञ्जयः दशरूपकम्।
३. हेमचन्द्रः काव्यानुशासनम्।
४. विश्वनाथः साहित्यदर्पणम्।
५. रामचन्द्र गुणचन्द्रः नाट्यदर्पणम्।
६. जगन्नाथः रसगङ्गाधरः।
७. अग्निपुराण।
८. आ. रामचन्द्र शुक्ल : रसमीमांसा।
९. ,, ,, चिन्तामणि, भाग १
१०. रामदहिन मिश्र : काव्य-दर्पण।
११. डॉ० श्याम सुन्दर दास : साहित्यालोचन।
१२. डॉ० गुलाबरायः सिद्धान्त और अध्ययन।
१३. डॉ० नगेन्द्रः रीति-काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता।
१४. डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत् : शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त।
१५. डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित : रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण।
१६. डॉ० मनोहर काले : आधुनिक हिन्दी-मराठी में काव्य-शास्त्रीय अध्ययन।
(१७) Dr. J. N. Sinha : Indian Psychology, pt. II
(१८) Dr. Rakesh Gupta : Psychological Studies in Rasa.

———

भारतीय नाट्य पर ग्रीक प्रभाव

डॉ० मौहम्मद इसराइल खाँ

भारतीय नाट्य के उद्भव एवं विकास के विषय में विद्वानों में उसी प्रकार का मत-वैभिन्य पाया जाता है, जिस प्रकार उनकी आर्यों के विषय में विभिन्न प्रकार की उपस्थापनाएं हैं अथवा नाट्य पर द्रविड़ों के शङ्कास्पद प्रभाव की कल्पनाएँ। अस्तु। प्रकृत विषय का निर्वाह निम्नलिखित रूपों में किया गया है :

१. भारतीय और ग्रीक धर्म का सारूप्य :

भारतीय एवं ग्रीक धर्मों में अनेक समानताएँ पायी जाती हैं। भारतीय अनेक देव-देवियों के नाम ग्रीक में नामान्तर से पाये जाते हैं।[1] इनके अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है, कि अति प्राचीन काल में भारत तथा ग्रीस देशों में आदान-प्रदान का कोई दृढ़ सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। लैङ्गिक पूजा भारतीय धर्म की एक निजी विशेषता है, यद्यपि इसका तात्पर्य भिन्न-भिन्न रूपों में लिया गया है। शिव इसके आदि देव हैं। इनका अस्तित्व पूर्व वैदिक है, क्योंकि मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा के अवशेषों से प्राप्त पशुपति की मूर्ति शिव-प्रतीक है। वेदों में इन्हीं शिव का अन्तर्भाव रुद्र में हो गया है। लिङ्ग-पूजा शिव की पूज्य मानी गई है[2]। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में उर्वशी इत्यादि कुछ ऐसी अप्सराएँ हैं, जिनके साथ पुरुखा इत्यादि मनुष्यों का संसर्ग प्रदर्शित किया गया है। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि ये अप्सराएँ लैंगिक देवियाँ हैं।[3] परन्तु इनकी यह धारणा सर्वथा निर्दोष नहीं कही जा सकती है। ये सूक्ष्म भावों तथा विचारों की प्रतीक भी हैं, ऐसी भारतीय मान्यता है[4]। हमारे वैदिक ऋषि अत्यन्त धीर, वशी तथा संयमी थे। अत-एव उनके द्वारा किसी लैङ्गिक देव तथा देवी की पूजा की स्थापत्ति उचित नहीं जान पड़ती है। परन्तु ग्रीक में इस प्रकार की देव एवं देवियों को प्राथमिकता दी गई है और उनका तदर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है। फलतः कतिपय पाश्चात्य विद्वान् ग्रीक धर्म को सर्वप्राचीन धर्म मानकर, वहाँ के देव एवं देवियों का भारतीय देव एवं देवियों से समकक्षता का अनुमोदन कर, अन्ततोगत्वा भारतीय धर्म पर ग्रीक

---

१. तु० चार्लस कालेमन, द माइथालोनी ऑफ द हिन्दूज (लण्डन, १८३२), पृ० १०; तु० सी विट, मिथ्स ऑफ लेल्लाज एण्ड ग्रीक टेल्स, (न्युयार्क, १९०३), पृ० १०

२. देव-मिक में विशेष रूप से शिव तथा विष्णु की पूजा की जाती है। शिव संहारक, विष्णु पालक तथा ब्रह्मा सृष्टि-कर्त्ता देव हैं। लिङ्ग विशेष रूप से सृष्टि-सूचक शब्द है। शिव की आठ मूर्तियाँ मानी गई हैं और वह कल्याणदायक देव हैं, इसी कारण सृष्टि सतत प्रवह माना है, अन्यथा अवरुद्ध हो सकती है। लिङ्ग इस अवस्था-विशेष का सूचक जान पड़ता है।

३. ए० बी० कीथ, द संस्कृत ड्रामा (आक्सफोर्ड, १९५९), पृ० १६, २१

४. तु० मुहम्मद इसराइल खां, ब्राह्मणिक लेजेण्ड ऑफ वामा एण्ड गन्धर्वाज़, मेसूर ओरिएण्टलिस्ट, भाग-२, नं० १, मार्च, १९६९

प्रभाव दिखाते हैं। यह नितान्त अनुचित है। वैदिक धर्म आर्यों का आदि धर्म रहा है। आधुनिक अनुसन्धानों के आधार पर प्रायः सभी विद्वान् यह स्वीकार करने लगे हैं कि आर्यों का आदि देश भारत ही है। वे मध्य एशिया, यूरोप अथवा ईरान से नहीं आए। ये भारत के आदिवासी थे और सप्त-सिन्धु-प्रदेश इनका वास-स्थान था। मनु ने इनका स्थान दृषद्वती तथा सरस्वती के बीच निश्चित किया है, जिस स्थान का निर्माण ब्रह्मा ने स्वयं अपने हाथों किया है[1]। ऋग्वेद इनका धार्मिक ग्रंथ था, जिस पर किसी बाह्य धर्म के प्रभाव की अपेक्षा नहीं रही।

नृवेशविद्या के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आदिवासियों का नृत्य तथा मान से घनिष्ठ सम्बन्ध अनादि काल से रहा है। प्रकृति का यह सामान्य नियम विश्वव्यापी है। जहाँ एक ओर सभ्य मनुष्य अपने विचारों को भाषणों,अथवा अन्य साधनों से व्यक्त करते हैं, वहाँ आदिवासी अपने विचारों को गाकर अथवा अपने अङ्ग-चालन के माध्यम से व्यक्त करते हैं। नृत्य, गीत एवं सङ्गीत नाट्य के अङ्ग हैं। इनका जन्म किसी न किसी अवस्था (बीजरूप) में अति प्राचीन काल में हो चुका था। इनका परिवर्धन एवं संशोधन शनैः-शनैः काल क्रम से होता रहा है। ऋग्वैदिक प्रकृति के प्रगाढ़ भक्त थे। वे प्रकृति के नूतन रूप को देखकर आनन्द से नाच उठते थे। ऋग्वेद की उषा-सम्बन्धी एक ऋचा में उषा की एक नर्तकी से तुलना की गई है।[2] ऋग्वेद की एक अन्य ऋचा में नृत्य तथा वाद्यों का उल्लेख है। सायणाचार्य ने इसकी व्याख्या करते हुए देवों को नाचते-गाते हुए प्रस्तुत किया है।[3] वैदिक 'समन' नामक उत्सव से तत्कालीन नारियों की स्वाभाविक नाट्य-प्रियता का पता चलता है।[4] ऋग्वैदिक अनेक धार्मिक उत्सवों पर सामाजिकों के अनुरञ्जनार्थ उन कार्यों को पृथिवी पर अभिनीत किया जाता था, जिन्हें देवगण स्वर्ग में किया करते हैं[5]। कात्यायन श्रौतसूत्र में 'महाव्रत' नामक उत्सव पर यजमान की पत्नियों को वीणा बजा कर गाते हुए प्रदर्शित किया गया है[6]। इन उद्धरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वैदिक युग में नाट्य-तत्त्व—नृत्य, गीत और सङ्गीत का क्या स्थान था और उन्हें किस सीमा तक धर्म से संयुक्त कर दिया गया था।

ग्रीस देश की धार्मिक गाथा में अनेक प्रकार की देवियों का वर्णन मिलता है, जो नृत्य, सङ्गीत तथा वाद्य की देवियाँ हैं। उनसे अभिनीत नृत्य-मण्डली का नेतृत्व 'अपोलो' करते हैं। यहाँ इन देवियों तथा देवों के कार्य एवं स्थान भारतीय नृत्य तथा मान से सम्बद्ध देवों तथा देवियों की अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट हैं। इनका 'हेलिकन पर्वत' तथा 'अग्निप्पी सरिज्, से गहरा सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है। ये

---

१. मनु० १/१७

२. ऋ० १·९२.४

३. ऋ० ५.३३.६

४. ए० ए० मैकडानेल एण्ड कीथ, वैदिक इण्डेक्स ऑफ नेम्स एण्ड सब्जेक्ट्स, भाग, १, पृ० ४८१; भाग-२, पृ० ४२६

५. ए० बी० कीथ, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० १६

६. का० श्रौ० १८. ३. २१

देवियाँ अपने नृत्य तथा गान से देवों का अनुरञ्जक करने में दक्ष हैं।[1] इस साम्य के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि यूरोपीय नाट्य का धर्म से प्रगाढ़ सम्बन्ध है। धर्म ने नाट्य तथा नृत्य को अधिक प्रभावित किया है।[2]

भारतीय धर्म का भी नाट्य से चोली-दामन का सान्निकट्य है। भरत ने नाट्य की उत्पत्ति ब्रह्मा द्वारा बताई है, जिसमें चारों वेदों के सार निहित हैं। शिव ने अपना ताण्डव तथा पार्वती ने अपना लास्य देकर इस काव्य की श्रीवृद्धि की है। ब्रह्मा को अपने अद्भुत, सर्वश्रेष्ठ तथा पञ्चवेदभूत नाट्य का अनुमोदन स्वयं शिव से करवाना पड़ा है तथा न्यूनाधिक्य के पूरणार्थ उन्हें शिव-परामर्श की अपेक्षा रही है।[3]

२. कुछ समान नाट्य सादृश्य :

ग्रीस में सुखान्त तथा दुःखान्त दोनों प्रकार के नाट्यों का उद्भव धार्मिक विधि से हुआ। इस 'विधि' ने सामान्य गीत से बढ़ कर शीघ्र ही गायक-मण्डली और उसके नेता के बीच संवाद का रूप धारण कर लिया। कालान्तर में यही गीत वर्णनात्मक तत्त्व बन गया तथा तथाकथित संवाद ने देव-कथा का स्वरूप ले लिया।[4] भारतीय नाट्य को प्रारम्भ से ही प्राधान्य मिला हुआ है। धर्म के अङ्क में ही इस की उत्पत्ति हुई, पला और फूला-फला। ऋग्वेद में उपलब्ध पन्द्रह अथवा बीस संवाद-सूक्तों से इस बात की पुष्टि हो जाती है कि नाट्य को अपने प्रारम्भिक अवस्था से अग्रसर करने वाले तत्त्वों में संवाद-सूक्त भी एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व रहा है। सारी सामग्री उपलब्ध हो जाने पर नाट्य को कार्य-प्रवृत्त करने में संवाद अन्तिम साधन है। अतःएव संवाद को ग्रीस तथा भारत दोनों देशों नाट्य-वृद्धि में अन्तिम तत्त्व माना गया है।[5]

भारत तथा ग्रीस दोनों देशों में नाट्य के उद्भव का एक अन्य सामान्य सिद्धान्त भी लक्षित होता है। कहा जाता है कि उभय नाट्यों का आविर्भाव उस तत्त्व से हुआ है, जिसमें प्रकृति अथवा आदर्शवाद प्रच्छन्न रहा है।[6] दोनों देश के नाट्यों में अन्य समानताएँ भी दर्शनीय हैं। दोनों में कार्य का विभाजन दृश्यों में किया गया है। कुछ पात्र वीर हैं, तथा कुछ काल्पनिक हैं। पात्रों का भी वर्गीकरण पाया जाता है। दोनों का लक्ष्य शृङ्गार-प्रधान है। पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि भारतीय नाट्य विशेष रूप से

---

२. डब्ल्यू० रिजवे, ड्रामाज़ एण्ड ड्रामाटिक डान्सेज ऑफ नान-यूरोपियन रेसेस (लण्डन, १९१५), पृ० ४०१ आगे

३. मनमोहन घोष, कण्ट्रीब्युशन्स टू द हिस्ट्री ऑफ द हिन्दू ड्रामा कलकत्ता, १९५८), पृ० ५

१. जेम्स हेस्टिंग्स, इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रीलिजन एण्ड एथिक्स, भाग-९ (न्युयार्क, १९५३), पृ० ४

४. तु० एलारडिश निकोल, ब्रिटिश ड्रामा (लन्दन, (१९६२), पृ० १४-१५

५. ए० ए० मैक्डोनेल, अ हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटिरेचर (लण्डन, १९०५), पृ० ३४७

६. आई० शेखर, संस्कृत ड्रामा : इट्स आरिजिन एण्ड डेक्लाइन (लीडेन, १९६०), पृ० ५६

शृङ्गार-प्रधान हुआ करते हैं। परन्तु ग्रीस के नाट्यों की भी प्रायः यही दशा है।[1] अथवा एतद्भिन्न रचनाएँ भी उपयत्र पाई जाती हैं, न कि केवल शृङ्गारिक।

विण्डिश महोदय का कथन है कि भारतीय 'मृच्छकटिक' तथा ग्रीस 'सिस्टेलेरिया'—मिट्टी की गाड़ी, दोनों के बीच जो साम्य है, वह ग्रीक प्रभाव के कारण ही है। परन्तु यह मत भास के 'चारुदत्त' नाट्य की प्राप्ति हो जाने पर धराशायी हो जाता है। सामान्यतः सभी लोग शूद्रक-कृत 'मृच्छकटिक' का आधार 'चारुदत्त' को मानने लगे हैं।[2]

संस्कृत नाट्यों में 'यवनिका' अथवा 'जवनिका' का प्रयोग मिलता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि यह कर्टेन'—पर्दे का प्रतिरूप है। सर्वप्रथम यह संदेहास्पद है कि ग्रीक नाट्यों में पर्दे का प्रयोग होता था या नहीं।[3] यदि हुआ होता, तो तत्सदृश प्रभाव भारत पर भी पड़ता। यवनिका का प्रयोग आज जैसे पर्दों की भाँति भारतीय नाट्यों में नहीं हुआ करता था। बल्कि इसका प्रयोग नाट्य-रङ्ग तथा रङ्गमञ्च के बीच विभाजनार्थ हुआ करता था। अतः एव पर्दे का प्रथम उद्देश्य ही यहाँ समाप्त हो जाता है और किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति की आशङ्का नहीं रहती है।

३. भारत में अभिनीत ग्रीक नाट्य

भारत में अभिनीत ग्रीक नाट्य के प्रमाण निश्चित रूप से अल्प हैं। लोगों का विश्वस्त है कि सिकन्दर के आक्रमण से ग्रीक नाट्यों के भारत में प्रचार एवं प्रकार में बल मिला। यह नितान्त सत्य है कि सिकन्दर महान् कला-प्रेमी सम्राट् था। जब वह देश-विजया की महत्त्वाकांक्षा से ग्रीस से चला, तो अपने साथ अनेक कलाकारों को भी ले लिया। इसका कारण उनसे युद्ध में सहायता लेना नहीं था। अपितु जब वह विजय-प्राप्त कर क्षणभर विराम करता, तो वे ही कलाकार उसका मनोरञ्जन करते थे। कहा जाता है कि एकबतना (Ekbatana) नामक स्थान पर ग्रीस से आए हुए ३०, ००० कलाकार उसके साथ थे।[4] ग्रीक नाट्यों का प्रयोगात्मक स्वरूप यत्र-तत्र स्थापित ग्रीक प्रदेशों में छा गया था।[5] विशेषतः मिनेण्डर के समय में ग्रीक प्रभाव की सम्भावना की जा सकती है। मिनेण्डर का समय प्रथम शताब्दी ई० पू० माना गया है। उस समय ग्रीक राजकुमारों पर नये प्रभाव की छाप भी पड़नी प्रारम्भ हो गई थी। क्योंकि वह ऐसा था, जब भारत में भी नाट्यों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था, लेकिन उन पर अपनी

---

१. ए० बी० कीथ, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० ५८

२. आई० शेखर, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० ५४–५५

३. कृष्ण चैतन्य, अ न्यु हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटिरेचर (लन्दन, १९६२), पृ० २८४; अ० भा० (गा० ओ० सी०), भाग १, पृ० २१०, "तत्र यवनिका रङ्गपीठतच्छिरसोर्मध्ये। तस्या अन्तरागतैः प्रयोक्तृभिर्नटैः प्राधान्यात यदि वा वैणिकादिभिरेव प्रयोक्तृभिः प्रयोज्यानि प्रत्याहारादीनि। गीतकपिण्ड्या (पाठाचा) दीनि तु यवनिकायामपसारितायां गीतानामित्यादिना श्लोकेव गीवभ्रूवर्धमानान्यन्तर प्रयोग उक्तः।"

४. ए० बी०, कीथ, पूर्वोद्धृत ग्रंथ पृ० ५९

५. वही, पृ० ५९

परम्परा की छाप थी। प्रमाण के अभाव में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता। कहीं भी उस ग्रीक नाट्य का नामोल्लेख नहीं मिलता, जिसका अभिनय भारत में हुआ हो के ईरान इत्यादि देशों में ग्रीक साहसिकों के पैर जम गये थे तथा यत्र-तत्र उनकी स्वतंत्र छावनियाँ बन गई थीं। वहाँ लोक-गीतों तथा बाल-कथाओं में यत्र-तत्र ग्रीक-प्रभाव की झलकियाँ मिलती हैं।

भारत के विषय में कुछ विपरीत बात दृष्टिगोचर होती है। सर्वप्रथम भाग्य ने सिकन्दर का ही साथ नहीं दिया। सिकन्दर के आक्रमण से भारत पर ग्रीक-प्रभाव की आशङ्का निराधार है। वह आँधी की भाँति आया और चला गया। उसे भारत में ठहरने का अधिक समय नहीं मिला। भारत पर आक्रमण करते ही उसका सामना हुआ। राजा पोरस से उसका घमसान युद्ध हुआ, जिससे उसके हृदय में यह बात बैठ गई थी कि भारतीय बहुत बहादुर होते हैं। अन्ततः उसका आगे बढ़ने का साहस जाता रहा है। उसके साथी भी अपने देश को लौटने के लिए लालायित थे। ऐसी अवस्था में सिकन्दर को आराम-चैन नहीं मिल सका कि वह भारत में आराम से टिककर ग्रीक कला का प्रदर्शन करवाता।

भारतीय नाट्य पर ग्रीक-प्रभाव दिखाने वाले सर्वप्रथम वेबर महोदय हैं। इनका मत है कि भारतीय नाट्यों को आवश्यक प्रेरणा बैक्ट्रिया, पंजाब तथा गुजरात के राजदरबारों में अभिनीत ग्रीक नाट्यों से मिली।[1] परन्तु महाभाष्य में उपलब्ध 'कंसवध', 'वलिवन्ध' नाट्यों की प्राप्ति से वेबर महोदय को स्वयं अपने मत का तिरस्कार करना पड़ा। अब वह इस स्वर पर उतर आये कि संस्कृत–नाट्यों पर ग्रीक-प्रभाव की थोड़ी कल्पना अथवा आशङ्का की जा सकती है।[2] सिकन्दर के साथ रहने वाले कलाकारों के विषय में विचित्र बात यह भी कही जाती है कि ईरान में रहते समय उसे अनेक ईरानी कलाकार मिले, जिन्हें सिकन्दर अपने साथ भारत लाया। परन्तु यह कथन कथमपिग्राह्य नहीं है कि वह स्वदेशी कलाकारों की अपेक्षा दूसरों को वरीयता देता। कीथ महोदय ने इस का खण्डन किया है[3] और वह सर्वथा युक्त है।

४. भारतीय और ग्रीक नाट्यों का सैद्धान्तिक वैभिन्य :

भारतीय नाट्य और अभिनव का तादात्म्य कुछ लोगों ने शब्द तथा मनुष्यों की चेष्टाओं के अनुकरण के आधार पर कर ग्रीफ नाट्य से सान्निकट्य प्रदर्शित किया है। भारतीय अभिनय में बाह्य तथा आन्तरिक अवस्थाओं का अनुकरण किया जाता है जिस में दोनों अवस्थाओं की तादात्म्यावस्था स्थापित हो जाती है। ग्रीक दुःखान्त नाट्य में कार्य का अनुकरण पाया जाता है, परन्तु संस्कृत-नाट्य में कार्य का अनुकरण पाया जाता है, परन्तु संस्कृत-नाट्य में अवस्था-विशेष का अनुकरण पाया जाता है।[4] ग्रीक नाट्य धर्म प्रधान माना गया है। उसकी उत्पत्ति एवं विकास में धर्म का महान् योगदान रहा है। परन्तु यह कथन युक्त नहीं है कि भारतीय धर्म की उत्पत्ति ग्रीक धर्म के प्रभाव तथा संसर्ग से हुई है। जिस प्रकार भारतीय धर्म का स्वतंत्र अस्तित्व तथा विकास पाया जाता है, बहुत तद्वत् बिना ग्रीक सिद्धान्तों के प्रभाव के भारतीय

१. तु० ए० बी० कीथ, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० ५७, पादटिप्पणी २
२. वही, पृ० ५७
३. तु० आई० शेखर, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० ५६-५७; द्र० ए० बी० कीथ; पूर्वोधृत ग्रंथ, पृ० ५६
४. वही, पृ० ३५५

संस्कृत-नाट्य की धार्मिक उत्पत्ति सिद्ध होती है।[१] ग्रीक नाट्य में स्थान, समय और कार्य के ऐक्य (Unity of place, time and action) पर बल दिया गया है, परन्तु भारतीय नाट्य में इस प्रकार का विधान नहीं है।

५. भारतीय नाट्य की अटूट परम्परा :

भारतीय नाट्य की एक अविरत धारा वैदिक काल से ही चली आ रही है। वेदों में नाट्य-तत्त्व यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं, जिनके अध्ययन के आधार पर सिद्ध किया गया है कि इन्हीं तत्त्वों के आधार पर आगे चलकर नाट्य की आधार-भित्ति खड़ी हुई। भरत मुनि का कथन इस का पुष्ट प्रमाण है :

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामेभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥ (ना० शा० १.१७)

अर्थात् ब्रह्मा ने नाट्य-सामग्री का चयन विशेष पद्धति से किया है। उन्होने पाठ्य को ऋग्वेद से, गीत को सामवेद से, अभिनय को यजुर्वेद से तथा रसों को अथर्ववेद से लिया है। इससे यह सिद्ध होता है कि वेदों में प्रभूत नाट्य-सामग्री सन्निहित है।

ऋग्वेद में नृतू (नृत्=नाचना) का प्रयोग मिलता है।[२] इसकी एक ऋचा में उषा को एक नर्तकी के रूप में चित्रित किया गया है।[३] इसके एक अन्य मंत्र में नृत्य तथा वाद्यों का उल्लेख पाया जाता है।[४] इसके अतिरिक्त १५ अथवा २० ऐसे संवाद-सूक्त हैं, जिनमें प्रचुर मात्रा में नाट्य-सामग्री निहित है। पाठ्य का नाट्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऋग्वेद में यह पाठ्य-सामग्री विभिन्न प्रसङ्गों में मिलती है। उनमें संवाद-शैली का उल्लेखनीय प्रसङ्ग—इन्द्र-मरुत-संवाद (१.१६५); विश्वामित्र-नरी-संवाद (३.३३) पुरूरवा-उर्वशी-संवाद (८.१००); सरमा-पणि-संवाद (१०.१०८); इन्द्र-अदिति-वामदेव-संवाद (१.१७६) इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि-संवाद (१०.८६); इन्द्र-वसुक्त-संवाद (१०.२८); बसिष्ठ-पुत्र-संवाद (७.३३) है। अन्य प्रसङ्गों से ऋग्वैदिक कालीन लोगों के सामान्य जीवन में नाट्य-स्थान का पता चलता है। वैदिक 'समन' नामक उत्सव से उन लोगों के सङ्गीत तथा नृत्य की लोक-प्रियता का सुज्ञान प्राप्त होता है। 'समन' से 'युवतियों की कला-प्रवीणता का पता चलता है। उस उत्सव में युवकों को भी भाग लेने का सुअवसर मिलता रहा हैं।[५]

यजुर्वेद में नर्तक तथा शैलूष दोनों का वर्णन मिलता है।[६] इस सम्बन्ध में यजुर्वेद में कहा गया है कि शैलूष जाति के लोग व्यावसायिक दृष्टि से नाट्यों का आयोजन किया करते थे। इस संदर्भ में उल्लिखित है कि यज्ञ के विभिन्न अवसरों एवं अन्य कार्य-अवसरों पर नृत्त (ताल-लयबद्ध अभिनय) के लिए

---

१. द्र० गोण्डा, एक्ट् आरिएण्टलिया, भाग १९, पृ० ३२९–४५३
२. ऋ० १,९२.४; ६.६३.५; ८.२०.२२; १०.१८.३, इत्यादि।
३. वही, १.९२.४
४. वही, ५.३३.६
५. मैक्डानेल एण्ड कीथ, वैदिक इण्डेक्स ऑफ नेम्स एण्ड सब्जेक्ट्स (दिल्ली, १९५८), भाग–१, पृ० ४८१, भाग–२, पृ० ४२९
६. यजु० ३०-६

सूत को, गीत के लिए शैलूष (नट) को (**नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषम्**); धर्म-व्यवस्था के लिए सभा-चतुर को, मनोरञ्जन के लिए विनोदशीलों (मसखरों) को; शृङ्गार-रचना (साज-सज्जा) के लिए कलाकारों (निर्देशकों) को और समय-यापन के लिए राजकुमारों को नियुक्त करना चाहिए।[1] **अथर्ववेद** में भी गान तथा नृत्य का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार ब्राह्मण-ग्रंथों,[2] आरण्यकों, उपनिषदों,[3] गृह्यसूत्रों[4] तथा षड्वेदाङ्गों में नाट्य-विषयक प्रचुर सामग्री मिलती है। इनके अध्ययन से आयोगू, मागध, सूत, शैलूष आदि कलाकारों का स्थान तथा कार्य का सहज में ही अनुमान लगाया जा सकता है। **कौषीतकि ब्राह्मण** में नृत्य, गीत और वादिन का सामूहिक नाम 'शिल्प' रखा गया है।[5]

चौथी-तीसरी ई० पू० पाणिनि के शिलालिन् तथा कृशाश्व के सूत्रों[6] से उनके पूर्ववर्ती नाट्य-सूत्रों का पता चलता है। इसके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ— **महाभाष्य, महाभारत, पुराणादि** ग्रंथों में नाट्य विषयक प्रभूत सामग्री सञ्चित है। भरत का **नाट्यशास्त्र** नाट्य का सबसे अधिक प्रामाणिक उपलब्ध ग्रंथ है, जिसके आधार पर भारतीय काव्य एवं नाट्य-परम्परा को सम्यग्रूप मिला। भारतीय नाट्य एवं काव्य-जगत् में भरत का वही स्थान है, जो अरिस्टाटिल का ग्रीस देश में है। सभी देशों की विभिन्न क्षेत्रों में अपनी-अपनी सैद्धान्तिक प्रवृत्तियाँ होती हैं, जिन्हें जन्म लेने एवं बढ़ने में शताब्दियाँ लग जाती हैं। यह सिद्धान्त भी भारतीय नाट्य-साहित्य पर सामान्यतः लागू होता है। हमने देखा है कि वैदिक युग से ही इस सुललित साहित्य का उद्बोधन प्रारम्भ हो गया था, जिसका समय निश्चित नहीं किया जा सकता है। जो लोग भारतीय नाट्य पर ग्रीस प्रभाव दिखाने का प्रयत्न करते हैं, उन्हें सर्वप्रथम यह बात स्मरण रखनी होगी कि क्या भारतीय काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त का निर्माण ग्रीक काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त के अध्ययन के अनन्तर बना? राज्यों के निर्माण तथा उथल-पुथल से राजनैतिक दशाएँ शीघ्र प्रभावित होती हैं, परन्तु शास्त्र-विशेष के पनपने में शताब्दियाँ लग जाती हैं। अतएव सिकन्दर अथवा किसी अन्य राजा के आक्रमण, प्रभाव तथा किसी विशेष-सिद्धान्त के प्रचार से हमारा नाट्य-साहित्य बना है अथवा हमारे नाट्यकारों ने अपनी कृतियाँ निर्माण की हैं, नितान्त निराधार एवं असत्य है।

---

१. वाचस्पति गैरोला, **भारतीय नाट्य-परम्परा और अभिनय** (इलाहाबाद, १९६७), पृ० ११६–१७।
२. तै० ब्रा० ३.४.१.१५; कौ० ब्रा० २४.५, २९.५; जै० उ० ब्रा० १.४२।
३. मै० उ० ४.२।
४. का० श्रौ० सू० १८.३.२१; आ० गृ० सू० ३ ३।
५. कौ० ब्रा० २९.५।
६. अष्टाध्यायी ४.३., ११०–११।

अभिज्ञान-शाकुन्तल में कालिदास द्वारा किए गए अपाणिनीय प्रयोग

कु० उषा पाण्डेय

(१) समास-सम्बन्धी अपाणिनीय प्रयोग

कालिदास संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ कवि एवं नाटककार माने जाते हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में जिस भाषा का प्रयोग किया है वह लौकिक संस्कृत का परिनिष्ठित रूप है। लौकिक संस्कृत भाषा सामान्यतया पाणिनीय सम्प्रदाय के वैयाकरणों द्वारा विहित नियमों से नियंत्रित होती है। संस्कृत भाषा के स्वरूप के विवेचन के लिए पाणिनि के व्याकरण-ग्रन्थ अष्टाध्यायी की प्रामाणिकता निस्सन्दिग्ध मानी जाती है। इसे विद्वानों में इतनी मान्यता मिली कि पूर्ववर्ती अन्य व्याकरण-सम्प्रदायों के ग्रन्थ अमान्य से हो गये। पाणिनि के नियमों में जो कुछ संशोधन कात्यायन द्वारा अपने वार्तिकों के माध्यम से प्रस्तुत किए गए, तथा अष्टाध्यायी का विशद भाष्य भी, जो महाभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है, और जिसमें पाणिनि के नियमों में का सूक्ष्म विवेचन उपलब्ध होता है, लौकिक संस्कृत के शुद्ध रूप का विधान करने की दृष्टि से प्रामाणिक माने जाते रहे हैं। लौकिक संस्कृत के कवियों ने अपनी रचनाओं में भाषा का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है, उसकी शुद्धता उन्हीं वैयाकरणों द्वारा विहित नियमों की दृष्टि से आँकी जाती है। भाषा के जो रूप पाणिनीय सम्प्रदाय के वैयाकरणों द्वारा विहित नियमों की परिधि में नहीं आते, उन्हें अपाणिनीय कहा जाता है।

संस्कृत कवियों की रचनाओं में बहुत से ऐसे शब्द या रूप आदि मिल जाते हैं जो अपाणिनीय हैं। वस्तुतः किसी अन्य भाषा के शब्दों के प्रभाव से या बहुत प्राचीन वैदिककालीन आदि शब्दों को प्रयुक्त कर देने कारण या विशिष्ट सन्दर्भों में भाव-प्रवाह के बीच अथवा शिथिलतावश अर्थात् व्याकरण के शुद्ध रूप पर दृष्टि रखे बिना कवियों द्वारा बहुत-से ऐसे शब्द या रूप प्रयुक्त किए गए हैं जो वैयाकरणों द्वारा प्रतिपादित नियमों से मिलते हैं। प्रस्तुत लेखिका द्वारा सर्वप्रथम कालिदास द्वारा अभिज्ञान शाकुन्तल में किए गए अपाणिनीय प्रयोगों का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। इस अध्ययन को दो लेखों में विभाजित किया गया गया है—(१) समास सम्बन्धी अपाणिनीय प्रयोग, (२) वाक्य रचना आदि से सम्बन्धित अपाणिनीय प्रयोग। प्रस्तुत लेख में अभिज्ञान शाकुन्तल में कालिदास द्वारा किए गये समास-सम्बन्धित अपाणिनीय प्रयोग पर विचार किया जा रहा है।

विदितभक्ति :

अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रथम अंक राजा दुष्यन्त कहता है—'सा खलु विदितभक्तिम्' मां महर्षेः कथयिष्यति 'इस वाक्य में कालिदास ने' 'विदितभक्तिम्' शब्द का प्रयोग किया है, जो कि अनेक वैयाकरणों के अनुसार एक अपाणिनीय प्रयोग है। इस विषय में पाणिनि का सम्बन्धित सूत्र है—'स्त्रियाः पुंवद्भाषित-पुंस्कादनूङ्समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु'[1] (अष्टा० ६।३।३४)। इस सूत्रानुसार समानाधिकरण

१. पूरणीप्रियादिभिन्न समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद के परे रहते भाषितपुंस्क ऊङ्प्रत्ययान्त-भिन्न स्त्रीलिङ्ग शब्द का पुल्लिङ्गवत् रूप हो जाता है।

बहुव्रीहि समास में यदि पूर्वपद भाषितपुंस्क स्त्रीलिंग शब्द हो, और वह ऊङ् प्रत्ययान्त न हो, तो उत्तरपद स्त्रीलिंग के परे रहते उसे पुंवद्भाव प्राप्त हो जाता है अर्थात् उसका पुल्लिगवत् रूप हो जाता है। यह नियम तब लागू नहीं होता जबकि उत्तरपद या तो कोई संख्यावाचक स्त्रीलिंग शब्द हो या प्रियादिगण[२] का का कोई शब्द हो। अतः पाणिनि के अनुसार प्रस्तुत प्रयोग में पूर्वपद को पुंवद्भाव नहीं हो सकता क्योंकि यहाँ पर उत्तरपद 'भक्ति' शब्द है, जो कि प्रियादिगण में गिना जाता है। अतः 'विदिता भक्तिर्यस्य' इस प्रकार विग्रह करने पर पाणिनि के सूत्रानुसार समस्त पद 'विदिताभक्तिः' ही बनना चाहिए, 'विदिताभक्तिः' नहीं।

अनेक वैयाकरण कालिदास के प्रयोग को पाणिनीय सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। इस विषय में प्रमुख मत निम्नांकित हैं—

भोज[३] का विचार है कि प्रियादिगण में उल्लिखित भक्ति शब्द कर्मवाच्य में क्तिन् प्रत्यय से बना है जिसका अर्थ होता है—'पूजा का विषय'। अतः 'विदितभक्तिम्' प्रयोग में पुंवद्भाव प्राप्त हो ही जाता है। क्योंकि यहाँ पर प्रयुक्त भक्ति शब्द भाववाच्य में क्तिन् प्रत्यय से बना हुआ है, जो कि प्रियादिगण में गिनाये गये 'भक्ति' शब्द से भिन्न हैं। 'फलतः भवानीभक्तिः' जैसे प्रयोगों में तो पहला स्त्रीलिंग शब्द पुल्लिग में परिवर्तित नहीं होता, परन्तु 'विदितभक्तिः' आदि स्थलों में पुंवद्भाव को प्राप्त कर लेता है। अष्टाध्यायी की टीका 'प्रभा' में भी इसी मत को पुष्ट किया गया है—'भाव-वाच्य-साधिते तु पूर्वपदस्य पुल्लिगता स्यादेव' (प्रभा ६।३।३४ की व्याख्या)।

वामन, भट्टोजिदिक्षीत आदि अधिकांश वैयाकरण 'विदितं भक्तिर्यस्य' इस प्रकार विग्रह करके पूर्वपद को नपुंसक लिंग में रखकर इस समास की सिद्धि करते हैं। इस विग्रह में 'विदितम्' शब्द का 'भक्ति' के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है अपितु यहाँ पर सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होने से 'सामान्ये नपुंसकम्' (अर्थात् सामान्य अर्थ में नपुंसकलिग का प्रयोग किया जाता है) सूत्र से पूर्वपद में स्त्रीलिंग अविवक्षित है।[४] क्योंकि यहाँ पर 'विदित' शब्द मुख्य रूप से अविदितत्व के अभाव को ही बता रहा है।

यह बात इस प्रकार उदाहरण से अधिक स्पष्ट हो जाती है—यदि प्रमुख रूप से कहा जा रहा हो—'नृपतेः किञ्चिद् विदितं वर्तते' (राजा को कुछ विदित है) इस पर यदि पूछा जाये कि 'किं तत्' अर्थात् 'वह क्या (विदित) है ?' तो उत्तर यही होगा—'यद् विदितं सा भक्तिः'—अर्थात् 'जो विदित है वह भक्ति है' ? ऐसे प्रयोग में 'विदित' शब्द नपुंसकलिंग में ही रहता है, उसे स्त्रीलिंग की विवक्षा नहीं है।

---

२. प्रियादिगण में ये शब्द गिने गये हैं—प्रिया, मनोज्ञा, कल्याणी, सुभगा, दुर्भगा, भक्तिः, सचिवा, स्वसा (स्वा), कान्ता (क्षान्ता), समा, चपला, दुहिता, वामा, अबला, तनया।

३. 'कर्मसाधनस्यैव भक्तिशब्दस्य प्रियादिषु पाठात् भवानीभक्तिरित्यादौ कर्मसाधनत्वात् पुंवद्भाव-प्रतिषेधः। दृढ़भक्तिरित्यादौ तु भावसाधनत्वात् पुंवद्भावसिद्धिः पूर्वपदस्य।'

(भोजराजकृतं सरस्वतीकण्ठाभरण)

४. अष्टाध्यायी (६।३।३४) की काशिकावृत्ति में भी लिखा है—

दृढभक्तिरित्येवमादिषु स्त्रीपूर्वपदस्याविवक्षितत्वात् सिद्धमिति समाधेयम्।'

'दृढ़भक्तिरिति सर्वत्र' (काव्या० सू० ५।२।७२) की वृत्ति में वामन रघुवंश में प्रयुक्त 'दृढ़भक्तिः' शब्द को यही कहकर सिद्ध करते हैं कि वहाँ स्त्रीलिंग की विवक्षा न होने से पूर्वपद नपुंसकलिंग में ही होगा—'अत्र पूर्वपदस्य अस्त्रियां विवक्षितत्वात्'। भट्टोजिदीक्षित वामन के ही मत का अनुसरण करते हैं—'सामान्ये नपुंसकम्। दृढं भक्तिः यस्य स दृढ़भक्तिः '(सि० कौ० ८३५)।' 'दृढभक्तिः' शब्द में भी पूर्वपद 'दृढम्' केवल अदार्ढ्य के अभाव को ही द्योतित करता है, उसमें स्त्रीत्व की विवक्षा नहीं है—'**अदार्ढ्य-निवृत्तिमात्रपरे दृढभक्तिशब्दे लिंगविशेषस्य अनुपकारकत्वात् स्त्रीत्वमविवक्षितम्**' (रघु० १२।१९ की टीका मल्लिनाथ द्वारा उद्धृत)।

वासुदेव दीक्षित ने सिद्धान्त-कौमुदी की टीका '**बालमनोरमा**' में यह उल्लेख किया है कि पद संस्कारपक्ष में सामान्यपरता का आश्रय लेकर अर्थात् सामान्य अर्थ में 'दृढ' शब्द '**सामान्ये नपुंसकम्**' सूत्रानुसार नपुंसकलिंग में रखा जाता है, फिर बाद में 'भक्ति' शब्द के साथ अन्वय होने पर भी वह अपने नपुंसकत्व को नहीं छोड़ता, क्योंकि वहाँ किसी लिंगविशेष की विवक्षा नहीं होती। यह बात '**वेदाः प्रमाणम्**' जैसे प्रयोग को देखकर स्पस्ट हो जाती है। इसी प्रकार का प्रयोग महाभाष्य के पस्पशाह्निक में भी किया गया है जो कि ऐसे प्रयोगों के पक्ष में एक प्रबल प्रमाण है—'**शक्यं च अनेन श्वमांसादिभिरपि क्षुत्प्रतिहन्तुम्**।'

कुछ विद्वानों का कहना है कि यदि '**विदितभक्तिः**' जैसे प्रयोगों को उपर्युक्त प्रकार से सिद्ध कर लिया जाये तो फिर प्रियादिगण में 'भक्ति' शब्द को गिनना ही व्यर्थ है। पर इस सम्बन्ध में वासुदेव दीक्षित आगे कहते हैं कि वाक्य-संस्कार-पक्ष में विशेष्य के अनुसार ही स्त्रीत्व की प्रतीति होने पर '**दृढाभक्तिः**' जैसे प्रयोग को सिद्ध करने के लिये ही प्रियादिगण में 'भक्ति' शब्द को रखा गया है।

एक अन्य[1] मतानुसार 'भक्ति' शब्द को 'पुल्लिग' मानकर व उसका 'भक्तिमान्' अर्थ लेकर इस प्रकार सिद्ध किया जाता है—'**दृष्टश्चासौ भक्तिश्च (भक्तिमांश्च) दृष्टभक्तिः**।' परन्तु यह मत उचित प्रतीत नहीं होता।

कुछ लोग तो '**गणोक्तमनित्यम्**' अर्थात् 'गण' में कहा हुआ अनित्य होता है—इस परिभाषा के अनुसार प्रियादिगण में गिने गये 'भक्ति' शब्द की भी नित्यता पर सन्देह करते हैं और इस तरह कालिदास के 'विदितभक्तिः' प्रयोग को पाणिनीय प्रयोग सिद्ध कर देते हैं। किन्तु गण में कहे गये प्रत्येक शब्द को अनित्य मान लेना तो उचित प्रतीत नहीं होता।

ऐसा प्रतित होता है कि अपाणिनीय प्रयोग होने पर भी यह अत्यन्त प्रचलित प्रयोग है। कालिदास ने स्वयं ऐसे अनेक प्रयोग किए है—'**दृढभक्तिरिति ज्येष्ठे**' रघु० १२।१९, '**दृष्टभक्तिर्भवान्या**' मेघ० १।४०, '**भवति विरलभक्तिः**' रघु० ५।७४, **दर्शितशिष्यभक्तिः**' रघु० २।४०।

ऐसा ही एक प्रयोग अन्यत्र भी मिलता है—'**भर्तुर्निरतिशयभक्तिगुरुजने**' (**प्रतिमा नाटकम्** २।१४)।

कतिपयरात्रम्—

अभिज्ञानशाकुन्तल के द्वितीय अंक में कालिदास ने '**कतिपयरात्रम्**' पद का प्रयोग किया है—'**तत्**

---

१. डॉ॰ ई० आर० श्रीकृष्ण शर्मा द्वारा सम्पादित '**कालिदास-समीक्षा**' में वी० सुब्बाराव के लिखे एक लेख में उद्धृत।

कतिपयरात्रं सारथिद्वितीयेन सनाथी क्रियतामाश्रमः इति ।' कुछ विद्वानों को इस समस्त पद के प्रयोग के औचित्य के सम्बन्ध में सन्देह है। इस प्रयोग में दो बातें सन्देह जनक है—(१) 'कतिपय' पद का पूर्व प्रयोग, तथा (२) 'रात्रि' शब्द को समासान्त अच् प्रत्यय की प्राप्ति ।

'कतिपयरात्रम्' समस्त पद के विषय में कुछ विद्वान् कहते हैं कि 'कतिपय' शब्द समास का उत्तर पद होना चाहिये, पूर्वपद नहीं । पाणिनि का इस विषय में सूत्र है—**'पोटायुवतिस्तोककतिपयगृष्टिधेनुवशावेहद्वष्कयणीप्रवक्तृश्रोत्रियाध्यापकधूर्तैर्जातिः'** (अष्टा० २।१।६५) । इस सूत्र में 'जाति' शब्द प्रथमा विभक्ति मे है, अतः उससे निर्दिष्ट जातिवाचक शब्द भी प्रथमा विभक्ति में ही होगा तथा उस जातिवाचक शब्द की उपसर्जना संज्ञा[1] होगी । उपसर्जन संज्ञा होने से उपसर्जन संज्ञक जातिवाचक शब्द का समास में पूर्व प्रयोग[2] होना चाहिए ।

'कतिपया रात्रयः यस्मिन् स कतिपयरात्रः तम्' यह विग्रह होने पर 'रात्रि' शब्द जातिवाचक है। अतः उसकी उपसर्जनसंज्ञा होगी और पूर्व प्रयोग प्राप्त होगा । इस प्रकार समस्त पद में पूर्वपद 'रात्रि' तथा उत्तरपद 'कतिपय' होना चाहिए था । ऐसा न होने से कुछ विद्वान् **'कतिपयरात्रम्'** के प्रयोग को अनुचित कह देते हैं । परन्तु कालिदास को इस दोष से बचने के लिए कुछ विद्वान् कहते हैं कि समासविधि तो अनित्य होती है, अतः आवश्यक नहीं कि 'रात्रि' पूर्वपद ही हो। इस प्रकार यह प्रयोग तथा मेघदूत (२३) में कालिदास द्वारा किया गया **'कतिपयदिनस्थायिहंसा'** समस्त पद का प्रयोग सिद्ध हो जाता है— **'समासविधेरनित्यत्वात्' कतिपयरात्रं सनाथीक्रियताम् आश्रम इति । कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः इति च'** —(अष्टाध्यायी की टीका प्रभा, पृ० ६१) ।

किन्तु **'कतिपयरात्रम्'** में कतिपय के पूर्व प्रयोग को समासविधि के अनित्य होने से ही उचित मान लेना युक्तिसंगत नहीं है । समासविधि के ही अनित्य हो जाने से तो फिर अनेक प्रकार की समास से सम्बन्धित अनियमितताएँ भी उचित मानी जा सकती है । अतः इन तर्कों से **'कतिपयरात्रम्'** के प्रयोग को पाणिनीय नहीं माना जा सकता ।

कुछ विद्वान् **'कतिपयरात्रम्'** के प्रयोग के विषय में एक अन्य संदेह रखते हैं। उनके अनुसार 'कतिपय' शब्द संख्यावाची नहीं है । वामन भी यही लिखते हैं—**'कतिपय-शब्दों न संख्या ।'** 'कतिपय' शब्द के संख्यावाची न होने से इस समस्त पद को **'अहः सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः'**[3] (अष्टा० ५।४।८७) सूत्र से समासान्त अच् प्रत्यय प्राप्त नहीं होता है तथा इसी कारण से **'संख्यापूर्वरात्रं क्लीवम्'** (लिंगानु-

---

१. प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् (अष्टा० १।२।४३) अर्थात् समासविधायक सूत्रों में प्रथमा विभक्ति के द्वारा निर्दिश्यमान पद 'उपसर्जन' संज्ञक है ।

२. उपसर्जनं पूर्वम् (अष्टा० २।२।३०) अर्थात् समास-प्रकरण में उपसर्जन-संज्ञक शब्दों का पूर्व-प्रयोग होता है ।

३. अहर्‌शब्दपूर्वपदक, सर्वशब्दपूर्वपदक, एकदेशवाचकशब्दपूर्वपदक, संख्यातशब्दपूर्वपदक, तथा पुण्यपूर्वपदक, रात्रिशब्दान्त तत्पुरुष से भी अच् प्रत्यय होता है ।

शासन १३२) से नपुंसकलिंग भी प्राप्त नहीं होता है। 'रात्राह्नाहा: पुंसि'[1] (अष्टा० २।४।२९) से इसे पुल्लिग प्राप्त हो जाता है।

कालिदास के इस प्रयोग को उचित मान लेने वाले विद्वानों के अनुसार 'अच्' प्रत्यन्ववपूर्वात् सामलोम्नः (अष्टा० ५।४।७५) सूत्र का योगविज्ञान करने पर 'अच्' पृथक् सूत्र बनाकर 'रात्रि' शब्द को भी समासान्त अच् प्रत्यय प्राप्त हो जाता है तथा 'कतिपय रात्रम्' समस्त पद बन जाता है। सिद्धान्तकौमुदी (९४३) में लिखा है—'योगविभागादन्यत्रापि'। अष्टाध्यायी की टीका 'प्रभा' में भी योगविभाग से ही ऐसे प्रयोगों को सिद्ध किया गया है—'अच्' इति योगविभागात् पृथक् सूत्रं कृत्वा दीर्घरात्रः' 'वर्षारात्रः'। परन्तु सिद्धान्तकौमुदी की टीका 'बालमनोरमा' में वासुदेव दीक्षित इससे भिन्न मत रखते हैं। उनका कहना है कि भाष्य में 'योगविभाग' नहीं दिखाई देता है। अतः पृषोदरादिगण में रखकर ही सिद्ध करना उचित है—'वस्तुतस्तु योगविभागस्य भाष्येऽदर्शनात् पृषोदरादित्वमेवोचितम्'।

बिम्बाधरः

कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल के षष्ठ अंक में 'बिम्ब के समान अधर', इस अर्थ में 'बिम्बाधर' पुल्लिग समस्त पद का प्रयोग किया है—'बिम्बाधरं स्पृशसि चेद् भ्रमर।'

'अधरः बिम्बमिव' यह विग्रह होने पर समस्तपद अधरबिम्बम्' होना चाहिए, न कि बिम्बाधरः। इस प्रकार के समास के सम्बन्ध में पाणिनि का सूत्र है—'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्या प्रयोगे' (अष्टा० २।१।५६), जिसका अर्थ है—'उपमेयवाचक सुबन्त पद का व्याघ्रादि उपमानवाचक सुबन्त के सास तत्पुरुष समास होता है, यदि सामान्यवाचक पद का प्रयोग न हुआ हो। इस सूत्रानुसार यदि सामान्य वाचक शब्द का प्रयोग न किया गया हो तो उपमेयवाचक शब्द का व्याघ्रादिगण में गिनाए गए शब्दों के साथ समास हो जाता है।

'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' सूत्र में 'उपमित' शब्द प्रथमा विभक्ति में होने से उससे निर्दिष्ट उपमेयवाचक की उपसर्जन[2] संज्ञा होगी। उपसर्जन संज्ञा होने से 'उपसर्जनं पूर्वम्'[3] (अष्टा० २।२।३०) सूत्र से उपसर्जनसंज्ञक उपमेयवाचक पद का समास में पूर्वप्रयोग होना चाहिए।

'अधरः बिम्बमिव' में 'अधर' उपमेयवाचक पद है। अतः उसकी उपसर्जन संज्ञा होगी और तब पूर्वप्रयोग प्राप्त होगा। इस प्रकार समस्त पद 'अधरबिम्बम्' होना चाहिए, बिम्बाधरः नहीं। इन्हीं कारणों से कुछ विद्वान् 'बिम्बाधर' पुल्लिग शब्द के प्रयोग को अपाणिनीय मानते हैं।

कुछ विदान् कालिदास के इस प्रयोग को पाणिनीय सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। उनके विचार से, 'बिम्बाधरः' की व्युत्पत्ति होगी—बिम्बेन तुल्यः = बिम्बतुल्यः। बिम्बतुल्यः अधरः = बिम्बाधरः। इस प्रक्रिया में 'तुल्यः' (जो कि उत्तर पद है) का लोप हो जाता है। अतः यहाँ पर शाकपार्थिव शब्द के समान

---

१. रात्र, अहन्, एवम् अह—इन कृतसमासान्त शब्दों की पुल्लिग होती है।

२. 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' (अष्टा० १।२।४३) अर्थात् समास विधायक सूत्रों में प्रथमा-विभक्ति के द्वारा निर्दिश्यमान पद उपसर्जन संज्ञक है।

३. समासप्रकरण में उपसर्जन संज्ञक शब्दों का पूर्व प्रयोग होता है।

ही उत्तरपदलोपी समास[1] है। वामन भी इस मत से सहमत है। अन्तर केवल इतना है कि वामन इसे उत्तरपदलोपिसमास न कहकर मध्यमपदलोपिसमास कहते हैं—**'बिम्बाधर इति वृत्तौ: मध्यमपदलोपिन्याम्' (काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति ५।२।१५)**। वस्तुतः मध्यमपदलोपी अथवा उत्तरपदलोपी समास कह देने से **'बिम्बाधरः'** पद को सिद्ध तो किया जाता है, परन्तु यह तर्क सशक्त नहीं है। यदि **'पुरुषव्याघ्रः'** तथा **'व्याघ्रपुरुषः'** दोनों ही रूप स्वीकार कर लिये जायें तो **'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे'** सूत्र निरुद्देश्य हो जाता है, क्योंकि भट्टोजि दीक्षित ने इस सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट कर दिया है कि यह सूत्र विशेष्य-वाचक पद को समास में पूर्वपद बनाने के लिए ही है—**विशेष्यस्य पूर्वनिपातार्थं सूत्रम्' (सि० को० ७३५)**। अतः उत्तर पदलोपी समास के सन्दर्भ में उन समासों को हटा देना चाहिए जो अन्य प्रकार से सिद्ध कर दिए गए हों।

कुछ विद्वानों का विचार है कि उत्तरपद के लोप से बने हुए **'बिम्बाधरः'** समस्त पद कों भी उचित स्वीकार कर लेना चाहिए, परन्तु यह मत उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि **'बिम्बतुल्यः अधरः बिम्बाधरः'** तथा **'अधरः बिम्बमिव अधरबिम्बम्'** इन दोनों के भाव में भी भिन्नता है।

कुछ अन्य विद्वान् कहते हैं कि व्याघ्रादिगण में 'बिम्ब' शब्द के न होने से **'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे'** सूत्र से यहाँ समास प्राप्त नहीं हो सकता। परन्तु यह तर्क भी निराधार है, क्योंकि व्याघ्रादिगण को आकृतिगण कहा गया है तथा आकृतिगण कह देने से गण में न गिनाए गए उन शब्दों का भी समावेश हो जाता है जिनकी आकृति गण में कहे गए शब्दों के समान हो। अतः बिम्ब शब्द को व्याघ्रादि-गण में माना जा सकता है तथा नियमानुसार समास होकर **'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे'** सूत्र से **'अधर'** पद को पूर्वपद बनाकर **'अधरबिम्बम्'** ही उचित रूप बनता है।

———

१. **'समानाधिकरणाधिकारे शाकपार्थि वादीनामुपसंख्यानमुत्तरपदलोपश्च' (अष्टा० २।१।६०) अर्थात् समानाधिकरण समास के अधिकार में 'शाकपार्थिव' आदि शब्दों में अपेक्षित समास का भी समावेश तथा उत्तरपद का लोप भी समझना चाहिए।**

'प्रसन्नराघव' नाटक का हिन्दी-काव्यों (रामचरितमानस तथा रामचन्द्रिका) पर प्रभाव

डॉ० विनोदचन्द्र विद्यालङ्कार

रामकथा को आधार बनाकर अपनी काव्यमंदाकिनी को 'प्रसन्नराघव' नाटक के रूप में प्रवाहित करने वाले पीयूषवर्ष जयदेव का संस्कृतसाहित्य में अन्यतम स्थान है। काव्यवैशिष्ट्य, नूतन कल्पनाओं, एवं नवीन प्रसङ्गों के कारण यह नाटक इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि उत्तरवर्ती हिन्दी-कवियों ने भी इसका पर्याप्त अनुकरण किया। कईं स्थलों पर लगभग इन्हीं गद्य-पद्यों को अनुवाद करके ग्रहीत कर लिया गया है। इस दृष्टि से महाकवि तुलसी के रामचरितमानस और केशव की रामचन्द्रिका पर इनका विशेष प्रभाव देखा जा सकता है। यहाँ हम इन प्रभावों को दर्शाने का प्रयास कर रहे हैं।

रामचरितमानस पर प्रभाव

गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा रचित रामचरितमानस नामक महाकाव्य हिन्दी-साहित्य का अमूल्य ग्रन्थ है। कवि ने आदिकाव्य वाल्मीकिरामायण तथा अपने पूर्ववर्ती अन्य संस्कृत-ग्रन्थों से प्रेरणा लेकर ही रामकथाश्रित इस काव्यरत्न की रचना की है। इस काव्य पर पीयूषवर्ष जयदेव के प्रसन्नराघव नाटक का विशिष्ट प्रभाव है। मानस में वर्णित राम-सीता के हृदय में उत्पन्न पूर्वानुराग, सीता-स्वयंवर, लक्ष्मण-परशुराम-संवाद आदि के प्रसङ्ग कवि ने प्रसन्नराघव से ही ग्रहण किये हैं। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक स्थलों पर भी इस नाटक की अमिट छाप दृष्टिगोचर होती है।

वाटिका भ्रमण

प्रसन्नराघव में राम और लक्ष्मण मिथिलापुरी में पहुँच मुनि विश्वामित्र की पूजा-हेतु कुसुमावचयनार्थ पुष्पवाटिका में जाते हैं, जो मधुमास के अवतार से नितान्त रमणीय हो रही है। मानस में भी वाटिका के मधुमासलक्ष्मी से लुभावनी होने का संकेत किया गया है[1]। दोनों ही काव्यों में उस वाटिका में विद्यमान एक मनोरम सरोवर का वर्णन है[2]। प्रसन्नराघव में भ्रमण करते हुए राम को उस उपवन में नूपुर के शब्द सुनाई पड़ते हैं, जिन्हें सुन वे सोचते हैं कि अवश्य ही कोई पुरांगना आ रही है, जिसके चरणों के सलील संचार से मणिनूपुर बज रहे हैं। मानस के राम कनक-किंकिणियों वाले नूपुरों की ध्वनि सुन यह कल्पना करते हैं कि क्या कामदेव विश्वविजय के लिए दुन्दुभि बजा रहे हैं[3]।

तभी दोनों काव्यों के राम को रघुवंशियों की परस्त्री-अदर्शन विषयक मर्यादा का स्मरण हो आता है :

१. प्र०, पृ० ९४; मानस, बाल० २२६·२
२. प्र०, पृ० ९८; मानस, बाल० २२६·४
३. प्र०, पृ० ९८-९९; मानस, बाल० २२९·१



प्रसन्न०—तदलमस्माकमितोऽवलोकनेन परस्त्रीति शङ्कापि संकोचाय रघूणाम् । पृ० ६६

मानस—रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ । मनु कुपंथ पगु धरइ न करऊ ।

मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी । जेहिं सपनेहुँ परनारि न हेरी ।। बाल० २३०.३

किन्तु नेपथ्य से 'ये राजकुमारी हैं' ऐसा सुन वे उसे सहर्ष देखते हैं तथा उसके सौन्दर्य का चित्रण करते हैं। प्रसन्नराघवकार ने सीता को कामदेव के क्रीडाभवन की दीपिका कहा है, तो तुलसीदास ने छविगृह की दीपशिखा से उपमा दी है ।

प्रसन्न०—कामक्रीडाभवनवलभीदीपिकेवाविरस्ति । २·७

मानस—सुंदरता कहुँ सुंदर करई । छबिगृह दीपसिखा जनु बरई ।। २२९·४

राम के नयन सीता के मुखचन्द्र के चकोर हो जाते हैं :

प्रसन्न०—कलेव चान्द्री नवनीरदानां चकोरवन्मां मुदितं करोति । २·१३

मानस—सिय मुख ससि भए नयन चकोरा । बाल० २२९·२

स्वयंवर

राम और लक्ष्मण को देख जनक विश्वामित्र से कहते हैं कि इन दोनों में तो आत्मा और परमात्मा के समान कोई आन्तरिक सामीप्य प्रतीत हो रहा है :

एतयोः प्रकृतिरम्यरूपयोरुल्लसत्सहजसौहृदश्रियोः ।

आन्तरः स्फुरति कोऽपि सन्निधिः प्रत्यगात्मपरमात्मनोरिव ।। प्र० ३·२०

तुलसी ने भी इनके लिए ब्रह्म और जीव की ही उपमा दी है :

सुनहु नाथ कह मुदित बिदेहू । ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू ।। बाल० २१६·२

प्रसन्नराघव की भाँति मानस में भी स्वयंवर के समय विविध द्वीपों से राजाओं, बाणासुर और रावण के आने तथा धनुष उठाने में असफल होने का उल्लेख किया गया है ।

प्रसन्नराघव में कहा गया है कि बाणासुर की भुजाओं से शिव जी का धनुष उसी प्रकार विचलित नहीं हुआ जैसे कामातुर व्यक्तियों के वचनविन्यासों से सती का मन । मानस में भी यही उपमा दी गई है ।

प्रसन्न०—बाणस्य बाहुशिखरैः परिपीड्यमानं

नेदं धनुश्चलति किञ्चिदपीन्दुमौलेः ।

कामातुरस्य वचसामिव संविधानैः

अभ्यर्थितं प्रकृतिचारु मनः सतीनाम् ।। प्र० १·५६

मानस—भूप सहस दस एकहि बारा, लगे उठावन टरइ न टारा ।

डगइ न संभु सरासनु कैसें, कामी बचन सती मनु जैसें ।। बाल० २५०·१

परशुराम-प्रसङ्ग

तुलसी ने भी धनुभँग के अनन्तर कुपित भार्गव को मिथिला में ही उपस्थित किया है । वे भी प्रारम्भ में राम के सौन्दर्य को कामदेव से बढ़कर बतलाते हैं[4] ।

४. प्र० ४·१४; मानस, बाल० २६८·४

जब भार्गव राम पर कुपित होते हैं तो राम अपनी निर्दोषता सिद्ध करते हुए कहते हैं कि अतिशय जीर्ण होने के कारण यह धनुष मेरे स्पर्शमात्र से ही भग्न हो गया, मैं क्या करूँ ? मानस में इसी बात को लक्ष्मण ने कहा है[५]। प्रसन्नराघव की भाँति मानस में भी लक्ष्मण अपने व्यंग्योक्तिपूर्ण वाग्बाणों द्वारा भार्गव को अपमानित करते हैं। तब राम कोपाविष्ट भार्गव को नम्रतापूर्वक शान्त करने का प्रयत्न करते हुए कहते हैं कि इस दुधमुहे बालक पर कठोर क्रोध न करें। राम का यह कथन भार्गव की क्रोधाग्नि में घृत का काम करता है और वे कहते हैं कि यह दुधमुँहा नहीं, अपितु विषकंठ है।

प्रसन्न०—

रामः—अलमिह क्षीरकण्ठे कठोरकोपतया, तत्क्षम्यताम्।

जामदग्न्यः—आः, किमुच्यते क्षीरकण्ठ इति। विषकण्ठः खल्वसौ। पृ० २१८

मानस—

(i) नाथ करहु बालक पर छोहू। सूध दूधमुख करिअ न कोहू॥

(ii) कालकूटमुख पयमुख नाहीं॥ बाल० २७६·१,४

दोनों ग्रन्थों में भार्गव पर यह व्यङ्ग किया गया है कि आपके साथ हम क्षत्रियों की क्या तुलना ? हमारा शस्त्र धनुष तो एक गुण वाला है और आपका बल यज्ञोपवीत नौ गुणों वाला है :

प्रसन्न०—यस्मादेकगुणं शरासनमिदं सुव्यक्तमुर्वीभुजा-
मस्माकं भवतां पुनर्नवगुणं यज्ञोपवीतं बलम्॥ ४·२५

मानस—हमहिं तुमहिं सरवर कस नाथा। कहहु न कहां चरण कहं माथा।
देव एक गुन धनुष हमारे। नवगुन परम पुनीत तुम्हारे॥ बाल० २८१·३–४

अशोकवाटिका-वृत्त

अशोकवाटिका में सम्पन्न रावण-सीता-संवाद में भी पर्याप्त साम्य पाया जाता है। रावण सीता से अपनी ओर एक बार देखने का आग्रह करता है तथा उसे प्राप्त करने हेतु मन्दोदरी आदि रानियों को भी त्याग देने का वचन देता है[६]। किन्तु सीता उसकी उपेक्षा करती हुई कहती है कि क्या जुगनू की चमक से भी कमलिनी खिलती है[७]। इस पर रावण कोपाविष्ट हो सीता को मार डालने के लिए खड्ग निकाल पुनः प्रणयनिवेदन करता है। किन्तु सीता साहसपूर्वक उसे धिक्कारती हुई कहती है—

विरम विरम रक्षः किं मुधा जल्पितेन
स्पृशति नहि मदीयं कण्ठसीमानमन्यः।
रघुपतिभुजदण्डादुत्पलश्यामकान्ते-
र्दशमुख ! भवदीयान्निष्कृपाद्वा कृपाणात्॥ प्र० ६·३०

मानस की सीता भी इन्हीं शब्दों में अपने प्रण का बखान करती है—

---

५. प्र० ४·२१; मानस, बाल० २७१·२

६. प्र० ६·२८; मानस, सुन्दर० ८·२,३

७. प्रसन्न०—'अपि खद्योतभासापि समुन्मीलति पद्मिनी ? पृ० ३३२
मानस—सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा, कबहुं कि नलिनी करइ बिकासा॥ सुन्दर० ८·४

स्याम सरोज दाम सम सुंदर, प्रभु भुज करि कर सम दसकंधर ।
सो भुज कंठ कि तव असि घोरा, सुनु सठ अस प्रवान पन मोरा ।। मानस, सुन्दर० ९·२

तदनन्तर सीता स्वसन्तापनिवारणार्थं खड्ग को सम्बोधित कर प्रार्थना करती हैं—

चन्द्रहास हर मे परितापं, रामचन्द्रविरहानलजातम् ।
त्वं हि कान्तिजितमौक्तिकचूर्ण, धारया बहसि शीतलमम्भः ।। प्र० ६.३३

मानस में कवि ने इसी का रूपान्तर प्रस्तुत किया है—

चन्द्रहास हरु मम परितापं, रघुपति विरह अनल संजातं ।
सीतल निसित बहसि बरधारा, कह सीता हरु मम दुख भारा ।। मानस, सुन्दर ९·३

दोनों काव्यों में रावण के चले जाने पर सीता आत्मदाह के लिए त्रिजटा से अग्नि की याचना करती हैं । किन्तु त्रिजटा द्वारा वहाँ अग्नि की अप्राप्ति सूचित करने पर सीता अशोक-वृक्ष से अग्नि गिराने का आग्रह करती हैं । तभी अशोकवृक्ष पर आरूढ़ हनूमान् ऊपर से रामप्रदत्त अंगूठी सीता जी के सम्मुख गिरा देते हैं, जिसे सीता अङ्गारा समझकर उठा लेती हैं । जब सीता उस अंगूठी को देखकर आश्चर्यचकित होती हैं तभी हनूमान् आकर अपना परिचय देते हैं । सीता उससे पूछती हैं कि मनुष्य तथा वानरों के मध्य ऐसी मैत्री कैसे हो गई[८] ?

तदनन्तर हनूमान् सीता को राम द्वारा प्रदत्त सन्देश सुनाते हैं :

हिमांशुश्चंडाशुर्नवजलधरो दावदहनः
सरिद्वीचीवातः कुपितफणिनिःश्वासपवनः ।
नवा मल्ली भल्ली कुवलयवनं कुन्तगहनं
मम त्वद्विश्लेषात्सुमुखि ! विपरीतं जगदिदम् ।। प्र० ६·४३

मानस के हनूमान् द्वारा सुनाये गये राम के सन्देश भी लगभग इन्हीं भावों से ओतप्रोत हैं :

कहेउ राम वियोग तव सीता, मो कहुं सकल भए बिपरीता ।
नव तरु किसलय मनहुं कृसानू, कालनिसा सम निसि ससि भानू ।।
कुवलय बिपिन कुंत बन सरिसा, बारिद तपन तेल जनु बरिसा ।
जे हित रहे करत तेइ पीरा, उरग स्वास सम त्रिबिध समीरा ।। मानस, सुन्दर० १४·१,२

अन्य साम्य—

दोनों ग्रन्थों में विभीषण रावण को सीता के सम्बन्ध में एक जैसा परामर्श देता है । अन्तर केवल यह है कि प्रसन्नराघव में यह सन्देश पत्र द्वारा रावण के पास भेजा गया है, जब कि मानस में विभीषण ने प्रत्यक्ष वार्तालाप के समय रावण को उक्त प्रेरणा की है ।

प्रसन्न०—उदर्कभूतिमिच्छद्भिः सद्भिः खलु न दृश्यते ।
चतुर्थीचन्द्रलेखेव परस्त्रीभालपट्टिका ।। प्रसन्न० ७·१

मानस—जो आपन चाहै कल्याना, सुजसु सुमति सुभ गति सुख नाना ।
सो परनारि लिलार गोसाईं, तजउ चउथि के चंद कि नाईं ।। सुन्दर० ३७·३

---

८. प्र०, पृ० ३३९—४५; मानस, सुन्दर० ११, १२

लंकायुद्ध की समाप्ति पर प्रसन्नराघव में किये गये चन्द्रवर्णन की छाया को ग्रहण कर गोस्वामी जी ने भी उदित होते हुए चन्द्रमा का चित्र प्रस्तुत किया है। दोनों में एक ही रूपक है।

प्रसन्न०—मयूखनखरत्रुटत्तिमिरकुम्भिकुम्भस्थली–
स्खलत्तरलतारकाकपटकीर्णमुक्तागणः।
पुरन्दरहरिद्दरीकुहरगर्भसुप्तोत्थित–
स्तुषारकरकेसरी गगनकाननं गाहते ॥ ७·६१

मानस—मत्त नाग तम कुंभ विदारी, ससि केसरी गगन बनचारी।
बिथुरे नभ मुकुताहल तारा, निसि सुंदरी केर सिंगारा ॥ लंका० ११·१,२

एवं समष्टि रूप में पर्यालोचन करने पर यह परिलक्षित होता है कि तुलसीदास जी ने प्रसन्नराघव के नूतन प्रसङ्गों से प्रभावित होकर उनका अनुकरण करते हुए अधिकांश स्थलों पर जयदेव की कल्पनाओं को गृहीत किया है, तथा कहीं-कहीं उसके साथ अपनी मौलिक कल्पनाओं का भी समावेश करके रामचरित-मानस नामक काव्य-कुसुम की सुरभि को द्विगुणित किया है।

रामचन्द्रिका पर प्रभाव

हिन्दी साहित्य में रामकथा पर आधारित दूसरा काव्य, जिस पर प्रसन्नराघव की गम्भीर छाप है, तुलसीदास के समकालीन आचार्य केशव द्वारा रचित रामचन्द्रिका है। इसमें अनेक प्रसङ्गों को प्रसन्नराघव में वर्णित क्रम के अनुसार ही चित्रित किया गया है। कहीं-कहीं कवि ने जयदेव की उक्तियों में भाषान्तर-मात्र करके ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है और कहीं-कहीं भावों में स्वकीय कल्पना का पुट देकर।

डोरी के खींचने से नृत्य करती हुई हाथी दांत की शलाकाओं से निर्मित मंचरूप कठपुतली का वर्णन करता हुआ प्रसन्नराघव का मंजीरक कहता है—

नटति नरकराग्रव्यग्रसूत्राग्रलग्न–
द्विपदशनशलाकामञ्चपाञ्चालिकेयम्।
त्रिपुरमथनचापारोपणोत्कण्ठिताना-
मतिरमसवतीव क्ष्माभृतां चित्तवृत्तिः ॥ प्र० १·२८

रामचन्द्रिका में इसी प्रकार का वर्णन एक ब्राह्मण के मुख से विश्वामित्र के समक्ष करवाया गया है-—

नचति मंच पंचालिका, कर संकलित अपार।
नाचति है जनु नृपन की, चित्तवृत्ति सुकुमार ॥ रा० च० ३·१६

प्रसन्नराघव के मंजीरक और नूपुरक की भाँति यहाँ भी सुमति, विमति नामक दो बन्दीजन पारस्परिक वार्तालाप के माध्यम से स्वयंवर में उपस्थित कुछ नृपों का परिचय देते हैं। नूपुरक प्रश्न करता है—

वयस्क मञ्जीरक, कोऽयं सीताकरग्रहवासनावसन्तलक्ष्मीविलसत्पुलकमुकुलजालमण्डितं निज-भुजसहकारशाखियुगलं विलोकयंस्तिष्ठति? प्र०पृ० ४२

सुमति का प्रश्न भी इन्हीं भावों से ओतप्रोत है—

को यह निरखत आपनी, पुलकित बाहु बिसाल।
सुरभि स्वयंवर जनु करी, मुकुलित शाख रसाल ॥ रा० च० ३·१८

नूपुरक के प्रश्न का उत्तर देता हुआ मंजीरक कहता है—

स एष निजयशःपरिमलप्रमोदितचारणचञ्चरीकचयकोलाहलमुखरितदिक्चक्रवालक्ष्मापालकुन्तलालङ्कारो मल्लिकापीडो नाम । प्र० पृ० ४३

रामचन्द्रिका में विमति का उत्तर भी ऐसा ही है—

जेहि यश परिमल मत्त, चंचरीक चारण फिरत।
दिशि विदिशन अनुरक्त, सु तो मल्लिकापीड नृप ॥ रा० च० ३.१९

इसी प्रकार काश्मीरतिलक, वीरमाणिक्य, मत्स्यराज एवं सिन्धुराज का परिचय भी दोनों ग्रन्थों में समान है[९]। विशिष्ट राजाओं का चित्रण करने के पश्चात् जयदेव का मंजीरक और केशव का विमति राजा जनक के पण की घोषणा करते हैं तथा राजाओं को धनुर्भंग में असफल हुआ देख व्यंग्य कसते हैं। इन वर्णनों में भी पर्याप्त साम्य है[१०]।

प्रसन्नराघव के ही अनुकरण पर कवि ने रामचन्द्रिका के चौथे प्रकाश में बाण और रावण को स्वयंवरस्थल पर उपस्थित किया है, जिनमें परस्पर व्यङ्ग्योक्तिपूर्ण संवाद भी होता है। दोनों काव्यों का बाण शिवजी के धनुष को पर्वतराज कैलास के शिखर से भी अधिक भार वाला बतलाता है। रावण कहता है—क्या अभी तक सीता नहीं लाई गई? तब बाण उसके गर्व का उपहास करता हुआ कहता है कि शिव धनुष का आरोपण करके ही सीता को क्यों नहीं ले आते? इस पर रावण कहता है कि कमलनाल के सदृश मृदु धनुष को अपने सुदृढ़ भुजदण्डों से उठाने में भला क्या यश की बात है, जिसे सुनकर बाण रावण के अनेक मुखों को बहुप्रलाप का कारण बतलाता है। रावण बाण की भुजाओं को पुआल के भार के समान सारहीन घोषित करता है। इससे क्रुद्ध हो बाण आत्मश्लाघा करता है। इत्यादि समस्त वृत्त रामचन्द्रिका में भी है।[११]

दोनों काव्यों में सीता के साथ दो सुन्दर कुमारों की आकृति से युक्त एक चित्र का संकेत किया गया है, जिसे प्रसन्नराघव में तो महर्षि जनक की पुत्री धर्मचारिणी ने बनाया है और रामचन्द्रिका में एक त्रिकालदर्शिनी ऋषिपत्नी ने। विश्वामित्र सहित राम-लक्ष्मण के जनकपुरी पहुँचने पर उनके जनक आदि के साथ हुए वार्तालाप के प्रसङ्ग का प्रसन्नराघव के ३य अङ्क के एतद्विषयक चित्रण से साम्य है। दोनों में जनक का परिचय देते हुए मुनि विश्वामित्र उन्हें वेद, राज्यश्री तथा योगविद्या तीनों से परिपूर्ण कहते हैं:

अङ्गैरङ्गीकृता यत्र षड्भिः सप्तभिरष्टभिः।
त्रयी च राजलक्ष्मीश्च योगविद्या च दीव्यति ॥ प्र० ३·७

अङ्ग छ सातक आठक सो भव तीनिहु लोक में सिद्धि भई है।
वेदत्रयी अरु राज सिरी परिपूरणता शुभ योग मई है ॥ रा० च० ५·१९

दोनों में जनक विश्वामित्र के प्रति निम्न उद्गार प्रकट करते हैं:

यः काञ्चनमिवात्मानं निक्षिप्याग्नौ तपोमये।
वर्णोत्कर्षं गतः सोऽयं विश्वामित्रो मुनीश्वरः ॥ प्र० ३·८

---

९. प्र०, पृ० ४४–४६; रा० च० ३·२१–२७
१०. प्र० १·२९, ३१; रा० च० ३·३१, ३३
११. प्र० १·४७–६०; रा० च० ४·६–३०

जिन अपनों तन स्वर्ण, मेलि तपोमय अग्नि में ।
कीन्हों उत्तम वर्ण तेई विश्वामित्र ये ।। रा० च० ५·२०

मुनि विश्वामित्र पुनः जनक का प्रशस्तिगान करते हैं :

अवनिमवनिपालाः सङ्घशः पालयन्ता-
मवनिपतियशस्तु त्वां विना नापरस्य ।
जनक कनकगौरीं यत्प्रसूता तनूजां
जगति दुहितृमन्तं भूर्भवन्तं वितेने ।। प्र० ३·१३

रामचन्द्रिका में भी विश्वामित्र ने इन्हीं भावों का आश्रय लिया है :

आपने आपने ठौरनि तो भुवपाल सबै भव पालें सदाई
केवल नामहिं के भुवपाल कहावत हैं भुव पालि न जाई ।
भूपन की तुम ही धरि देह विदेहन में कल कीरति गाई
केशव भूषण की भवि भूषण भू-तन ते तनया उपजाई ।। रा० च० ५·२४

विश्वामित्र राम को शिव चाप के आरोपणार्थ प्रेरित करते हुए कहते हैं कि जिस धनुष से तुमने ताडका का वध किया था वह धनुष लक्ष्मण के हाथ में थमा दो :

मारीचमारीचतुरं सुबाहोपवारणम् ।
न्यस्यतां लक्ष्मणकरे ताटकाताडनं धनुः ।। प्र० ३·३२
राम हत्यो मारीच जेहि अरु ताड़का सुबाहु ।
लक्ष्मण को यह धनुष दै, तुम पिनाक को जाहु ।। रा० च० ५·३७

राम द्वारा धनुर्भंग किये जाने पर दोनों ग्रन्थों में राजा जनक शतानन्द से कहते हैं कि आपने राम को ऐसा करने से रोक क्यों नहीं दिया ?

कथं पुनरेतावतीमतिभूमिमवगाहमानोऽपि वत्सो राजभद्रो भवता न निवारितः । प्र० पृ० १८८

सतानंद आनंदमति, तुम जु हुते उन साथ ।
वरज्यो काहे न धनुष जब, तोर्यो श्रीरघुनाथ ।। रा० च० ५·४४

रामचन्द्रिका के सप्तम प्रकाश में वर्णित परशुराम के साथ हुए राम-लक्ष्मण-भरत के वार्तालाप का सम्पूर्ण प्रसङ्ग भी प्रसन्नराघव से प्रभावित है ।

धनुर्भंजक का नाम पूछे जाने पर प्रसन्नराघव में ताण्ड्यायन द्वारा 'विश्वामित्र के यज्ञ में विघ्नरूप सुबाहु, मारीच आदि निशाचर जिसके वश में हैं' इस अर्धोक्ति से तथा रामचन्द्रिका में ऋषि वामदेव द्वारा 'रा' इतना कहे जाने पर 'रावण ने धनुर्भंग किया है' ऐसा समझ दोनों काव्यों के भार्गव कोपाविष्ट हो एक ही बात कहते हैं :

नृपशतसुकुमारकण्ठनालीकदनकलाकुशलः परश्वधो मे ।
दशवदनकठोरकण्ठपीठीकदनविनोदविदग्धतां दधातु ।। प्र० ४·६

अतिकोमल नृप सुतन की ग्रीवा दलीं अपार ।
अब कठोर दशकण्ठ के, काटहु कण्ठ कुठार ।। रा० च० ७·५

प्रसन्नराघव में लक्ष्मण परशुराम के रूप का वर्णन करते हुए उनमें वीर और शान्त रस का साक्षात् अवतार देखते हैं :

मौर्वी धनुस्तनुरियं च बिभर्ति मौञ्जीं
बाणाः कुशाश्च विलसन्ति करे सिताया: ।
धारोज्ज्वलः परशुरेष कमण्डलुश्च
तद्वीरशान्तरसयोः किमयं विकारः ।। प्र० ४·१५

रामचन्द्रिका के भरत के मन में भी इसी प्रकार की भावना उत्पन्न होती है :

कुशमुद्रिका समिधैं श्रुवा कुश औ कमंडल को लिए
कटिमूल श्रौननि तर्कसौ भृगु लात सी दरसे हिए ।
धनु बान तिक्ष कुठार केशव मेखला मृगचर्म स्यों
रघुवीर को यह देखिए रस वीर सात्विक धर्म स्यों ।। रा० च० ७·१५

इन प्रसङ्गों के अतिरिक्त अन्य अनेक स्थलों पर भी पर्याप्त साम्य पाया जाता है । मातुलगृह से वापस आने पर अयोध्या को पितृरहित देखकर भरत कैकेयी से पिता के विषय में पूछते हैं । प्रसन्नराघव-ने उनके उत्तर-प्रत्युत्तर को निम्न एक ही श्लोक में सरयू के द्वारा प्रस्तुत करवाया है :

मातस्तातः क्व यातः ? सुरपतिभवनं, हा कुतः ? पुत्रशोकात्
कोऽसौ पुत्रश्चतुर्णां त्वमवरजतया यस्य जातः, किमस्य ?
प्राप्तोऽसौ काननान्तं, किमिति ? नृपगिरा, किन्तथाऽसौ बभाषे ?
मद्वाग्बद्धः, फलन्ते किमिह ? तव धराऽधीशता, हा हन्तोऽस्मि ।। प्र० ५·१८

रामचन्द्रिका के भरत-कैकेयी वार्तालाप में सी इन्हीं भावों की झलक दृष्टिगोचर होती है—

मातु कहां नृप ? तात गये सुरलोकहि, क्यों ? सुत शोक लये ।
सुत कौन सु ? राम, कहां हैं अबै ! बन लच्छमन सीय समेत लये ।।
बन काज कहा कहि ? केवल मों सुख, तोको कहां सुख यामें भये ?
तुमको प्रभुता, धिक तोको कहा अपराध बिना सिगरेई हये ।। रा० च० १०·४

दोनों ही काव्यों में राम द्वारा वल्कल के अंचल से सीता की और सीता द्वारा अपने दृगांचल से निहारकर राम की थकावट को दूर करने का मनोरम वर्णन किया गया है[१२] । दोनों में ही सीता के वियोगानल से तप्त राम की आकुलता का कारुण्यपूर्ण चित्रण मिलता है । प्रसन्नराघव में राम चकोर से सीता का पता पूछते हैं :

तस्मै विदेहतनयावदनं निवेद्य
भ्रातश्चकोर ! कुरु मां चरितार्थवृत्तिम् ।

१२. प्र० ५·२८; रा० च० ६·४४

पीता यदीयकमनीयकपोलकान्ति:
कान्तासखेन भवता शशिनं विहाय ।। प्र० ६·३

केशव के राम द्वारा चकोर के प्रति किये गये निवेदन में भी ये ही भाव हैं—

शशि को अवलोकन दूर किये, जिनके मुख को छवि देखि जिये ।
कृत चित्त चकोर कछूक धरो, सिय देहु बताय सहाय करो ।। रा० च० १२·४०

प्रसन्नराघव के अनुकरण पर रामचन्द्रिका में भी सीता प्राणत्याग हेतु अशोकवृक्ष से अग्निकण की याचना करती है। इस पर अवसर पा राम के दूत हनुमान् ऊपर से राम-प्रदत्त मुद्रिका सीता के समक्ष गिरा देते हैं, जिसे अग्नि समझ सीता उठा लेती है, और उस मुद्रिका से राम-लक्ष्मण का कुशल-वृत्त पूछती हैं[१३]। तदनन्तर हनूमान् को सम्मुख आया देखकर सीता उससे नर-वानरों की मैत्री का रहस्य पूछती है।

इस प्रकार दोनों काव्यों का तुलनात्मक विवेचन करने से स्पष्ट है कि केशव रामचन्द्रिका के अनेक प्रसङ्गों के लिए जयदेव के ऋणी हैं।

———

१३. प्र०, पृ० ३४३; रा० च० १३·८६

बाणभट्ट में काव्य-बिम्ब

कु० अनीता गर्ग

बिम्ब कवि के जीवनगत अनुभवों, संस्कारों तथा परिवेश का पुनः सृजन है। ये मानसचित्र कवि की स्वानुभूति को हृदयङ्गम करने तथा रुचि, विचार-परम्परा की प्रतिक्रिया से बनते हैं; जिन्हें सहृदय पाठक की ग्रहणशीला सह-संवेदना ऐन्द्रिय सम्बन्ध पाकर कवि की कल्पना एवं भावों को सहज ही चित्र रूप में ग्रहण कर लेती है। बिम्ब किसी प्रतीक, रूपक, उत्प्रेक्षा, औपम्यमूलक तथा सादृश्यविधायक अलङ्कारों, अप्रस्तुत उपमानों, केवलमात्र शब्द अथवा वाक्य से भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इनका क्षेत्र हमारी पांचों इन्द्रियों में से चाक्षुष, श्रावण, घ्राण, आस्वादपरक तथा स्पार्शन किसी भी विषय से सम्बन्धित हो सकता है।

बिम्ब अंग्रेजी के 'इमेज' शब्द का वाचक है।[1] बिम्ब एक प्रकार का ऐन्द्रिय शब्द चित्र है[2] जो किसी पदार्थ के साथ विभिन्न इन्द्रियों के सन्निकर्ष से प्रमाता के चित्त में उद्बुद्ध हो जाता है।[3]

बाणभट्ट का काव्य वर्णन-प्रधान है; उसमें बाण के अनुभवों से गृहीत बिम्ब सभी वर्णनों में परिलक्षित होते हैं। बाण के काव्य में सर्वत्र ही ऐन्द्रिय संवेदन देखे जा सकते हैं। ये ही बिम्बों के प्रत्यक्षीकरण के प्रमुख साधन होते हैं। संवेदनापरक बिम्ब ऐसी सामान्य अनुभूति नहीं है जिसे सर्वसंवेद्य कहा जा सके। यह पाठक की अपनी क्षमता पर निर्भर करता है कि वह किस सीमा तक संवेदना को ग्रहण कर सकता हैं। कवि के बिम्बों के साथ-साथ पाठक के व्यक्तिगत अनुभव एवं संस्कार प्रत्यक्षीकरण को परिपुष्ट करने में सहायक होते हैं।

दृश्य, श्रव्य, स्पृश्य, घ्रातव्य और आस्वाद्य ऐन्द्रिय बिम्बों में चाक्षुष बिम्ब का विशिष्ट स्थान है क्योंकि इनका स्वरूप सबसे अधिक स्पष्ट होता है तथा इनका नेत्रेन्द्रिय से सीधा सम्बन्ध होने के कारण ये पदार्थों को मूर्त रूप देने में सक्षम होते हैं। बाण के काव्य में चाक्षुष बिम्बों की अधिकता है। सांध्यकालीन चित्रण, वस्तु, सागर, सरोवर, रूपचित्रण इत्यादि में बाण के दृष्टि बिम्ब देखे जा सकते हैं। श्यामल वर्ण की चाण्डाल कन्या के रूप का चित्रण पाठकों को सशक्त दृष्टि-बिम्ब देता है। उसकी देहयष्टि पाठकों के समक्ष मूर्त रूप में उपस्थित हो जाती है :—

"श्याम वर्ण वाली चाण्डाल कन्या जो पैर की गाँठ तक लटके हुये नीले कञ्चुक से ढके शरीर वाली और ऊपर लाल वस्त्र से बनाये हुये अवगुण्ठन वाली (अतः) मानों नील-कमल की भूमि थी; जिस

1. Sir M. Monier Williams : **Sanskrit English Dictionary, Page 731.**
2. "The poetic image is a more or less sensuous picture in words,to some degree metaphorical with an undernote of some human emotion in its context but also charged with and releasing into the reader a special poetic emotion or passion.......C. D. Lewis : **The Pcetic Image, Page 22.**
३. डा० नगेन्द्र : **काव्य-बिम्ब, पृ० ५।**

को आती हुई इन्द्राणी के लिए अपने शरीर को सीढ़ी रूप में परिवर्तित करने की मेघ से प्रार्थना की गई है।[२२]

जिनसेन का जिनभक्ति में अटूट विश्वास है। नागराज धरणेन्द्र तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की स्तुति करते हुए कहते हैं—हे भगवान् ! आपके विषय में थोड़ी भी भक्ति विपुल पुण्य को उत्पन करती है।[२३] भक्ति के प्रभाव से मुझे पत्नी के साथ यह कठिनाई से प्राप्त करने योग्य (दुर्लभ) नागेन्द्र पद प्राप्त हुआ और जिसके माहात्म्य से भक्ति के अनुकूल आचरण करने के लिये मैं विहार छोड़कर रत्नत्रय के धारी भगवान् ऋषभदेव के मन्दिर के शिखर से युक्त उस कैलाशपर्वत से लौटा हूँ।[२४] वह (धरणेन्द्र पद को प्रदान करने वाली) भक्ति आपकी सेवा करती हुई मेरे कल्याण के लिए हो। हे देव ! उत्तम सम्पदा को देती हुई यह आपके चरणों की भक्ति इस जन्म में और परलोक में भी मेरे लिए सब प्रकार से सुखदायी हो।[२५] इस प्रकार पश्चात्तापयुक्त हृदय वाला शम्बरासुर भगवान् के प्रति अपने हार्दिक उद्‌गार को व्यक्त करता है—हे भगवन् ! राशीभूत अथवा विनश्वर मेघ शब्द नहीं करके भी जैसे चातकों को जल देता है, उसी प्रकार प्रार्थना किए जाने पर मौन को धारण किए हुए भी आप हम लोगों को अभीष्ट कल्याण प्रदान करते हैं। यदि भव्यजीवों के एकमात्र मित्र आपसे भक्त इष्टफल निश्चित रूप से प्राप्त करता ही है तो अच्छा है अर्थात् यदि आप मौन होकर भी कुछ देते हैं और भक्त इष्टफल प्राप्त करता ही है तो आपका मौन श्रेयस्कर है। कल्पवृक्ष क्या संसार के लिए शब्दों से (उत्तरों से) फलते हैं ? याचकों के अभीष्ट प्रयोजन का सम्पादन करना ही सज्जनों का उत्तर होता है।[२६] प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखने वाले ! विनम्र होकर मैं तुमसे आज दीनता सहित याचना करता हूँ। सौहार्द्र से अथवा पाप से भयभीत या दुःखाकुल होने से अथवा मेरे प्रति अनुकम्पाभाव रखकर अशरण, निर्दय, अत्यन्त प्रौढ़ माया युक्त, दुष्टाभिलाषी (एवं) पश्चात्ताप के कारण चरणों में गिरे हुए मुझे पापरहित करो।[२७] हे मुनि मित्र पार्श्वजिनेन्द्र ! भक्ति से चरणों में झुके हुए मेरे भगवान् के चरण कमलों के प्रसाद से मूढता के कारण न्याय का उल्लंघन किए हुए मैंने जो वाणी से अनेक प्रकार की चेष्टा की वह मिथ्या हो, निन्दितात्मा मेरे पापकर्म भी मिथ्या हों। इस प्रकार क्षणभर भी मेरा आत्मस्वरूप ज्ञान से वियोग न हो।[२८]

उपर्युक्त विवरण से भक्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—

१. थोड़ी सी भी जिनभक्ति बहुत पुण्य उत्पन्न करती है।

---

२२. मेघदूत १/६०, पार्श्वा० २/७६

२३. श्रेयस्सूते भवति भगवन्भक्तिरल्पाप्यनल्पम् ॥ पार्श्वा० ४/५४

२४. पार्श्वा० ४/५५

२५. वही ४/५६

२६. वही ४/६०, ६१

२७. वही ४/६३

२८. पार्श्वा० ४/६५

२. भक्ति उत्तम सम्पदा को देने वाली और कल्याणकारिणी होती है। वह इस लोक और परलोक में सुखदायक होती है।

३. भक्ति का फल स्वतः प्राप्त होता है।

४. भक्ति जीवों को पापरहित करती है।

५. भगवान् से प्रार्थना करते समय व्यक्ति यह भावना करता है कि क्षणभर के लिए भी उसका आत्मस्वरूप ज्ञान से वियोग न हो।

पार्श्वाभ्युदय में दो प्रकार के तपों का चित्रण प्राप्त होता है (१) सांसारिक आकांक्षा की पूर्ति के लिए किया गया तप, (२) कर्म के क्षय के लिए किया गया तप। इन दो तपों में से जैन धर्म में दूसरे प्रकार के तप को स्वीकार किया गया है; क्योंकि पहले तप का प्रयोजन संसार है और दूसरे तप का प्रयोजन मोक्ष है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया, तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते।
भवान् पुनः जन्मजराजिहासया त्रयीप्रवृत्तिं समधीरनारुणत् ।।

हे भगवन्! कितने ही सन्तान प्राप्त करने के लिए, कितने ही धन प्राप्त करने के लिए तथा कितने ही मरणोत्तरकाल में प्राप्त होने वाले स्वर्गादि की तृष्णा से तपश्चरण करते हैं, परन्तु आप जन्म और जरा की बाधा का परित्याग करने की इच्छा से इष्टानिष्ट पदार्थों में मध्यस्थ हो मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को रोकते हैं। पार्श्वाभ्युदय में इस प्रकार के तप का आचरण करने वाले भगवान् पार्श्व हैं, जिनके सामने कठिनाई के पहाड़ उपस्थित होते हैं, फिर भी जो जरा भी विचलित नहीं होते हैं, फलतः शम्बरासुर को विफल प्रयास होना पड़ता है।[२९] इसके विपरीत कमठ मन से[३०] तपस्या करता है। अपने भाई की पत्नी इत्वरिकातुल्य वसुन्धरा से अलग हुआ वह शुष्क वैराग्य के कारण जिसका तलभाग पत्थरों से ऊँचा नीचा था, जिसके प्रदेश दावाग्नि से दग्ध थे, जहाँ वृक्ष शुष्क होने के कारण उपभोग के योग्य नही थे, अनेक प्रकार के काँटों से वेष्टित होने के कारण जो गमन करने योग्य नहीं थे, ऐसे भूताचल पर गर्मी के दिन बिताता है।[३१] इतना सब करने के बाद भी उसका अपने भाई के प्रति वैर शान्त नहीं होता है और वह भगवान् पार्श्व पर तरह-तरह के उपसर्ग करता है, अतः कमठ के जन्म में किया गया तप उसकी आत्मप्राप्ति में कुछ भी सहायक नहीं होता है।

भारतवर्ष के साहित्य की एक प्रमुख विशेषता कर्म तथा उसके फल में विश्वास है। प्रत्येक पुरुष

---

२९. पार्श्वा० ४/४५

३०. पार्श्वा० १/३

३१. यस्मिन् ग्रावास्थपुटिततलोदावदग्धाः प्रदेशाः।
शुष्का वृक्षा विविधवृतयो नोपभोग्या न गम्याः ।।
यः स्म ग्रैष्मान् नयति दिवसान् शुष्कवैराग्यहेतोः।
तस्मिन्नह्नो कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी ।। पार्श्वा० १/५

को अपने कर्म का शुभाशुभफल भोगना पड़ता है।[३२] यहाँ के समस्त शास्त्र बंधन से मुक्त होने का उपाय बतलाते हैं। पार्श्व पर किया गया शम्बरासुर का उपसर्ग उनके पूर्वकृत कर्मों का फल था, जिसे तीर्थङ्कर होने पर भी उन्हें भोगना अनिवार्य था। उनकी साधना बन्धन से मुक्त होने का उपाय थी। पार्श्वाभ्युदय का मेघ सांसारिक बाह्य आकर्षण का प्रतीक है। इस आकर्षण से सभी सांसारिक प्राणी आकर्षित होते हैं। शम्बरासुर चाहता है कि बाह्य आकर्षण में पड़कर पार्श्व अपनी तप साधना को भूल जाएँ। अतः मेघ के माध्यम से सारे सांसारिक आकर्षणों, सृष्टि की उमङ्गों, तरङ्गों, कोमल संवेदनाओं और अभिलाषाओं को सामने रखता है। उज्जयिनी और अलका की बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं, उद्यानों, दीर्घिकाओं, पण्यस्थलों, मनोहर अङ्गनाओं, रास्ते के उद्दाम प्राकृतिक दृश्यों और लुभावनी वस्तुओं के ललित वर्णनों के बीच पार्श्व के हृदय में शान्ति और निरासक्ति की एक अपूर्व आह्लादमयी धारा है। आत्मा में निरन्तर जागरण का कार्य चल रहा है और इस जागरण का फल यह होता है कि उसकी शक्ति से अनुपमेय दिव्य सुखों में लीन धरणेन्द्र जैसे देवों के आसन भी कम्पायमान हो जाते हैं। शत्रु को पलायमान होना पड़ता है। उसे अपनी भूल मानकर हृदय से क्षमा-याचना करनी पड़ती है। इस प्रकार एक अपूर्व विजय की प्राप्ति होती है। अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग शत्रुओं का अब नाश हो गया है। जो कुछ भोगना था, वह भोग लिया। अब कुछ भोगना बाकी नहीं रहा। संसार के सारे आकर्षणों का अन्त आ गया और आत्मा में अपूर्व सुख की धारा बह रही है। संसार के सभी प्राणी ऐसी महान् आत्मा के गुणानुवाद अथवा नाममात्र लेने से भवोच्छेदन की आशा बाँध रहे हैं। भक्ति के रस का संचार हो रहा है। इस प्रकार पार्श्वाभ्युदय के बाह्य रूप की अपेक्षा उसका आन्तरिक रूप करोड़ों गुना अत्यधिक महत्त्व रखता है।

शम्बरासुर और पार्श्व का संघर्ष इन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रियज्ञान के बीच का संघर्ष है। शास्त्रकारों ने कहा है कि इन्द्रिय के द्वारा जो जानकारी प्राप्त होती है वह तुच्छ है, अतीन्द्रियज्ञान से जो जानकारी प्राप्त होती है, वह विपुल है, पूर्ण है। एक में असमग्रता है, दूसरे से समग्रता है। असमग्र को सब कुछ मानने वाला संसार की ऊपरी चाकचिक्य में ही रमण करता है, उसे चाहिए बाह्य प्रकृति का मनोरम वातावरण, काम का उद्दाम वेग और उसकी पूर्ति का साधन सुन्दर ललनायें अथवा पुरुष। दूसरी ओर समग्रता की आराधना करने वाला इन वस्तुओं को वैराग्यशील भिक्षु की निगाहों से देखता है, उसकी दृष्टि में ये सब वस्तुएँ और मनोभावनायें बाह्य हैं, शारीरिक हैं, मूर्तिमान हैं क्षणभंगुर हैं। इन सबके बीच में जो अमूर्तिक आत्मा विद्यमान है वह उसकी खोज करता है। काम, क्रोध, मद आदि के आवेश से उस आत्मत्व की उपलब्धि नहीं हो सकती है। कहा भी है—

मदेन मानेन मनोभवेन क्रोधेन लोभेन ससम्मदेन।
पराजितानां प्रसभं सुराणां वृथैव साम्राज्यरुजा परेषाम्॥

शम्बरासुर काम, क्रोध और मद से युक्त है। उसकी दृष्टि सरागी है, अतः इन्द्रिय प्रत्यक्ष से उसे

---

३२. स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा।
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्॥

जो अनुभव हो रहा है वही उसके लिए लोभनीय अथवा अलोभनीय है। जो लोभनीय है, वह वस्तु उसके लिए राग का कारण है और जो अलोभनीय है, वह वस्तु उसके द्वेष का कारण है। राग और द्वेष ये दोनों संसार को छोड़ने के लिए विसर्जित करने पड़ते हैं, वीतरागी बनना पड़ता है, निश्छल समाधि की ओर बढ़ना पड़ता है। पार्श्व इसी वीतरागात्मक और निश्छल समाधि की ओर बढ़ रहे हैं, अतः इन्द्रियों के माध्यम से जो कुछ देखा जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है, उसकी तरफ इनका लक्ष्य नहीं है; क्योंकि इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति रागद्वेष की जनक है। वीतरागता के पथ के पथिक को इष्ट वस्तु के प्रति न राग है और न अनिष्ट वस्तु के प्रति द्वेष है। जहाँ राग और द्वेष है, वहाँ संसार है। संसार छोड़ने के लिए आत्मत्व का सहारा लेना पड़ेगा और अतीन्द्रियज्ञान की उपलब्धि करनी होगी। अतीन्द्रिय ज्ञान जिसके पास है, वही सच्चा योगी है। शिशुपालवध में माघ ने नारद को 'अतीन्द्रियज्ञाननिधि' कहा है।[३३] कालिदास ने पूर्वमेघ के ५५ वें श्लोक में कहा है कि शिव के चरणों में भक्ति रखने वाले करण-विगम के अनन्तर शिव के गणों का स्थिर पद प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। इस करणविगम शब्द का प्रयोग पार्श्वाभ्युदय में भी हुआ है। वहाँ कहा गया है कि अर्हन्तभगवान् के चरणचिह्नों को देखने पर जिनके पाप नष्ट हो गये है ऐसे भक्ति का सेवन करने वाले करणविगम के अनन्तर सिद्ध क्षेत्र की स्थापना करते हैं।[३४] उपर्युक्त करणविगम शब्द का अर्थ प्रायः सभी टीकाकारों ने शरीर त्याग किया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसकी नई व्याख्या की है। उनके अनुसार करणविगम का सीधासादा अर्थ है, इन्द्रियों को उल्टी दिशा में मोड़ना अर्थात् इन्द्रियों को बाहरी विषय की ओर से मोड़कर अन्तर्मुखी करना।[३५] पार्श्वाभ्युदय में पार्श्व भी करणविगम की इस प्रक्रिया में लगे हुए हैं।

———

३३. शिशुपालवध १/११

३४. पार्श्वा० २/६६

३५. हजारीप्रसाद द्विवेदी : कालिदास की लालित्य योजना, पृ० १०७

कुमारसम्भव के पञ्चम सर्ग में प्रयुक्त पार्वती के सम्बोधनों की अर्थपरक मनोवैज्ञानिकता

डा० कमलसिंह

किसी शब्द के पर्य्यायवाची कहे जाने वाले सभी शब्द पृथक्-पृथक् भाव-जगत् रखते हैं। उचित स्थल पर प्रभावी शब्द के प्रयोग का ज्ञान कुशल कवि को ही होता है। शब्द के अर्थ एवं भाव की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता का ज्ञान जितना अधिक महाकवि कालिदास को है, उतना अन्यत्र दुष्कर है। इस मनोवैज्ञानिक पकड़ का प्रयोग कालिदास ने विशेषणों में अधिक किया है। नाटकीय संवाद की सबलता के कारण तथा वक्ता के आरोपित मनोभावों के कारण अर्थपरक मनोवैज्ञानिकता संबोधनात्मक विशेषणों में अधिक उपलब्ध होती है।

परोक्षता अथवा छद्मता ही मनोभावों के प्रकाशन का मूल आधार है। इसीलिये छद्मवेषधारी शिव के द्वारा प्रयुक्त पार्वती के संबोधनात्मक विशेषणों में मनोवैज्ञानिक अर्थ की सबलता अधिक है। अर्थ के साथ-साथ प्रयोग की मनोवैज्ञानिकता भी द्रष्टव्य है।

ब्रह्मचारी के वेष में शिव के पार्वती के लिये बारह संबोधनों का प्रयोग किया है और किसी भी संबोधन की पुनरावृत्ति नहीं हुई है। हर संबोधन अपने में एक प्रासगिक अर्थ को समेटे हुये है।

३५वें श्लोक में पार्वती को **'उत्पलाक्षि'** से संबोधित किया गया है। यों तो कवि के सम्मुख नयनों के परम्परागत अनेक उपमान विद्यमान हैं किन्तु प्रस्तुत श्लोक में हरिणों के द्वारा अपने चंचल नयनों से पार्वती के नयनों की समता का अभिनय करने की बात कही गई है। फिर पार्वती को मृगनयनी कैसे कहा जा सकता है? कवि के मस्तिष्क में पार्वती के नेत्रों के उपमानों में सबसे अधिक आकर्षक बिम्ब बनाये हुये है कमल। जब पार्वती उत्पलाक्षि है तभी तो हरिण, अपने नयनों की तुलना नहीं पा रहे हैं।

३६वें श्लोक में दो संबोधनों का प्रयोग किया गया है—**'पार्वती'** तथा **उदारदर्शने'**। सामान्य कथन की ओर आकर्षित करने के लिये सामान्य संबोधन 'पार्वती' का प्रयोग हुआ है किन्तु एक विशेष भाव की मनोवैज्ञानिकता की पुष्टि के लिये 'उदारदर्शने' का प्रयोग किया गया है। प्रस्तुत श्लोक में कवि को सिद्ध करना है कि सौन्दर्य पापवृत्ति के लिये हो भी सकता है किन्तु वहाँ पापवृत्ति उस सौन्दर्य से झलक जाया करती है। पापाचरण-रहित रूप से तो शील ही प्रकट होता है। इसीलिये यहाँ 'उदारदर्शने' में कवि ने दुहरा अर्थ समाविष्ट कर दिया है। एक ओर तो पार्वती विशाल नेत्रों की होने के कारण आकर्षक सौन्दर्य से युक्त है और दूसरी ओर उन्नत ज्ञान एवं विवेकशील होने के कारण अनुकरणीय भव्य आचरण-वाली एवं शालीनता से युक्त है। उदारदर्शन वाली (सुन्दर नेत्रों वाली) होने के कारण ही तो उदारदर्शन वाली (उन्नत विवेकवाली) है। यहां रूप से आकृष्ट न होकर कामदेव को भस्म करने तथा इस समय पार्वती के विवेकयुक्त होने की ओर भी संकेत किया गया है।

३८वें श्लोक में 'भाविनि' का प्रयोग है । भाविनि का अर्थ है श्रेष्ठ अभिप्राय वाली । वह कौन सा अभिप्राय है, जिसमें शिव को श्रेष्ठता दृष्टिगत हो रही है ? यहाँ मनोवैज्ञानिकता यह है कि जब काम की भावना से पार्वती शिव के सम्मुख गई तो वह अभिप्राय श्रेष्ठ नहीं था इसीलिये शिव ने काम को भस्म कर दिया किन्तु इस समय काम और अर्थ से विरक्त होकर पार्वती जो केवल धर्म में संलग्न है, यही अभिप्राय श्रेष्ठ हैं और इसीलिये शिव आकृष्ट हुये हैं ।

३९वें श्लोक में पार्वती को 'सन्नतगात्रि' से संवोधित किया गया है । सात कदमों के चलने से ही सज्जनों के मैत्रीभाव के तथ्य को प्रकट करके शिव यहाँ मनोवैज्ञानिक रूप से पार्वती को पत्नी रूप में स्वीकार कर लेना चाहते हैं । सन्नतगात्र से जहाँ एक ओर पार्वती की सज्जनता लक्षित हो रही है वहीं दूसरी ओर स्तनों के अतिशय उभार के कारण झुके हुये अंगों वाली होने से शिव को पार्वती पत्नी के रूप में भी दृष्टिगत हो रही है ।

४०वें श्लोक में 'तपोधने' का प्रयोग है । यहाँ ब्रह्मचारी स्वाभाविक चपलता एवं उत्सुकता के कारण पार्वती से कुछ प्रश्न पूछना चाहता है । यदि कोई गोपनीय रहस्य न हो तो प्रश्नों के उत्तर में आपत्ति भी क्या है ? इस अगोपनीयता के भाव को लाने के लिये ही वह 'तपोधने' संबोधन का प्रयोग करता है । भौतिक धन एवं उसके कमाने की प्रक्रिया में रहस्य हो सकता है किन्तु तपस्या ही है धन जिसका, उसके लिये रहस्य की बात क्या हो सकती है । तपस्वी के लिये कुछ भी गोपनीय नहीं ।

अनिष्ट या अपमान के निवारण के लिए भी तप किया जाता है किन्तु हर नारी का अपमान तो नहीं किया जा सकता । और फिर पार्वती जैसी कृश उदर वाली नारी के अपमान का तो कोई औचित्य ही नहीं । इसी भाव की पुष्टि के लिए ४२वें श्लोक में 'कृशोदरि' संबोधन का प्रयोग किया गया है । 'कृशोदरि' में अप्रत्यक्ष रूप से अपनी भावी पत्नी की प्रशंसा भी निहित है । ऐसा ही भाव ४३वें श्लोक में 'सुभ्रु' संबोधन से भी प्रकट हो रहा है । इतनी सुन्दर भौंहें और पति द्वारा अपमान, कारण-कार्य का कोई संबंध नहीं । ये भौंहें तो पति को आकृष्ट करने के लिये ही हैं, जैसे कि स्वयं शिव आकृष्ट हो भी रहे हैं ।

५०वें श्लोक में 'गौरि' संबोधन का प्रयोग हुआ है, जो पार्वती का ही पर्य्यायवाची है । श्लोक में शिव अपना आधा तप पार्वती को देने की इच्छा करते हैं । अप्रत्यक्ष रूप से अर्धांगिनी बनाने का संकेत देते हैं । यहाँ पति-पत्नी के संबंधों का सामान्य धरातल झलक रहा है अतः सामान्य संबोधन का प्रयोग है । ऐसा लगता है कि दैनिक व्यवहार के लिये शिव को 'गौरी' नाम ही सर्वाधिक प्रिय है । वे भविष्य में पत्नी के रूप में पार्वती को गौरी के नाम से ही पुकारना चाहते हैं ।

६६वें श्लोक के 'अवस्तुनिर्बन्धपरे' संबोधन में प्रत्यक्ष रूप से तुच्छ वस्तुओं के प्रति हठ में लगी हुई कहा गया है । कहाँ तो विवाह में मंगलसूत्र वाला पार्वती का हाथ और कहाँ लिपटे हुए सर्पवाला शिव का हाथ ! दोनों के संयोग की हठ क्या तुच्छ नहीं है ? मनोवैज्ञानिक स्तर पर तुच्छ वस्तुओं के प्रति हठ की याद दिलाकर एक ओर तो शिव पार्वती के प्रेम की परीक्षा लेना चाहते हैं तो दूसरी ओर विवाह में पाणिग्रहण की कुण्ठा भी झलक रही है ।

'बालमृगाक्षि' संबोधन ७२वें श्लोक में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ पति के रूप में शिव के तृतीय नेत्र से रूप की विकृतता, कुल–परंपरा की अज्ञातता एवं नग्नता से धनहीनता प्रदर्शित की गई है। इस प्रकार के वर को कोई अति साधारण कन्या वरे तो कोई दुःख नहीं किन्तु मृग के बच्चे की आँखों के समान आँखों वाली गौरी का शिव के साथ क्या मेल ? 'बालमृगाक्षि' में सौन्दर्य के साथ ही साथ भोलापन भी निहित है। जो अल्हड़पन और आकर्षण 'बालमृगाक्षि' में है, वह 'मृगनयनी' में कहाँ ?

अपने वास्तविक रूप में प्रकट होकर शिव ने जाती हुई पार्वती को बाँहों में थाम लिया। इस विकट परिस्थिति में पार्वती की आन्तरिक एवं शारीरिक स्थिति क्या हो सकती है, उसीके चित्रण के लिए ८६वें श्लोक में 'अवनताङ्गि' संबोधन का प्रयोग किया गया है। स्वाभाविक लज्जा के कारण, स्तनों के उभार के कारण, पति के सम्मुख विनम्रता के कारण, अप्रत्याशित घटना से आश्चर्य के कारण झुके हुये शरीर वाली, कितना मनोवैज्ञानिक है !

———

ग्रन्थों में हिमवान् आदि पर्वतों से गङ्गा आदि नदियों का निर्गम बतलाया गया है । पार्श्वाभ्युदय में भारतवर्ष की गङ्गा आदि नदियों को उन नदियों का प्रतिनिधि कहा गया है । प्रतिनिधि होने के कारण उनमें स्नान करने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि तीर्थ के प्रतिनिधि भी पापों को नष्ट करने वाले कहे जाते हैं । मेघदूत में गङ्गा को जह्नु कन्या तथा सगरपुत्रों को जाने के लिए स्वर्ग की सीढ़ियों के रूप में चित्रित किया गया है । जैन परम्परा इन पौराणिक कहानियों का समर्थन नहीं करती है, अतः कवि ने उसे इस रूप में वर्णित किया है कि वह लौकिक रूढ़ि के अनुसार जह्नु की कन्या के रूप में प्रसिद्ध तथा सगरपुत्रों को जाने के लिए स्वर्ग की सीढ़ियों के तुल्य है । लौकिक श्रुति के रूप में स्वीकार करने पर आर्षपरम्परा से उसका कोई विरोध नहीं है । मेघदूत में गङ्गा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि गङ्गा ने पार्वती के मुख में स्थित भ्रूभङ्ग को मानो फेनों से हँसकर तरङ्ग रूप हाथों को चन्द्रमा के ऊपर लगाकर शिव के केशों को पकड़ लिया ।[१६] जैन परम्परा मानती है कि हिमवान् पर्वत के प्रपात पर गङ्गाकूट है । वहाँ भगवान् आदिनाथ की जटाजूटयुक्त प्रतिमा है, उसी के समीप गङ्गा बहती है । इसी परम्परा का पोषण करते हुए जिनसेन ने कहा है—जिस गङ्गा (हिमवान् पर्वत के पक्ष सरोवर से निकली हुई) महानदी ने तरङ्ग रूप हाथों को चन्द्रमा के ऊपर लगाते हुए श्वेतवर्ण फेनों से भौंहों की टेढ़ी रचना पर मानो हँसकर अथवा गौरवर्ण स्त्रियों के भ्रूभङ्ग पर मानो हँसकर हिमवान् पर्वत के प्रपात पर गङ्गाकूट की निवासिनी देवी की प्रतिनिधि होकर अर्हन्त भगवान् त्रैलोक्याधिपति आदिदेव के केशों को पकड़ लिया (अर्थात् जिसने भगवान् आदिनाथ की प्रतिमा के ऊपरी भागों में स्थित जटाजूटों को पकड़ लिया) उसी इस नदी को जानो अर्थात् इस नदी को उस गङ्गा महानदी के समान आदर दो ।[१७] मेघदूत में चर्मण्वती नदी को गौवों के मारने से उत्पन्न तथा पृथ्वी में प्रवाहरूप से परिणत रन्तिदेव की अकीर्ति कहा है ।[१८] पार्श्वाभ्युदय में इन्हीं विशेषणों के साथ इन्हें रन्तिदेव की अकीर्तिस्वरूप कहा गया है ।[१९] मेघदूत में किन्नरियों द्वारा त्रिपुरविजय के गीत गाने का उल्लेख है । पार्श्वाभ्युदय में त्रिपुरविजय से तात्पर्य औदारिक, तैजस और कार्मण तीनों शरीरों के विजय का गीत है ।[२०] मेघदूत में गौरी शब्द का प्रयोग पार्वती के लिए किया गया है, पार्श्वाभ्युदय में यह गौरी स्त्री अथवा ईशान दिशा के स्वामी की पत्नी के अर्थ में व्यञ्जित हुआ है ।[२१] मेघदूत में मेघ से कहा गया है कि वह शिवजी के हाथ का सहारा देने पर चलने वाली पार्वती के पैदल चलने पर भीतर जलप्रवाह को रोककर अपने शरीर को सीढ़ियों के रूप में परिणत कर दे । पार्श्वाभ्युदय में गौरी के स्थान पर देवभक्ति के कारण पूजा करने की इच्छुक जैनमन्दिर

---

१६. गौरीवक्त्रभ्रूकुटिरचना यां विहस्येव फेनैः ।
शम्भोः केशग्रहणमकरोदिन्दु लग्नोर्मिहस्ता ।। मेघदूत, १/५०

१७. पार्श्वा० १/५३

१८. कालिदास : मेघदूत १/४५

१९. पार्श्वा० २/३६

२०. मेघदूत १/५६, पार्श्वा० २/६७

२१. मेघदूत १/६०, पार्श्वा० २/७५

शिल्प कहा है। 'एतरेय ब्राह्मण' में शिल्प के सम्बन्ध में कहा गया है कि यह यजमान को छन्दोमय करता है तथा उसकी आत्मा का संस्कार करता है।

ऋग्वेद में चर्म पर अग्निदेव का चित्र बने होने का उल्लेख है।[१] एक अन्य स्थान पर ऋग्वेद में यज्ञशालाओं के चारों चौखट पर हिरण्मयी द्वार देवियों की अलंकृत आकृतियों के अंकन का उल्लेख है।[२] ऋग्वेद के उषासूक्त में उषा देवी की अतिरमणीय रूप रचना की कल्पना ऋषियों ने की है। जो नित्य प्रति नवीन सौन्दर्य से अलंकृत होकर मर्त्य प्रजाओं के लिये अमृत का दान करती हुई हिरण्यरथ में बैठकर आकाश में संचरण करती है। उस समय सभी सहृदय व्यक्ति उसकी श्री से भाव-विभोर हो जाते हैं। उसके लिये ऋषियों ने सुमेकें ? (सुन्दर शरीर वाली) चित्रा (सुन्दर वर्ण वाली या विचित्र वर्ण वाली) इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है।[३] उन सौन्दर्य प्रेमी एवं कला प्रवण ऋषियों ने रात्रि और उषा के शब्द चित्र रचे। सम्भव है उन ऋषियों ने इनका रेखांकन भी किया हो।

उपनिषदों आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों में चित्रकला—

आध्यात्मिक दृष्टि से चित्रकला का स्वरूप-विवेचन विशद भाव-रूप में प्रतिष्ठित है। परमेश्वर की यह सम्पूर्ण सृष्टि एक कृति एवं अभिव्यक्ति है। उसकी इस विशद शक्तिकला में सत्यं, शिवं, सुन्दरम् इन त्रिविध गुणों का समावेश है। उसकी कला सत्य, शाश्वत और आनन्दमयी है। परब्रह्मरूपी कलाकार ने अपनी विशद कला कृति का निर्माण हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे के रूप में किया।[४] भारत कला भवन में हिरण्यगर्भ का एक दुर्लभ चित्र बसांहली शैली में है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में कला की आत्मा रस का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया गया है, यथा रस्यन्ते इति रसा:-अर्थात् जिनका रसास्वादन किया जाय वे रस हैं।[५]

कठोपनिषद् में कहा गया है कि रूप का धर्म है प्रतिबिम्बित होना, कल्पित होना, छन्दित होना और छाया-आतप में प्रकट होना।[६] भारतीय संस्कृति में कला का लक्ष्म परमतत्त्व की प्राप्ति है। वृहदारण्यक उपनिषद् का कथन है कि विश्वकला का समस्त शिल्प इन्हीं देव शिल्पियों की अनुकृति मात्र हैं। इस प्रकार हम उपनिषदों का जितना भी मंथन करते हैं, उतनी ही कला रत्नों की उनमें प्राप्ति होती है। यह तो सर्वविदित ही है कि इन उपनिषदों में 'वेदों' का सारतत्त्व है। श्रीमद्भगवद्गीता इन उपनिषदों का निचोड़ है, जिसके प्रणेता षोडश कलाओं के ज्ञाता भगवान् श्रीकृष्ण है।

---

१. ऋग्वेद १/१४५/५
२. " १/५/५
३. उषा सूक्त १/११३
४. ऋग्वेद १०/१३/१
५. तैत्तरीयोपनिषद् २/७
६. कठोपनिषद् २/२/९

पंचदशी का चित्रदीप प्रकरण—

कला के आध्यात्मिक प्रतिमानों का गम्भीर विवेचन पंचदशी के चित्रदीप प्रकरण में विद्यारण्य मुनि ने किया है। चित्र के विधि-विधान सम्बन्धी विवरणों की समता यहाँ आध्यात्मिक भाव से जितनी सुन्दर देखने को मिलती है उतनी किसी अन्य ग्रंथ में नहीं। मुनि जी ने इस चित्रदीप प्रकरण में वेदान्त, दर्शन सम्बन्धी ब्रह्म, जीव, जगत् एवं माया और तत्वज्ञान सम्बन्धी अनेक बातों का स्पष्टीकरण चित्रों के विधि-विधान द्वारा प्रतीकात्मक शैली में किया है। अधिष्ठान चेतन रूप वस्त्र पद जगद्रूप चित्र को प्रकाशित करने वाले को चित्रदीप नाम दिया गया है।

आगम तथा तन्त्र ग्रन्थ—

इनमें कला का दार्शनिक अर्थ में ही प्रयोग किया गया है। तन्त्र शास्त्र में अक्षर और रेखाओं के एक-एक विशेष वर्ण का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि ब्रह्मा-विष्णु-आत्मक और शंख ज्योतिर्मय परमाश्चर्य जो 'आ' अक्षर है वह स्वयं इन्द्र है। इसी प्रकार अन्य अक्षरों को भी आत्मावान् कहा है। गायत्री का प्रथम वर्ण चम्पा की तरह पीला वर्णित है।[२] वह अग्नि से अर्घित होता है अतः आग्नेय है। तन्त्र शास्त्र में आत्मा-परमात्मा की एकता, कुण्डलिनी, चक्र, पृथ्वी की उत्पत्ति और आधार (जैसे कच्छप, वराह, शेषनाग, आदि के ऊपर अधिष्ठित पृथ्वी) पर बने हुए चित्र बहुत मिलते हैं। इनमें आध्यात्मिक दृष्टि से कला को महामाया का चिन्मय विलास उसकी सम्मृतन शक्ति मानी गई है।

ज्योतिष शास्त्र—

इसमें ग्रहों, नक्षत्रादि को दिखलाने के लिये षटकोण, त्रिकोण आदि रेखा चित्रों का प्रयोग करते हैं। जिन्हें ज्यामितिक आकृति के अन्तर्गत रखा जा सकता है। धनु, मकर आदि राशि के रूपों की कल्पना ज्योतिष् का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इनके अतिरिक्त सामुद्रिक लक्षणों के रूप की कल्पना या मान्यता चित्रकला के लिये अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यही आगे चलकर चित्रकला के रूप का मानदंड या मानक हो जाता है।

पारस्कर गृह्यसूत्र—

इसमें कहा गया है कि जिस प्रकार चित्र कर्म में धीरे-धीरे रंग (राग) उन्मीलित होता है, उसी प्रकार ब्राह्मणत्व संस्कारों में बढ़ता है।

रामायण—

चित्रकला प्राचीन भारत में अनुशीलन की जाने वाली कलाओं के अन्दर की और बाल्मीकि रामायण में उसका स्थलों पर उल्लेख हुआ है। उस समय चित्रों का उपयोग प्रायः भवन की भित्तियों, कक्षों और रक्षों के अलंकरण के रूप में ही अधिक हुआ है। सुन्दरकाण्ड और लंकाकाण्ड में चित्रकला के संबंध में विशेष चर्चायें देखने को मिलती है। लंका में सीता की खोज करते समय हनुमान् को एक चित्र-शाला तथा चित्र सुसज्जित कई क्रीडागृह भी देखे थे। बाल्मीकि ने चित्रशालाओं का बहुवचन

१. पंचदशी—चित्रदीप प्रकरण ६/२३
२. तन्त्र आसन—श्री अजीत मुकर्जी—पृ० २७

में प्रयोग किया है—चित्रशाला गृहिण ।[१] में स्थित राजकीय चित्रशाला, व्यक्तिगत चित्रशाला या अन्तःपुर के वासभवन में चित्रशाला तथा नगर के मध्य स्थित सार्वजनिक चित्रशाला। कैकेयी का राजप्रासाद (अन्तःपुर) चित्रों से सुशोभित था।[२] रावण के राजप्रासाद की चित्रशाला अपने युग की विख्यात चित्र शालाओं में से थी। वस्तुतः संस्कृत साहित्य में चित्रशाला का सर्व प्रथम उल्लेख इसी ग्रन्थ में हुआ है। राम के राजप्रासाद में भित्ति चित्र उत्कीर्ण थे। ये भितिचित्र सूत्कीर्ण अर्थात् अच्छी तरह उत्कीर्ण या उकेरे हुए थे और काट-काट कर, उभारदार सतह से उभरे हुए बने थे। रावण के पुष्पक विमान में स्वर्ण खचित चित्रकारी गंगा-यमुना, क्राम कांचन चित्रागम की गई थी।[२] उस विमान की भूमि पर केसरपत्र परिपूर्ण पुष्पयुक्त वृक्षावली से सुशोभित, पर्वतमाला चित्रित थी।[३] उत्तरकाण्ड में उल्लेख है कि भित्ति पर दृष्टि और मन को सुख प्रदान करने वाले अनेक प्रकार के आश्चर्य जनक दृश्य अंकित थे तथा उनकी शोभा-वृद्धि के लिये बेल बूटे बने थे।[४] रावण के रथ में पिशाच वदन चित्रित थे। इससे प्रतीत होता है कि उस समय वस्त्र तथा काष्ठ अथवा धातु पर भी चित्रकारी की जाती रही होगी।

महाभारत—

रामायण की अपेक्षा महाभारत में चित्रकला के प्रसङ्ग कुछ न्यून हैं। महाभारत में सत्यवान् के सम्बन्ध में कहा गया है कि बाल्यकाल में उसको घोडों का बहुत शौक था। वह मिट्टी का घोड़ा बनाता और भित्ति पर घोड़े के चित्र अंकित करता था। इसलिये उसका नाम चित्राश्व पड़ा।[५] महाभारत के आदि पर्व में गंगा के किनारे एक जल केलिगृह का वर्णन है जिसकी भित्ति और छतें चित्रित थीं[६] द्रोणपर्व में उल्लेख है कि मूर्छावस्था में अभिभूत अतिथि भीम का अपूर्व चित्र या चित्रपट पर कुशल चित्रकारों द्वारा किया गया।[७]

मायासुर ने युधिष्ठिर के जिस सभा गृह का निर्माण किया था जिसमें जल के स्थान पर स्थल तथा स्थल के स्थान पर जल प्रतीत हो रहा था, यह कहाँ तक सत्य है अथवा कल्पना मात्र है, यह कहना कठिन है। यदि इसे सत्य माना जाय तो यह अलौकिक रचना रही होगी लौकिक नहीं। इस सभा गृह की दीवारों पर भाँति-भाँति के चित्र अंकित थे और उसमें पुत्तलिकायें भी चित्रित थीं।

पाणिनि की अष्टाध्यायी—

इसमें शिल्प को चारु (ललित कलाएं) और कारु (औद्योगिक कलाएँ) इस दोनों अर्थ में प्रयुक्त किया

---

१. रामायण—५।५।३४
२. रामायण—२।१०।१३
१. रामायण २।१५।३५
२. रामायण ६।१२१।२४
३. रामायण ५।७।१६
४. ७।१५।३८
५. महाभारत ३।२९३।१३
६. आदिपर्व, अध्याय १२८
७. द्रोणपर्व, अध्याय १८५

गया है। शिल्प शब्द को इस युग (५०० ई० पू० के लगभग) में बड़ा महत्त्व दिया गया है। जीवन से सम्बन्धित किसी भी उपयोगी व्यापार की गणना शिल्प में की गई है। चित्रांकन मूर्ति-निर्माण तथा नृत्य संगीत, वाद्य आदि ललित कलायें चारु-शिल्प में ही की जाती थी। चौंसठ कलाओं की जो गणना साहित्य में पाई जाती है उनका आरम्भ भी इसी युग में हुआ। सौंदर्य-विधान और रूप-समृद्धि एवं मनोरंजन और विनोद आदि के साधन की ओर इन शिल्पों का विशेष लक्ष्य था। इस प्रकार अष्टाध्यायी में शिल्प व्यापक शब्द था जो कला के दोनों भेदों के लिये प्रयुक्त होता था। पाणिनि ने संघ-राज्यों के अंक और लक्षणों को चर्चा की है।[२] इन लक्षणों से उन राज्यों के सांकेतिक चिन्हों का अभिप्राय है जो पशु, पक्षी, वृक्ष, नदी पर्वत आदि होते थे। स्वस्तिक, अंकुश, बाण, कुण्डल आदि को चित्रित करने के लक्षणों की चर्चा भी पाणिनि ने की है। ये चिह्न गायों के कान, पूंछ, प्लीहा, पीठ' उदर आदि पर पहचान के लिये लगाये जाते थे। इनमें से अनेक चिह्न भारत की प्राचीन आहत मुद्राओं पर अंकित पाये जाते हैं पशुओं को चिह्नांकित करने की प्रथा आज भी किसी न किसी रूप में प्रचलित है। अतएव पाणिनि के समय में भी चित्रों का पर्याप्त प्रचार था।

अर्थ-शास्त्र—

कौटिल्य का (ई० पू० ३०० का) अर्थशास्त्र यद्यपि विश्वकोशात्मक रचना है, किन्तु उसमें चित्र-कला का उल्लेख नगण्य है। इसमें कारु शब्द का प्रयोग है (कारु शिल्पिन्)।[१] इसका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि जो कलाकार अपने कार्य में निरन्तर लगा रहता था उसे उस कला का कलाकार न कहकर उस कला का शिल्पी कहते थे। इसमें कारुक शिल्पियों की नामावली है जिसमें चित्रकार का भी नामोल्लेख है और इन शिल्पियों के कार्यों की तालिका भी दी गई है।[२] एक स्थान पर कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में लिखा है कि राज्य की ओर से ऐसे आचार्य नियुक्त किये जाने चाहिये जो गणिकाओं, नटिनियों तथा अभिनेत्रियों आदि को अन्य कलाओं के साथ-साथ चित्रकला की भी शिक्षा दें।

नाट्य शास्त्र—

भरत मुनि ने इसमें रंगमंच के निर्माण और अभिनय के साथ ही चित्र, मुर्ति, वास्तु, नृत्य, गीत आदि कलाओं पर बहुत गम्भीरता से विचार किया है। वे कहते हैं कि न ऐसा कोई ज्ञान है, न शिल्प, न विद्या, न कोई कला, न योग और न कर्म जो नाट्य में प्रदर्शित न किया जाता हो।[१] नाट्य शास्त्र के द्वितीय अध्याय में प्रेक्षागृह के विवेचन क्रम में भित्तिचित्र बनाने का उल्लेख है जिसका प्रारम्भ वास्तु निर्माण की भांति सूत्र के रेखांकन से होता है। तदनन्तर उस वाह्य रेखा के अन्दर ही चित्र रचना करते हैं।[४] नाटक मण्डप की भित्ति उठाने के बाद उस पर सुधा लेप करना चाहिये। अभिनय गुप्त ने भित्ति लेप को, बालू के साथ सीप और शंख चूर्ण मिलाकर तैयार किया हुआ लेप माना है।

---

१. अष्टाध्यायी, ३।१।१४६
२. अष्टाध्यायी, ३।२।५५
१. अर्थ शास्त्र २/३६
२. „ ४३/२७
३. नाट्यशास्त्र १/११६
४. „ २/३४

संस्कृत कवि भास के नाटक—

भास ने अपने तीन नाटकों स्वप्न वासवदत्तम्, प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्, तथा दूत-वाक्यम् में चित्रों का प्रयोग दिखाया है। स्वप्न-वासवदत्तम् में वासवदत्ता तथा उदयन के विवाह को उन दोनों के चित्रों द्वारा सम्पन्न किया गया। दूतवाक्य में श्रीकृष्ण के आने पर दुर्योधन द्रौपदीचीर हरण का चित्र मंगाकर देखने लगता है और चित्रकार की कला की प्रशंसा करता है। चित्र में अर्जुन को रोकते हुये युधिष्ठिर, नकुल; सहदेव, गान्धार राज, आचार्य तथा पितामह विभिन्न मुद्राओं में अंकित थे। दुर्योधन चित्र की वर्णादियता, भावोपन्नता, युक्तलेखन एवं सुव्यक्तता की प्रशंसा करता है और उसे दर्शनीय बताता है। वासुदेव भी उस चित्र की प्रशंसा करते हैं, किन्तु स्वजनों के अपमान का विषय, चित्रित होने के कारण उसे हटा देने की माँग करते हैं।

पतञ्जलि का महाभाष्य—

पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में श्रीकृष्ण लीला के चित्रों की प्रदर्शनी का उल्लेख किया है। पतञ्जलि ने यह भी लिखा है कि नट लोग अपने शरीर की विभिन्न प्रकार के चित्रों से चित्रित करते थे।

कामसूत्र—

आचार्य वात्स्यायन के काम सूत्र में वर्णित चौसठ कलाओं और आलेख्य (चित्रकला) के षडंगो पर टीकाकार यशोधर की व्याख्या प्राप्त होती है।[1] (इसका उल्लेख हम आगे पृथक् अध्याय में करेंगे) कामसूत्र में यह निर्देश किया गया है कि प्रत्येक नागरिक को चाहिये कि वह अपने विश्रामकक्ष में चित्र फलक के अतिरिक्त रंग तथा कूची की पेटी रखें।[2] वात्स्यायन ने ललित कलाओं में चित्रकला को सर्व प्रथम माना है।

चित्र विषयक प्राचीन साहित्य (१०० ई० पू० से ७०० ई० तक)—

इस काल में हमें चित्रकला सम्बन्धी जो साहित्य उपलब्ध होता है उसके दो भाग किये जा सकते हैं। चित्रशास्त्र और चित्रोल्लेख। जिन ग्रन्थों में चित्रकला का शास्त्रीय विवेचन 'उपलब्ध' है उनमें से निम्नांकित मुख्य है—

१. अग्निपुराण—

इस ग्रन्थ में प्रायः २३ विभिन्न अध्यायों में प्रतिमा विधान, तालम्प्रमाण, रस, भाव, अंग कर्म आदि का विस्तृत विवेचन मिलता है। अंगकर्म (मुद्राओं आदि) का उल्लेख नाट्य के अन्तर्गत हुआ है। किन्तु वह प्रतिमा तथा चित्र पर भी समान रुप से लागू हुआ है।

२. मत्स्य पुराण—

इस ग्रन्थ के प्रायः छः अध्यायों में चित्र एवं प्रतिमा शास्त्र का विवेचन है। अध्याय २५८ में प्रतिमा की आवश्यकता बताई गयी है और अध्याय २५९ से २६३ पर्यन्त विभिन्न प्रतिमाओं के ताल-प्रमाण दिये गये हैं। अध्याय २५८ में सामान्य प्रमाण भी बताये गये हैं।

---

१. रूपभेदाः प्रमाणानिभावलावण्ययोजनम् ।
सादृश्यं वर्णिकाभंग इति चित्र षडंगकम् ॥ (कामसूत्र)

२. कामसूत्र १/४/१०

३. वराहमिहिरकृत बृहत्संहिता—

इसमें प्रतिमा विधान का निर्देश किया गया है तथा विभिन्न प्रकार के पदार्थों का उल्लेख मिलता है, जिनका प्रयोग रंगों के लिये किया जाता था वराहमिहिर ने विभिन्न प्रकार के उन पदार्थों का भी उल्लेख किया जो कि सीमेंट के रूप में प्रयोग में आते थे तथा जिनसे चित्र के लिये सतह तैयार की जाती थी।

४. अश्वघोष (ई० प्रथम शती)—

इस कवि के दो काव्य मिलते हैं—पहला बुद्धचरित और दूसरा सौन्दरनन्द। बुद्धचरित से ज्ञात होता है कि उस समय स्त्रियाँ अपने शरीर पर गीले अनुलेप से चित्र रचना किया करती थी। अश्वघोष ने बुद्ध के सुवर्ण सिंहासन पर वज्रमणि के भक्ति चित्र अंकित होने का उल्लेख किया है। उस समय शालभंजिकाओं की आकृति बहुत लोकप्रिय थी जिसके प्रमाण स्वरूप खिड़की के सहारे सोती हुई स्त्री की उपमा तोरण शाल भंजिका से दी गयी है।[१]

सौन्दरनन्द काव्य में नन्द की दाढ़ी की तूलिका बनाकर उसकी स्त्री के द्वारा अपने मुख पर विशेषक रचना का उल्लेख किया गया है। नन्द जब भिक्षुक बन जाता है और बसन्त ऋतु आती है तो उसे अपनी स्त्री का स्मरण हो आता है। उस समय बुद्ध उसे शिक्षा देते हैं कि चित्रकार एक स्त्री का चित्र बनाकर स्वयं उसकी रक्षा करता है। चित्रकार ही में चित्र है पर अब चित्रकार और चित्र रक्षक एवं रक्षित की भाँति है। इससे ज्ञात होता है कि बुद्ध के समय स्त्रियों के चित्र प्रचुरता में बनने लगे थे।

५. कालिदास (चौथी-पाँचवी ई०)—

के सभी ग्रन्थों में चित्रकला के विशद उल्लेख प्राप्त होते हैं। रघुवंश के अनुसार इन्द्र की बाँह पर शची ने विशेषक रचना की थी।[२] असुरों का नाश होने पर उनकी पत्नियों ने गण्डस्थल चित्रित करना छोड़ दिया था। अज की पत्नी इन्दुमती ललित कलाओं में निपुण थी। राम के भवन में चित्र अंकित थे। उसे चित्र वत्सद्म कहा गया है। क्रीड़ागारों में गजक्रीड़ा के चित्र बने हुये थे, जिनमें कमल के तालाब में उतरे हुये हाथियों को हथिनियाँ सूंड से कमल नाल तोड़कर दे रही थी।[३] अयोध्या के भवनों में भी स्तम्भों पर स्त्रियों की मूर्तियाँ बनी हुई थीं। रघुवंशी महाराज सुदर्शन का राजकुमारी के चित्र मँगाकर निश्चित किये जाने के उल्लेख मिलते हैं।

मेघदूत में अलकापुरी के विमान जैसे भवनों की अग्रभूमि में लिखित चित्रों तथा यक्षों के घर के द्वार पर शंख एवं पद्म की आकृतियाँ अंकित होने का उल्लेख हुआ है। यक्षिणी विरह में अपने प्रियतम का भावगम्य सादृश्य चित्र अंकित करती है। यक्ष शिला पर धातु राग से प्रणय कुपित यक्षिणी का चित्र बनाता है।

विक्रमोर्वशीयम्—विमानों में इन्द्र धनुषी अर्थात् सतरंगे चित्र अंकित होने का उल्लेख है।

---

१. भारतीय कला का विकास—राधाकमल मुखर्जी—पृष्ठ ११७।

२. रघुवंश—कालिदास (४३६)

३. भारत की चित्रकला—रायकृष्णदास पृष्ठ २०

मालविकाग्निमित्रम् में चित्रलेखा ? द्वारा गीले रंगों से बनाये गये चित्र का उल्लेख हुआ है। इस चित्र में महा-रानियाँ एवं दासियाँ आदि चित्रित है। चित्रित आकृति की तुलना में वास्तविक पात्र को अधिक सुन्दर देखने पर राजा चित्रकार की आलोचना करते हुये उसका कारण शिथिल समाधि बताता है।

अभिज्ञान-शाकुन्तलम् में सुन्दरी आकृति के निर्माण का रहस्य स्पष्ट किया गया है। शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त विचार करते हैं कि ब्रह्मा ने संसार की सभी सुन्दरियों के रूप का समुच्चय करके एक चित्र बनाया होगा और उसमें प्राण ढाले गये होंगे। शकुन्तला के विरह में दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला के चित्र बनाने का उल्लेख भी प्राप्त होता है। उसे देखकर मेनका की सखी सानुमती अप्सरा भी चकित हो जाती है। उसे लगता है कि सखी साक्षात् उसके सामने खड़ी है। वह चित्र मधुर-भाव युक्त है और उसमें अंकित निम्नोन्नत अंगों पर विदूषक की दृष्टि चढ़ती गिरती प्रतीत होती है। आधुनिक भाषा में इसे गठनशीलता कहा जा सकता है। राजा की पसीने से भीगी अंगुली लग जाने से रेखाएँ कुछ मलिन हो गई है। कपोल पर बूंद पड़ जाने से वहाँ का रंग उभर आया है। राजा उसकी पृष्ठभूमि में मालिनी नदी की रेत में हंस-मिथुनों की क्रीड़ा, दोनों ओर हिमालय की तलहटी में बैठे हरिण, वृक्ष पर टँगे वल्कल वस्त्र और उसके नीचे हरिण के सींग से अपनी बाँयी आँख खुजलाती हुई मृगी भी अंकित करना चाहते हैं।[1] मिट्टी के रंगीन खिलौने को कालिदास ने वर्ण चित्रित मृतिका मयूर कहा है।

विशाखदत्त कृत मुद्रा-राक्षस (५वीं शती) में चित्रपट हाथ में लिये घूमते रहने वाले भिखमंगों का वर्णन आया है।[2] इसी काल की एक अन्य रचना श्यालिक कृत पाद-ताडित-क्रम् में सौन्दर्य परिपूर्ण यक्ष-चित्रों के आलेखन की प्रथा का उल्लेख हुआ है। उज्ज्वल वेशवाली गणिकाओं की उपमा लक्ष्मी के चित्र से दी गई है जिससे ज्ञात होता है कि उस समय भी इस प्रकार के चित्र प्रचुरता से अंक्रित किये जाते थे। छपे हुये वस्त्र को भद्रांक युक्त तथा सूक्ष्म और स्थूल उभरी हुई नक्काशी को सूक्ष्म-स्थूल विविक्त रूप में नक्काशी कहा गया है।

बाणभट्ट कृत हर्ष-चरित (७वीं शती) से ज्ञात होता है कि उस समय राज परिवार के व्यक्तियों को चित्रकला की भी शिक्षा दी जाती थी। बाण भट्ट ने अपने साथी वीर वर्मा नामक चित्रकार का भी उल्लेख किया है। किन्तु इतिहास इसके विषय में मौन है। भवन भित्तियों पर चामर-ग्राहिणियों के चित्र अंकित किये जाते थे। मंगल सूचक आलेख्यों पें चक्रवाक मिथुन भी चित्रित करने की प्रथा थी। राजा प्रभाकर वर्धन के मरणासन्न होने पर रानी यशोमती जब सती होने लगी तब वे हाथ में पति का चित्रकलक दृढ़ता

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम्—अंक ६, श्लोक—

कार्या सैकतलीन हंस-मिथुना स्रोतोवहा मालिनी,
पादस्तामभितः निषण्णहरिणाः गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोः निर्मातुमिच्छाम्यधः।
शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्॥

२. भारत की चित्रकला—रायकृष्णदास—पृष्ट २०

से पकड़े हुए थीं। इससे संकेत मिलता है कि सती होने के समय स्त्रियाँ पति के शव के स्थान पर चित्र-फलक का प्रयोग भी कर सकती थी।[१] नवविवाहित दम्पत्ति के वासगृह में रति, प्रीति, और कामदेव आदि की आकृतियाँ चित्रित की जाती थीं। भिक्षु लोग यम-पट्टिक लिये घूमते थे और शरकंडे से लोगों को यमराज के त्रास की चेतावनी देते रहते थे। हर्ष ने स्वयं एक ऐसा यम पट्टिक देखा था जिसमें भयंकर भैंसे पर चढ़े यमराज का चित्र बना था। राजाओं को चित्र-फलकों के जोड़े और तूलिका रंग रखने के लिए लौकी की कुप्पियाँ भी भेंट की जाती थी।

बाण की अन्य रचना कादम्बरी के अनुसार भवनों में शालभंजिकाएँ उत्कीर्ण की जाती थीं। जिस प्रकार स्त्रियाँ अपने कपोल, भुजाओं एवं स्तनों आदि पर चित्र रचना करती थीं, उसी प्रकार इन शालभंजिकाओं में भी की जाती थी। शोक के अवसरों पर यह कार्य नहीं किया जाता था। कालिदास की भाँति बाण ने भी गीले रंगों द्वारा लिखे मांगलिक भित्ति चित्रों का उल्लेख किया है। सीताहरण के उपरान्त पर्णकुटी में राम ने सीता का जो चित्र अंकित किया था, भील उसे बड़ी उत्सुकता से देखते थे। इससे संकेत मिलता है कि कोई प्राचीन स्त्री चित्र पत्राच्छादित किसी जंगली कुटी अथवा गुफा में बना होगा जो इस समय राम के द्वारा बनाया गया माना जाता रहा होगा। उज्जयिनी के वर्णन में चित्र-शालाओं का भी उल्लेख मिलता है जिनमें सुर-असुर, सिद्ध-गन्धर्व, विद्याधर-नाग, आदि के चित्र अंकित थे। बाण भट्ट ने धूलि चित्रों का भी उल्लेख किया है। गर्भिणी रानी विलासवती की रक्षा के निमित्त भूमि पर भूति अर्थात् राख से अनेक प्रकार की पत्र लताएँ बनाकर मेड़ बाँध दी गई थीं। पुत्र जन्म पर कार्तिकेय के चित्र बनाये जाते थे। चित्रों को ढकने के निमित्त उन पर रंगीन कपड़े भी चिपकाये जाते थे। अतिथियों के मनोरंजन के हेतु चित्रकर्म-कुशला दासियाँ भी नियुक्त की जाती थी। महापुरुषों के जीवन-सम्बन्धी दृश्यों को बाण ने सच्चरित्र चित्र कहा है।

हर्ष ने नागानन्द नाटक (७वीं शती) में कालिदास की ही भाँति उरु प्रदेश, नितम्ब एवं स्तनों के उभार को दर्शाने वाले चित्रों का उल्लेख किया गया है। इस वर्णन में ध्यान देने योग्य बात यह है कि चित्र इस प्रकार की मुद्रा में होना चाहिये जिसमें कोई स्त्री पीछे मुड़कर देख रही हो, तभी उसके उरु नितम्ब, एवं वक्षस्थल सभी एक साथ दिखाई दे सकते हैं। अजन्ता, बाघ एवं पूर्व मध्यकालीन प्रतिमाओं में इस प्रकार की मुद्रा का बहुत प्रयोग हुआ है। सूखे रंगों से चित्र लिखने का संकेत मेघदूत में यक्ष के प्रसंग में कालिदास ने किया है। उसी प्रकार नागानन्द नाटक का नायक जीमूतवाहन भी राजकुमारी मलयवती का चित्र अंकित करने के हेतु अपने मित्र को मेनसिल के टुकड़े लाने को कहता हैं किन्तु वह पाँच रंग के टुकड़े ले आता है। पत्थर पर इन रंगों से उसी प्रकार चित्र अंकित किया गया होगा जैसा आजकल पेस्टल विधि में होता है। अग्निमित्र ने चित्र लिखने में चितेरे की शिथिल समाधि की आलोचना की थी। उसी प्रकार नायक जीमूतवाहन अपने संकल्प में प्रिया को सम्मुख बैठा लेता है और उसका इतना सुसादृश्य चित्र अंकित करता है कि नायिका की सखी को वह प्रत्यक्ष व्यक्ति के प्रतिबिम्ब के समान प्रतीत होता है। हर्षदेव कृत रत्नावली नाटक से ज्ञात होता है कि प्रेमी लोग रति और कामदेव

१. हर्षचरित–एक सांस्कृतिक अध्ययन—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल—पृ० ६४

के चित्रपट भी बनाते थे अथवा उनके बहाने चित्र में अपनी आकृति बना देते थे ।[१] रत्नावली तथा प्रियदर्शिका में हर्षदेव ने आलेख्य विज्ञान गुण ग्रहिणी सभा तथा वज्रलेप का भी उल्लेख किया है ।

महाराज भर्तृहरि (सातवीं शती) में नीतिशतक से ज्ञात होता है कि उस समय सम्भ्रान्त व्यक्तियों में साहित्य आदि ललित कलाओं का व्यापक प्रचार था और साहित्य, संगीत एवं कला-विहीन मनुष्य को पशु समान समझा जाता था ।[२]

बौद्ध ग्रन्थों में भी चित्र आदि की रचना के नियम निर्देशित किये गये हैं । इनमें संयुक्तनिकाय चुल्लवग्ग में एक प्रकार के भित्ति कर्म का उल्लेख हैं, जिसपर रंगों से चित्रण किया जाता था। अट्ठशालिनी में भी चित्रकला सम्बन्धी अनेक पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख हुआ है । बौद्धों की कला पर हिन्दू शिल्प शास्त्रों का ही प्रभाव है । यह बात हिन्दू ग्रन्थ प्रतिमालक्षणम् से भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है । इसमें हमें चित्रकला सम्बन्धी उल्लेख प्रचुर मात्रा में मिलते हैं ।

बौद्ध कृतियों में चित्रकला

महात्मा बुद्ध के समय (५६३–४८० ई० पू०) में चित्रकला का इतना प्रचार था कि स्वयं बुद्ध ने अपने शिष्यों को चित्रकला में अधिक आसक्त न होने को कहा था उन्होंने कुछ सीमाएं निश्चित कर दी थी जिनका अतिक्रमण भिक्षुगण नहीं कर सकते थे ।[१] उस समय मिथुनाकृतियों तथा प्रेमक्रीड़ा के चित्र अत्यधिक बनने लगे थे। सम्भवतः इसी से बुद्ध को इस प्रकार का आदेश देना पड़ा । बुद्ध ने बिम्बसार का चित्रागार देखने के हेतु भी निषेध कर दिया था क्योंकि उसमें अधार्मिक एवं श्रृंगारपूर्ण चित्र अंकित थे ।

महात्मा बुद्ध का प्रथम व्यक्ति चित्र मगध के सम्राट बिम्बसार के एक राजकीय कलाकार द्वारा अंकित किया गया था । लगभग ५वीं शती ई० पू० के इस सम्राट् के सम्बन्ध में बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान में एक कथा आई है कि सिंध के समीप रोरुक नामक स्थान के राजकुमार ने सम्राट् बिम्बसार के हेतु अनेक उपहार भेजे । उनके बदले में प्रत्युपहार भेजने के विषय में सम्राट् ने बुद्ध से सम्मत्ति माँगी । बुद्ध ने अपना व्यक्ति चित्र भेजने का परामर्श दिया सम्राट् ने अमिताभ का चित्रांकन करने को अपने राजकीय चित्रकार को भेजा । किन्तु बुद्ध के तेज के कारण वह उनकी प्रतिच्छवि उतारने में असफल रहा तब बुद्ध ने मित्र

---

१. भारत की चित्रकला—रायकृष्णदास पृष्ठ २१

२. नीतिशतकम्

साहित्य–संगीत–कला–विहीनः ।
साक्षात् पशुःपुच्छविषाणहीनः ॥

३. (चुल्ल वग्ग ५/२) में तुम्हें सुधाकर्म, गैरिक एवं काजल तथा पुष्प माल्यादि के प्रयोग एवं निर्माण की आज्ञा देता हूँ ।······ मैं बिहारों, सुधाकर्म, गैरिक एवं काजल के प्रयोग की आज्ञा देता हूँ । मैं इक्काश (लाक्षा एवं सिन्दुर नामक वृक्षों आदि का रस) अथवा पिष्ट मंडन के प्रयोग की आज्ञा देता हूँ । मैं सरसों के बीज एवं मोम की पीठी बनाने की आज्ञा देता हूँ । किन्तु तुम पुरुषों तथा स्त्रियों के अथवा काल्पनिक चित्र अंकित नहीं करोगे ।

पर पड़ती हुई अपनी छायाकृति से चित्रांकन की युक्ति सुझाई। बाह्य रेखा बन जाने पर बुद्ध ने रंगों का निर्देश किया। चित्रपूर्ण हो जाने पर महात्मा बुद्ध ने अपने सिद्धान्त सूत्र रूप में उस चित्र पर लिख दिये यह चित्र एक उत्सवपूर्ण उद्घाटन के साथ रोरुक के राजकुमार के यहाँ पहुँचा।

विनयपिटक नामक बौद्ध ग्रन्थ में कौसल के राजा ने सेनजित के चित्रगारों का उल्लेख। बुद्धघोष नामक एक बौद्ध विद्वान् ने चित्रकला के तात्विक पक्ष की बहुत सी बातों का विवेचन किया है।

जैन कृतियों में चित्रकला

जैन धर्म के प्राकृत तथा पालि में रचित ग्रन्थों का अध्ययन करके चित्रकला के प्रति तत्कालीन समाज की निष्ठा का बहुत कुछ अंशों में पता लगता है। इन प्रसङ्गों को देखकर यह बात स्पष्ट रूप से सामने आ जाती है कि उस युग में पढ़े-लिखे विद्वान् एवं साहित्यकार और जन-सामान्य का चित्रकला के प्रति अत्यन्त अनुराग था।

चित्रकला के क्षेत्र में श्वेताम्बरीय जैनों का महत्वपूर्ण योग रहा है। उनके प्रश्न व्याकरण सूत्र में चित्रों की अनेक श्रेणियाँ बतायी गयी हैं। इस व्याकरण ग्रन्थ में सचित (मानव, पशु, पक्षी) अचित (नदी, नद, पहाड़, आकाश) और मित्र (संयुक्त) चित्रों की इन श्रेणियों का उल्लेख किया गया है। जो चित्र लकड़ी, कपड़े और पत्थर पर अनेक रंगों के योग से उरेहे जाते थे उन चित्रों का सामूहिक नाम लेपकम्प कहा गया है। उस समय मिट्टी, पत्थर तथा हाथी दाँत पर भी चित्र-ग्रन्थों में हमें अल्पना चित्रों की परम्परा का भी पता चलता है जो कि लोक कला के उन्नत स्वरूप का परिचय देते हैं। कामसूत्र आदि ग्रन्थों की भाँति जिन भद्र मुनि कृत कल्प सूत्र की टीका में ६४ कलाओं की तालिका दी गई है जिसमें चित्रकारी का भी एक स्थान है।

तत्कालीन राजवर्ग के व्यक्तियों का भी चित्रकला के प्रति अनुराग था। एक कथा कृति 'नामा धम्म कहाओं' से विदित होता है कि महाराज श्रेणिक के महल की दीवारों पर बड़े अच्छे चित्र बने हुए थे। ठीक उसी प्रकार के चित्र मेघ कुमार के महल में भी सुसज्जित थी। इसी कलाकृति में कहा गया है कि विदेह राज्य के शासक मल्लदिन्न ने एक ऐसी चित्र सभा का आयोजन किया था, जिसने लोकशास्त्र में वर्णित ८४ आसनों पर उत्कृष्ट चित्रों का निर्माण किया था।

राजवर्गीय व्यक्तियों के अतिरिक्त जन सामान्य में भी हम चित्रकला को एक मनोरंजन के माध्यम के रूप में प्रतिष्ठा पायें देखते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थ अन्तगडदसाओं में लिखा है कि नागरिकों ने अपने मनोविनोद के लिये कुछ ऐसी संस्थाओं की स्थापना की थी, जहाँ वे सन्ध्याकाल में अवकाश के समय एकत्रित होकर अपना मनोविनोद किया करते थे तथा ललित गोष्ठी भी आयोजित करते थे।

---

१. पेनोरमा आफ इण्डियन पेंटिंग पृष्ठ ३ डा० ओ० सी० गांगुली
२. प्रश्नव्याकरण-सूत्र २।५।१६
३. कल्पसूत्र की टीका ५।२११
४. नाया धम्म कहाओं १।१।१७
५. नाया धम्म कहाओं १।१।१८
६. नाया धम्म कहाओं १।८।८७
७. अन्तगडदसाओं ६।३

Alaka

(Km.) Aditi Bhattacharya.

One of the most significant part of hair dressing was (अलकरचना). Alaka itself was a symbol of beauty in Indian aesthetics. Alaka both in it's dressed as well as in it's loose form has fascinated almost all the poets of Sanskrit literature. वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, बाणभट्ट. श्रीहर्ष have taken deep emotional pleasure in describing the alakas of their heroines. The epithets such as अरालकेशी, कुञ्चितकेशी, कुटिलकेशी, वक्रकेशी etc. indicate the emotional as well as the physical aspect of Alaka.

More over, Indian method of describing beauty touches all parts of the body from nail to head or vice-versa. In fact 'नख-शिख-वर्णन' wcs the duty of a poet if he is writing a काव्य, therefore, alaka has a significant role in depictic n of the beauty of women on the one hand and and making the poem as a form of poetry on the other.

Alaka adds to the beauty of the face-'अलति भूषयतिमुखम्'* Poets usually took delight in describing नायिका's front locks to enhance the charm and grace of her personality as is evident from some examples derived from the Sanskrit literature. The beauty of the face having frizzled locks is depicted in रामायण.[1]

कालिदास considered the facial locks as a distinct mark of female beauty therefore he always liked to describe vividly the अलका spreading over the face.

In रघुवंश the poet compares the darkshaded frizzled locks covering the beautiful face of Indumati with black bees.[2]

In मेघदूत alakas are described falling on the eyes of the lady sometimes they are removed from the eyes so that the ladies may see upward.[3]

The charm of पार्वती's face, because of her frontal locks surpasses even lotus and moon both.[4]

Not only कालिदास but other poets have also realised the innate beauty of the facial locks of their heroines. In शृंगारमञ्जरी the fascinating curls are describedcarefully arranged on the forehead of a certain lady.[5]

---

* वाचस्पत्यम्—भाग १, पृ० ३८७

१. रामायण, ३' ६३'९.

२. रघुवंश, ८'५५

३. मेघ (पूर्व) ८.

४. कुमारसम्भव ७. १९.

५. शृंगारमञ्जरी पृ० ४७.

The wreath of curly locks that fringes the crescent of her forehead was arranged beautifully as referred te in कर्पूरमञ्जरी.[1]

भवभूति finds some special attraction in the movement of the beautiful locks spreading over the forehead of lady.[2]

Women used to take care of their front locks they might increase the beauty of their face [3] Sometimes, alakas while neglected used to fall upon cheeks and eyes of the ladies.[4]

There is some obscurity in the meaning of the word अलक. According to some authorities अलक is curled lock. The hair of the head if curled is called lock. On the other hand, according to some other scholars alaka denotes the front hair only.

The synonims of alaka have been given as कुञ्चितकेश, वक्रकेश, चूर्णकुन्तल, चूर्णलिक, अरालकेश, कुटिलकेश, अलककुन्तल, विकुञ्चिताग्रकेश, and वर्वरीक.[5]

'शब्दकल्पद्रुम' points out the meaning of alaka as 'Kutilakuntala'[6]—a curled lock.

बाणभट्ट suggests the word 'भङ्ग'—(a curled hair or alaka.[7]

Most of the dictionaries have given the etymology of alaka as–al (to decorale)+ Kun.

वाचस्पत्यम् refers to अमरकोश where alaka is defined as 'ऽलकाश्चूर्णकुन्तला:'. Here चूर्णकुन्तल and alaka are synonims. Alaka is considered that portion of hair where powders prepared by comphor etc. are applied.[8]

On the whole the correct etymological derivation of the word alaka was hidden to Sanskrit scholars as it was natural that they tried to derive each word on the basis of root, which as it is well known, is often farfetched. This is true in the case of the word alaka also. It appears that the word alaka has got some connection with the word al (ad) which has the meaning of the string of the scorpion Scorpion's string is curved by nature. it resembles with the naturally curled lock specially front locks of woman.

On account of this similarity, people began to call the curled lock as alaka. The suffix 'Ka' only distinguishes the curled hair from the curved string of the scorpion:

Mallinath refers to alaka as 'स्वभाववक्राण्यलकानितेषाम्'. It was not necessary that

१. कर्पूरमञ्जरी १.२६.
२. उत्तररामचरित, ६. ३७,
३. पादताडितक (श्रीगरहटा,) पृ० १८५.
४. जानकीहरण १३. ३८.
५. उणादीसूत्रवर्ती पृ०. १४८.
६. शब्दकल्पद्रुम पृ० ११३.
७. कादम्बरी पृ० १८.
८. शब्दकल्पद्रुम, पृ० ११३ ।

every women must have been bestowed with curled hair by nature, hence, the woman who was devoid of natnral curled locks practised artificial means to show her hair in curled shape. Straight hair was less appreciated in acient time. therefore, several kinds cf aids were in vogue for the अलकरचना. Some of them are described below.

अलकचूर्ण

Several pastes and glue were popular for sticking the locks in the form of ringlets. 'अलकाश्चुर्णकुन्तला:' referred to by अमरकोश suggests that चूर्ण prepared with several chemicals were applied in केश by ladies to form their hair in twisted form: Camphor was also mixed in चूर्ण to do अलकरचना as mentioned in शब्दकल्पद्रुम.[1]

While describing alakas of Kerala women in रघुवंश कालिदास also referred to अलकचूर्ण.[2] The female toilet experts (प्रसाधिका) employed scented powder and paste in order to secure the effect of spiral twisting. In the description of यक्षिणी living tn separation from her hu,band, the poet styled her as लम्बालका that is long hair loosely falling on shoulders[3] since the devoted wife had denied to herself the luxury of toilet and her spartan bath had made the alaka hair rongh (परुष) for want of oil, thus letting it fall on the cheeks.[4]

In जानकीहरण the dropping of अलकचूर्ण in the eyes of her husband is mentioned.[5]

Saffron—

Saffron was also an aid meant for अलकरचना Kalidasa referred to अरुणचूर्ण applied in alakas. While depicting the bathing scene in रघुवंश Kalidasa describes the red drops of water falling down from the alakas of ladies because of the application of अरुणचूर्ण in their locks.[6] Here the wet alakas devoid of safforn have been described as वक्रेतर[7] because they are not natural curled but artifically made. Mallinatha comments अरुणचूर्ण as kumkuma.[8]

Application of Razor—

In ancient days alakas of women were also made with the help of barbar's instruments क्षुरकर्मालिकादियोजना. Abhinava Gupta referred to this act as क्षुरकर्म as अलकादि-

---

१. शब्दकल्पद्रुम भाग—१, पृ० ११३
२. रघुवंश, ४.५४
३. मेघदूत (उत्तर) २१.
४. मेघदूत २.२८
५. जानकीहरण १६·३१, कुमारसंभव ८·१६
६. रघुवंश १६·६६
7. वही
८. मल्लिनाथ रघुवंश १३·६६

योजना in नाटचशास्त्र.[1]

Painting Brnsh and colours—

Women were very much keen to their अलकरचना. Occasionlly in place of curled hair locks they painted them with brush and colours as is evident from जानकीहरण.[2]

Different forms of अलकरचना—

Alakaracana in several forms were invogue in ancient India.[3] Some of the popular types are given below :

Alaka Pallava—

Women used to put their front alakas in the shape of leaves.

Women in distressed did not do their alaka pallava रचना. The reference to 'विशीर्णपत्रावलीमण्डनानि' are found in Sanskrit Kavyas.[4]

अलकवल्लरी—

अलकवल्लरी was also a type of alaka रचना. Locks upon the face in the shape of creepers were regarded attractive. A number of adjectives used with alaka वल्लरी. Suggest that this type of alaka रचना was prevelet among the ladies of upper class. Alakas formed into वल्लरी's because of delicacy were capable of moving with a gust of wind.

These vallaries were painted into green colour so that it might be acknowledged directly as a creeper by the observer. In विक्रमाङ्कदेवचरित these green vallaries have been compared with moss. Instead of single women used to have a number of alaka-वल्लरी's on their face. कुमारदास has referred to many वल्लरी's on the face of Sita.[5] Fluttering alaka वल्लरी is described as 'व्यालोललालकवल्लरी'.[6] Sometimes vallaries entangled into each other look live a net.[7]

Alaka मालिका—

Women used to stick their front locks in the shape of a garland on there fore-head.[8] The, reference of 'कुन्तलमालिका' occurs in 'शृङ्गारतिलक'. [9]When separated from her

१. नाटचशास्त्र २१·७२
२. जानकीहरण १·३३
३. पदचूडामणी १·७३
४. विक्रमाङ्कदेवचरित १·५६
५. जानकीहरण ६·२३
६. मालतीमाधव १०·२
७. आदिपुराण ३७·४८
८. कर्पूरमञ्जरी २·२०
९. शृङ्गारतिलक १·६०

husband the well formed wreath of the lady hang down as 'व्यालम्बालकमालिका'.[1]

Alaka in Similies.

These are several similies for alaka given by different poets of Sanskrit literature. Mostly, similies are based on similarity in colour and form of alaka.

Upama with blaek bee.

It was the most favourite simile often used by poets as 'अलिपटनीलकुटिलामलकावली'[2] Ka'idasa points out the similarity between black bees and alakas. Sometimes, the beauty of the face covered with black alakas surpasses even the lotus surrounded with blackbees.[3]

Upama wlth cloud.

Poet's another favourite simile for alaka was black cloud. This simile was based mainly for the colour and density of the cloud 'घनालकाः' is referred to in 'पारिजातहरण'.[4]

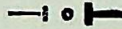
Upama with the trees of तमाल.

Poets compared alakas with तमाल trees mainly for the similarity in colour.

बाणभट्ट points out that the row of black alakas on the nayikas face is just like the forest of tamala on a seashore.[5]

Upama with black snakes.

Sometimes alakas were compared with the black serpants. In आदिपुराण the front alakas of the nayika have been compared with the newly born black snakes.[6]



१. शृङ्गारतिलक २·९९
२· कुट्टनीमत ११०
३. कुमारसंभव ७·१६
४. पारिजातहरण १·२
५. कादम्बरी पृ० ५४५
६. आदिपुराण ३७·४८

महावीर-दर्शन

डॉ० राजेन्द्र कुमार गर्ग

महावीरकाल में वैदिक कर्मकाण्ड की जटिलता, वैदिक यज्ञों में पशुबलि की प्रचुरता, ब्राह्मणधर्म की पाखण्डप्रियता और तज्जनित सामाजिक उच्छृङ्खलता की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उदित अजितकेश-कम्बलिन् के भौतिकवादी तथा उच्छेदवादी, मक्खलिगोशाल के नियतिवादी तथा संसारशुद्धिवादी, पूर्ण-कश्यप के अक्रियावादी, प्रक्रुध कात्यायन के शाश्वतार्थवादी तथा अन्योन्यवादी, संजयवेलट्ठिपुत्त के संशय-वादी और बुद्ध के क्षणिकवादी संघों का उल्लेख जैनागम साहित्य में मिलता है। इन सभी में विचार एवं आचार की इतनी बड़ी खाइयाँ थी कि ये कर्मकाण्डीय ब्राह्मणधर्म के विरुद्ध समवेत स्वर में एक सामाजिक क्रान्ति का उद्घोष न कर सके। इन संघों में वैयक्तिक चरित्र तथा सामूहिक संगठन का अभाव था। महावीर ने स्याद्वादी अथवा चतुर्यामसंवरवादी संघ की स्थापना कर वैयक्तिक तप, त्याग, वैराग्य, अहिंसा और चारित्रिक शुद्धता का आदर्श उपस्थित किया तथा संघ की समन्वयवादी उदार एवं श्लाघ-नीय पृष्ठभूमि पर विस्तृत योजना बनाकर सामाजिक एवं नैतिक क्रान्ति का ठोस कार्यक्रम प्रस्तुत किया। इसमें समस्त जातियों तथा वर्गों को प्रवेश का अधिकार था। महावीर साधनों की पवित्रता और कठोर आत्मसंयम के समर्थक थे। वे नग्न अर्थात् समस्त परिग्रह से दूर रहते थे। उनकी संघपरम्परा अत्यन्त कठोर नैतिक तथा आध्यात्मिक अनुशासन में निबद्ध होते हुए भी पर्याय विस्तृत एवं दीर्घकाय थी। उसमें चुने हुये तपोनिष्ठ आत्मसंयमी एवं विरक्त पुरुष थे। उसको आचार निष्ठा, कठोर अनुशासन और आध्यात्म-साधना के अनेक साक्ष्य जैन प्राकृत साहित्य में भरे पड़े है।

परिणामिनित्यवाद

महावीर ने वस्तुतत्त्व का सर्वांगीण साक्षात्कार किया था। उन्होंने प्रत्येक वस्तु को परिणामिनित्य बताया। इस जगत् में कोई द्रव्य या सत् नया उत्पन्न नहीं होता और जो द्रव्य या सत् विद्यमान हैं, उनमें प्रतिक्षण परिवर्तन होने पर भी उनका अत्यन्त विनाश नहीं हो सकता। चित्तसन्तति निर्वाणावस्था में शुद्ध हो जाती है, पर दीपक की तरह बुझकर अस्तित्वहीन नहीं होती।

जैन दर्शन के अनुसार सत् का लक्षण है—'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'। प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होता है विनाश को प्राप्त होता है, और ध्रुव भी रहता है। उत्पाद और विनाश से पदार्थ रूपान्तर को प्राप्त होता है, किन्तु ध्रुवता के कारण अपने मौलिक अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाये रखता है। जगत् में किसी भी तत्त्व का समूलोन्मूलन नहीं होता। यही ध्रुवता है। इसमें कूटस्थनित्यत्व जैसे शाश्वतवाद का प्रसंग है और न सर्वथा उच्छेदवाद का ही। मूलतः प्रत्येक पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप हैं।

अनेकान्तवाद

प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। उसमें विभिन्न दृष्टियों से, विभिन्न विवक्षाओं से अनन्त धर्म हैं। प्रत्येक धर्म का विरोधी धर्म भी दृष्टिभेद से वस्तु में सम्भव है। जैसे 'घटः स्यादस्ति' में घट अपने द्रव्य,

क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा से है, वैसे ही 'घटः स्यान्नस्ति' में घट दूसरे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा से नहीं भी है। यदि घट भिन्न पदार्थों का नास्तित्व घट में न पाया जाए तो घट और अन्य पदार्थ मिलकर एक हो जाएँ। अतः घट स्यादस्ति और स्यान्नास्ति रूप है। एक वस्तु में अनन्त सप्तभंग बनते हैं। जब इस घट के अस्तित्त्व का विचार करते हैं तो अस्तित्वविषयक सात भंग हो सकते हैं। घट के अस्तित्व का विचार करने पर पहला अस्तित्वधर्म, दूसरा नास्तित्वधर्म और तीसरा अवक्तव्यधर्म जैसे 'स्यादवक्तव्यो घटः' होगा जो वस्तु के पूर्णरूप की सूचना देता है। अस्ति और नास्ति की सामूहिक विवक्षा से चौथा भंग बनता है और अस्ति, नास्ति और अस्तिनास्ति को अवक्तव्य के साथ मिलाकर पाँचवे, छठे और सातवें भंग की सृष्टि होती है। यही अनेकान्तवादी सप्तभंगीन का सिद्धान्त है।

स्याद्वाद

वस्तु में अनेकांशता, अनेकात्मकता, अनेकान्तता और अनेकधर्मात्मकता के प्रतिपादन के लिए महावीर स्वामी ने एक विशेष प्रकार की भाषाशैली अपनायी थी। वह है—स्याद्वाद। स्याद्वाद अनेकान्त अर्थ का निर्दुष्ट कथन करने वाली भाषा है। प्रत्येक निर्णय में जिस धर्म का निरूपण होता है। उसके साथ 'स्यात्' शब्द का प्रयोग इसलिए किया जाता है कि सम्पूर्ण वस्तु कहीं उसी धर्मरूप में न समझ ली जाए अविवक्षित शेष धर्मों का अस्तित्व भी उसमें है, यह प्रतिवादन 'स्यात्' शब्द से होता है।

'स्यात्' शब्द का अर्थ है—अमुक निश्चित अपेक्षा से। 'स्यात्' का अर्थ न तो शायद है, न संभवतः और न कदाचित् ही 'स्यात्' शब्द सुनिश्चित दृष्टिकोण का प्रतीक है। यह सत्य का सूचक हैं। 'स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः'। अमुक निश्चित अपेक्षा से वस्तु ध्रुव है, और अमुक निश्चित अपेक्षा से उत्पादव्यय वाली। अपने मौलिक सत्त्व से च्युत न होने के कारण उसे ध्रुव कहते हैं। ध्रुव कहते समय अध्रुव अंश का लोप न हो जाए और अध्रुव कहते समय ध्रुव अंश का उच्छेद समझा जाए, अतः 'सिया' या 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

जैन दर्शन का यह एक मौलिक नियम है किसी भी सत् का सर्वथा उच्छेद नहीं हो सकता, वह परिवर्तित होकर भी अपनी मौलिकता को स्थिर रखता है। उदाहरणार्थ, परमाणु चाहे हाइड्रोजन बन जाए, चाहे जल बन जाये, चाहे पृथ्वी बन और चाहे अनन्त आकृतियों या पर्यायों को धारण कर ले, परन्तु अपने द्रव्यत्व या मौलिकतत्त्व को नहीं त्याग सकता। किसी भी लौकिक और पारलौकिक पदार्थ में इतनी शक्ति नहीं कि वह उस परमाणु के अस्तित्व को समाप्त कर सके। इसका तात्पर्य यह है कि इस जगत् में जितने सत् विद्यमान हैं, उनमें से एक भी सत् न्यूनाधिक नहीं हो सकता। यावत् सत् द्रव्यों के पारस्परिक संयोग-वियोग के आधार पर ही विश्व का निर्माण होता है।

जगत् का प्रत्येक सत् चाहे वह चेतनजातीय हो और चाहे अचेतनजातीय, परिवर्तनशील है। उसके प्रतिक्षण होते हुए भी उसका अत्यन्त नाश नहीं होता। कोई भी पदार्थ दो क्षण पर्यन्त एक पर्याय में नहीं रहता। प्रतिक्षण नूतन पर्यायों का आविर्भाव और पूर्वपर्यायों का तिरोभाव होता रहता है। मौलिक तत्त्व का अत्यन्तनाश नहीं होता, उसकी धारा प्रवाहित रहती है। उसमें रूपान्तर तो हो सकता है, किन्तु पदार्थान्तर नहीं, और न पदार्थविलय ही। इस संसार में अनन्त चेतन जीव और अनन्त जड़ अजीव मौलिक सत्

हैं। इनकी संख्या में ह्रास और विकास सम्भव नहीं है। सत् के प्रतिक्षण परिवर्तन में विश्व की कोई शक्ति गत्यवरोध उत्पन्न नहीं कर सकती क्योंकि परिवर्तन सत् का निसर्गसिद्ध स्वभाव है।

तत्त्वज्ञान

मुमुक्षु के लिए दुःख अर्थात् बन्ध, दुःख के कारण अर्थात् मिथ्यात्व आदि आस्रव, मोक्ष अर्थात् दुःखनिवृत्तिपूर्वक स्वरूप स्थिति और मोक्ष के कारण संवर बन्द के नूतन कारणों का अभाव और निर्जरा अर्थात् पूर्व संचित दुःख के कारणों का क्रमशः विनाश, इन पाँच तत्त्वों के ज्ञान के साथ ही साथ जिस जीव को यह सब बन्ध-मोक्ष होता है, उस जीव का ज्ञान भी अनिवार्य कहा गया है। शुद्ध जीव को बन्ध कदापि नहीं हो सकता। दो के संयोग से ही बन्ध होता है। अतः जिस कर्मपुद्गल से जीव बंधता है, उस अजीव तत्त्व को भी जानना आवश्यक है, जिससे जीव में रागद्वेषादि की धारा का आगे प्रसार न हो सके। फलतः मोक्ष के लिए जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, इन सप्ततत्त्वों का ज्ञान आवश्यक है।

जीव :

जीव स्वतन्त्र, चेतन, अनन्त, अमूर्त, कर्त्ता, भोक्ता, स्वदेहपरिमाणी, स्वयंप्रभु और निसर्गतः ऊर्ध्वगामी द्रव्य है। यह अनादि काल से पुद्गल से सम्बद्ध तथा स्थूल शरीर और सूक्ष्म कार्मण शरीर से बद्ध है। संसारी जीव शरीरबद्ध होकर ही अपनी गतिविधि करता है। इसके राग, द्वेष, मोह और कषायादि भावों से अशुद्ध होने के कारण ही इसका शरीर से सम्बन्ध चला आ रहा है। शुद्ध जीव में अशुद्ध होने का अथवा पुद्गलसंयोग का कोई कारण नहीं रहता। जीव और पुद्गल का अनादि बन्ध दो स्वतन्त्र सत्ताक द्रव्यों का बन्ध है जो स्वरूप-बोध हो जाने पर नष्ट हो जाता है। जीव का स्वरूप उपयोग है। जीव की चैतन्यशक्ति को उपयोग कहते हैं। यह चित्शक्ति बाह्य तथा आभ्यन्तर कारणों से यथासंभव ज्ञानाकार और दर्शनाकार पर्याय को धारण करती है। जिस समय यह चित्शक्ति ज्ञेय को जानती है, उस समय साकार होकर ज्ञान कहलाती है और जिस समय मात्र चैतन्याकार रहती है, तब दर्शन कहलाती है। ज्ञान तथा दर्शन क्रम होने वाली पर्यायें हैं। निरावरण अवस्था में चैतन्य अपने शुद्ध चैतन्य रूप में लीन रहता है। इस अनिर्वचनीय स्वरूपमा प्रतिष्ठित जीव मात्र दशा की ही संज्ञा निर्वाण है। निर्वाण अर्थात् वासनाओं का बुझना ही जीव की स्वरूप प्राप्ति हैं। स्वरूपतः अमूर्तिक होते हुए भी जीव अनादिकर्मबन्धन के कारण मूर्तिक है। कर्मबन्धन में नष्ट होते ही वह अपनी मूल अमूर्तिक दशा को प्राप्त हो जाता है। जीव अपनी शुभाशुभ परिणतियों का कर्त्ता है और उनके फलों का भोक्ता है। उसमें स्वयं परिणमन होता है। उपादान रूप से यही जीत राग, द्वेष, मोह, अज्ञान और क्रोध इत्यादि विकार-परिणामों को धारण करता है और उनके फलों को भोगता है। संसारावस्था के कर्मानुसार नानाविध योनियों में शरीर धारण करता है, परन्तु मुक्त होते ही स्वभावतः ऊर्ध्वगमन करता हुआ लोकाग्रभाग में स्थित सिद्ध लोक में स्वरूप प्रतिष्ठित हो जाता है। जीव अपने वास्तविक स्वरूप को विस्मृत कर पदार्थों में युष्मदस्मद्भाव के कारण स्वरूपच्युत होकर अशुद्धावस्था को प्राप्त होता है। इस अशुद्धावस्था का अवसान भी स्वरूपज्ञान से ही हो सकता है।

जीवतत्त्व के ज्ञान के साथ-साथ अजीव तत्त्व का ज्ञान भी अनिवार्य है। अजीवों के साथ सम्बन्ध से ही जीव विकृत होकर विभावपरिणित को प्राप्त होता है। अजीव पाँच हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। गतिशील जीव तथा पुद्गल के सहकारी कारण द्रव्यविशेष की संज्ञा धर्म है। स्थितिशील जीव तथा पुद्गल की स्थिति के सहकारी द्रव्यविशेष को अधर्म कहते हैं। जीवादि अस्तिकाय द्रव्यों को अवकाश प्रदान करने वाले द्रव्य का नाम आकाश है। परिणाम के साधारण कारण एक देशव्यापी अनस्तिकाव्य द्रव्य की संज्ञा काल है। पुद्गल उन द्रव्यों को कहते हैं, जिनमें पूरण और गलन क्रिया होती है। स्वरूप ज्ञान के लिये पुद्गल का विशेष ज्ञान अपेक्षित है। शरीर एक पुद्गलपिण्ड है। यह चेतनजीव के संसर्ग से चैतन्यसम्पन्न है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्शयुक्त अग्नि, जल, पृथ्वी और वायु सभी पदार्थ पौद्गलिक हैं। मुमुक्षु के लिए यह ज्ञान अनिवार्य है कि शरीर पुद्गलपिंड है और जीव इससे भिन्न है। जीव अपने सूक्ष्म कार्मण शरीर के अनुसार वर्तमान स्थूल शरीर के नष्ट हो जाने पर दूसरे स्थूल शरीर को धारण कर लेता है। संसारी जीव के सात्त्विक, राजस या तामस संस्कार शरीर की स्थिति के अनुसार विकसित होते हैं। अतः मुमुक्षु के लिए इस पोद्गलिक शरीर की प्रकृति का परिज्ञान स्वरूप प्राप्ति के लिए नितान्त आवश्यक है। कहने का अभिप्राय है कि जीव और अजीव तत्त्वों का यथार्थ दर्शन एवं ज्ञान हुए बिना बन्धपरम्परा कट नहीं सकती। इस तत्त्वज्ञान के अभाव में चरित्र की ओर जीव सोत्साह उन्मुख ही नहीं होता। चरित्र की प्रेरणा ज्ञान से मिलती है।

बन्ध :

बन्ध दो पदार्थों के विशिष्ट सम्बन्ध की संज्ञा है। बन्ध दो प्रकार का है—एक भावबन्ध और दूसरा द्रव्यबन्ध। जिन राग, द्वेष, मोह आदि विभावों से कर्मवर्गणाओं का बन्ध होता है, उन रागादि भावों को भावबन्ध कहते हैं और कर्मवर्गणाओं का आत्मप्रदेशों से सम्बन्ध होना द्रव्यबन्ध कहलाता है। द्रव्यबन्ध आत्मा और पुद्गल का है। भावबन्ध सांसारिक विषयों के प्रति रागद्वेष से जनित मानसिक भावों का जीव से सम्बन्ध है। बन्ध के पाँच कारण हैं—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। शास्त्रोक्त तत्त्वार्थों के अश्रद्धान अथवा विपरीत श्रद्धान को मिथ्यादर्शन कहते है। पाँच प्रकार के स्थावर तथा त्रस, इस प्रकार छह प्रकार के जीवों की हिंसा करना और पंचेन्द्रिय तथा मन को वश में न रखना अविरति है। जो आत्मा को कसे अर्थात् दुःख दे, वह कषाय है। मन, वचन और काय की वर्गणाओं का आलम्बन लेकर प्रदेशों में जो हलचलरूप क्रिया होती है, उसी का नाम योग है। कषाय से पुनः स्थितिबन्ध और अनुभाग-बन्ध और योग से पुनः प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध का उदय होता है। जितने समय विभिन्न प्रकार के कर्म आत्मा में उपस्थित रहते हैं, उतने समय बन्ध भी आत्मा में उपस्थित रहता है। बन्ध-कर्म के आत्मा में रुकने की अवधि को स्थितिबन्ध कहते हैं। ज्ञायावरणादि प्रकृतियों की तीव्र, मन्द और मध्यम रूप से फल देने की शक्ति को अनुभाग-बन्ध कहते हैं। कर्मों का ज्ञानावरण, दर्शनावरण और चरित्रावरण आदि स्वभावरूप होना प्रकृतिबन्ध है। योगों की विशेषता से त्रिकाल में आत्मा के समस्त प्रदेशों के साथ बन्ध को प्राप्त होने वाले ज्ञानावरणादि प्रवृत्तियों के कारणभूत सूक्ष्म और एकदेशवर्ती अनन्तानन्त पुद्गल-परमाणुओं को प्रदेशबन्ध की संज्ञा दी जाती है। केवली अर्थात् जीवन्मुक्त को रागादि कषाय नहीं होती,

अतः उनके योग के द्वारा जो कर्मपुद्गल आते हैं, वे द्वितीय समय में झड़ जाते हैं, उनका स्थितिबन्ध तथा अनुभागबन्ध नहीं होता। बन्ध प्रतिक्षण होता रहता है और उसमें अनेक प्रकार का परिवर्तन प्रतिलक्षण-भावी कषायादि के अनुसार होता रहता है। अन्त में कर्मशरीर की जो स्थिति रहती है, उसके अनुसार फल प्राप्त होता है। उन कर्मनिषेकों के उदय से बाह्य वातावरण पर वैसा-वैसा प्रभाव पड़ता है और अन्तरङ्ग में वैसे-वैसे भाव होते हैं। आयुर्बन्ध के अनुसार शरीर का त्याग करने पर उन-उन योनियों में जीव का नूतन स्थूल शरीर धारण करना पडता है। इस प्रकार यह बन्धचक्र जब तक राग-द्वेष-मोह वासनाएँ आदि विभाव-भाव हैं, निरन्तर चलता रहता है।

बन्ध हेतु आस्रव :

अनन्तानन्त काल से विश्व में जीव और पुद्गल द्रव्य लोकाकाश में विद्यमान हैं। इन्हीं के साथ-साथ जीवकृत भी कर्म भी है और अनादि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) भी जीव के साथ संलग्न है। जीव द्वारा सम्पन्न कर्मफल भी 'संस्कार' के रूप में पुद्गलों के साथ-साथ वर्तमान रहता है। अब प्रश्न यह उठता है कि कर्मफलों के साथ जीव का सम्बन्ध कैसे होता है? कर्म-पुद्गल, जड़ होने के कारण, स्वयं जीव में प्रविष्ट होने में असमर्थ है। अतः इनको परस्पर सम्बद्ध करने के लिये एक क्रियाशील तत्व की आवश्यकता है। महावीर ने मन, वचन तथा काय में क्रिया को स्वीकार किया है, जिसे 'योग' नाम दिया गया है। योग द्वारा कर्मपुद्गल जीव में प्रवेश करता है। कर्मपुद्गलों के जीव में प्रवेश करने से पूर्व योग द्वारा जीव के प्रदेशों में योग द्वारा स्पन्दन होते हैं। उन स्पन्दनों की क्रमशः 'मनोयोग', 'वाग्योग' तथा 'काययोग' संज्ञाएँ हैं। योग द्वारा कर्मपुद्गलों के जीव में प्रवेश का नाम आस्रव है। जिस प्रकार गीला वस्त्र धूलि को अथवा लोहे का तपता हुआ गोला जल को चारों ओर से ग्रहण करता है, उसी प्रकार कषाय से सन्तप्त जीव योग के निमित्त से आये हुए कर्मों का अपने समस्त प्रदेशों के द्वारा ग्रहण करता है। जिस प्रकार नदी में जल विभिन्न स्रोतों से आता है अथवा नौका में पानी छिद्रों में से प्रवेश करता है, उसी प्रकार कर्मपुद्गल आस्रव के द्वारा जीव में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार कर्मपुद्गलों के आत्मा से आस्रव से जीव बन्धन में पड़ जाता है। आस्रव को ही बन्धन का कारण कहा गया है।

जीव सक्रिय है। उसके प्रदेशों में स्पन्दन होता रहता है। यह स्पन्दन मुक्त जीव में भी निरन्तर होता रहता है। महानिर्वाण से कुछ समय पूर्व अयोगकेवली अवस्था के मन, वचन, काय का क्रिया का निरोध हो जाता है और जीव अपनी स्वरूपस्थिति को प्राप्त कर लेता है। सिद्धावस्था में जीव पूर्णतः विशुद्ध रूप में भासता है और उसमें कर्मजन्य मलिनता तथा योगजन्य चंचलता का लेशमात्र भी नहीं रहता।

आस्रव के मुख्यतः दो भेद हैं—भावास्रव और द्रव्यास्रव। जिन मिथ्यात्व आदि भावों से कर्म-पुद्गलों का आकर्षण होता है, उन्हें भावास्रव कहते हैं। तदनन्तर जीव में कर्मपुद्गलों का जो प्रवेश होता है, उसे द्रव्यास्रव की संज्ञा दी जाती है। जिस प्रकार गीले वस्त्र पर धूलिकण चिपककर एकत्र हो जाते हैं, उसी प्रकार कर्मपुद्गल जीव से संश्लिष्ट हो जाते हैं। वस्त्र का गीला होना 'भावास्रव' तथा उस पर धूलिकण का चिपक कर एकत्र हो जाना 'द्रव्यास्रव' कहा जा सकता है।

बयालीस प्रकार से कर्मपुद्गल जीव में प्रवेश करता है। अतः आस्रव के बयालीस भेद हैं, जिनमें मनोयोग, वाग्योग, काययोग, पंचज्ञानेन्द्रिय, चार कषाय तथा पंचमहाव्रतों का पालन न करना, ये सत्रह विशेष महत्त्व के आस्रव हैं। इनके अतिरिक्त पच्चीस छोटे-छोटे आस्रव होते हैं। ये सभी बन्धन के कारण हैं। मुमुक्षु को आस्रव तत्त्व का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। उसे यह जान लेना चाहिए कि उसकी किन प्रवृत्तियों से शुभास्रव होता है और किन किन प्रवृत्तियों से अशुभास्रव होता है। यह जान लेने पर ही वह अनिष्ट प्रवृत्तियों से अपनी रक्षा कर सकता है।

मोक्ष :

बन्धनमुक्ति की संज्ञा मोक्ष है। बन्ध के कारणों का अभाव अर्थात् संवर और पूर्वार्जित आत्म-प्रविष्ट कर्मपुद्गलों का क्षय अर्थात् निर्जरा होने पर समस्त कर्मों का समूलोच्छेद होना मोक्ष है। संसारावस्था में जीव की वैभाविकी शक्ति के विभावपरिणमन के निमित्त हट जाने पर मोक्षावस्था में उसका स्वभाव-परिणमन हो जाता है। विकार को प्राप्त हुए जीव के गुण पुनः अपनी स्वाभाविक अवस्था में आ जाते हैं। मिथ्यादर्शन सम्यग्दर्शन, अज्ञान ज्ञान और अचारित्र चारित्र बन जाता है। कहने का अभिप्राय है कि जीव का रूपपरिवर्तन हो जाता है। अनादिकाल से मिथ्यादर्शनादि के कारण अशुद्ध जीव निर्मल, निश्चल और अनन्तचैतन्यमय हो जाता है। वह अनन्तचतुष्टय—अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख–से सम्पन्न हो जाता है और भविष्य में उसका शुद्ध परिणमन ही होता है। यह जीव की निर्विकल्प, निस्तरङ्ग, असङ्ग और अनन्त चैतन्यमयी अवस्था है। निर्वाणावस्था में जीव का न तो अभाव होता है और न वह अचेतन ही हो जाता है। जीव एक स्वतन्त्र मौलिक द्रव्य है। उसका अभाव या उच्छेद असम्भव है।

महावीर ने मोक्ष दो प्रकार का बताया है—भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष। समस्त कर्मपुद्गलों के क्षय के फलस्वरूप जीव के स्वभाव परिणमन की संज्ञा भावमोक्ष है। भावमोक्ष की अवस्था में जीव सर्वज्ञ हो जाता है। यह जीवन्मुक्ति की अवस्था है। इसमें चार घातीय कर्मों का अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय का नाश हो जाता है। जीव से कर्मपुद्गलों का यथार्थ पार्थक्य ही द्रव्यमोक्ष है। परमसद्ध्यानयोग के द्वारा चिद्रूप आत्मा से समस्त कर्मजातियों का पार्थक्य ही द्रव्यमोक्ष कहलाता है। इसको प्राप्त करने के पश्चात् जीव पूर्णतः आत्मप्रतिष्ठित होकर ऊर्ध्वगमन कर जाता है। इस अवस्था में चार अघातीय कर्मों का अर्थात् आयु, नाम, गोत्र तथा वेदनीय का भी क्षय हो जाता है और जीव औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक तथा भव्यत्व भावों से भी मुक्त हो जाता है।

मोक्षहेतु संवर :

संवर का शब्दार्थ है—रोकना। सुरक्षा की संज्ञा संवर है। कर्मपुद्गलों के आस्रव के द्वार को रोकना संवर हैं। संवर को आस्रव का प्रतिपक्षी कहा गया है। आस्रव का मूलकारण योग है। अतः योग-निवृत्ति ही मूलतः संवर कही जा सकती है। जो जीव राग, द्वेष, मोह से छूटकर, सुख तथा दुःख में साम्य बुद्धि रखकर विकारों से रहित हो जाता है, उसकी आत्मा में कर्मपुद्गलों का प्रवेश और तज्जनित बन्धन नहीं होते। संवर के दो भेद हैं—भावसंवर और द्रव्यसंवर। जीव के जिन परिणामों द्वारा कर्मपुद्गलों का

आस्रव रुक जाता है, उन्हें भावसंवर कहते हैं। कर्मास्रवों के निरोध का कारण तथा जीव के राग, द्वेष तथा मोहरूप विकारों से विवर्जित चेतना का परिणाम ही भावसंवर है। द्रव्यकर्मों का आस्रव न होना ही द्रव्यसंवर है। पंचमहाव्रतों आदि सद्ध्यानों के द्वारा योगी जो समस्त कर्मास्रवों का निरोध करते हैं, वही सुख का भण्डार द्रव्यसंवर है। महावीर ने भावसंवर के सात भेद स्वीकार किये हैं—व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह और चरित्र।

व्रतः—आचारशुद्धि के साधनों को व्रत कहते हैं। ये व्रत पाँच हैं—अहिंसा (हिंसा का त्याग), सत्य (सदैव सत्य अर्थात् यथास्थितार्थ का कथन), अस्तेय (दूसरे के धन को मिट्टी के ढेले के समान समझना अथवा दूसरे के धन पर गिद्धदृष्टि न डालना), ब्रह्मचर्य (कामवासनाओं से विरति) और अपरिग्रह (सांसारिक वस्तुओं का संग्रह न करना)। इन पंचमहाव्रतों के पालन से जीव में कर्मपुद्गलों के प्रवेश का निरोध होता है।

समितिः—प्राणी-पीड़ा हरने के लिये सावधानी से कार्य करना समिति है। समिति के पाँच भेद हैं–ईर्यासमिति, (देखकर चलना), भाषासमिति (हित, मित तथा प्रिय वचन बोलना), एषणासमिति (विधिपूर्वक निर्दोष आहार ग्रहण करना), आदाननिक्षेपसमिति (देखकर तथा शोधकर धार्मिक कार्यों के लिये उपयोगी वस्तुओं को रखना) और उत्सर्गसमिति (निर्जन्तु स्थान पर मलमूत्रादि का विसर्जन करना)। आत्मा में कर्मपुद्गलों के प्रवेश को रोकने के लिये इन, पांच बाह्य साधनों को अपनाना चाहिए।

गुप्तिः—मनोयोग, वाक्योग और काययोग का सम्यक् प्रकार से निग्रह करना ही गुप्ति है। विषयाभिलाषा को छोड़कर और ख्याति, पूजा, लाभ आदि की आकांक्षा से रहित होकर मन, वचन और काय के व्यापार के निरोध की संज्ञा गुप्ति है। गुप्ति के तीन भेद हैं—मनोगुप्ति (मन के व्यापार का निरोध), वाग्गुप्ति (वाणी के व्यापार का निरोध) और कायगुप्ति (शरीर के व्यापारों का निरोध)।

धर्मः—आत्मस्वरूप में धारण करने वाले विचार और प्रवृत्तियाँ धर्म हैं। धर्म के दस भेद हैं—उत्तमक्षमा (क्रोध के कारणों के उपस्थित रहते हुए भी विवेकवारि से उसे शान्त करना), उत्तममार्दव (मृदुता, कोमलता, विनयशीलता और मानत्याग), उत्तमार्जव (मन, वचन और काय से छल-कपट आदि माया का त्याग), उत्तमसत्य (प्रामाणिकता, विश्वासपरिपालन तथा स्पष्टभाषण), उत्तमशौच (शुचिता, पवित्रता, निर्लोभवृत्ति तथा अप्रलोभन), उत्तमसंयम (इन्द्रियविजय, प्राणिरक्षण तथा हिंसापरित्याग), उत्तमतप (इच्छानिरोध), उत्तमत्याग (दान तथा स्वार्थपरित्याग), उत्तमाकिंचन्य (बाह्य पदार्थों में ममत्व-त्याग) और उत्तमब्रह्मचर्य (मन, वचन तथा काय से स्त्रीसेवन का परित्याग)। इन दश धर्मों के सम्यक् पालन से जीव में कर्मपुद्गलों का प्रवेश रुकता है।

अनुप्रेक्षा—सद्भावनाओं और आत्मविचार की ही संज्ञा अनुप्रेक्षायें हैं। अनुप्रेक्षायें बारह हैं—अनित्यानुप्रेक्षा (जीव के नित्यस्वरूप, ज्ञान और दर्शन को छोड़कर संसार में प्रत्येक वस्तु को अनित्य मानना), शरणानुप्रेक्षा (सत्य तथा धर्म को छोड़कर अन्य किसी की भी शरण में न जाना), संसारानुप्रेक्षा (संसार के जीवन-मरण के चक्र का विचार), एकत्वानुप्रेक्षा (जीव को अपने शुभाशुभ कामों का एकमात्र उत्तरदायी मानना), अन्यत्वानुप्रेक्षा (जीव का शरीर आदि से पृथक् विचार करना), अशुचित्वानुप्रेक्षा

(शरीर एवं शारीरिक वस्तुओं को अत्यन्त अपवित्र मानना), आस्रवानुप्रेक्षा (आस्रव के कष्टकर स्वरूप का विचार), संवरानुप्रेक्षा (कर्म के प्रवेश के निरोध की भावना), निर्जरानुप्रेक्षा (जीव के भीतर प्रविष्ट कर्मों से उत्पन्न वेदना के विपाक का विचार), लोकानुप्रेक्षा (शरीर तथा जगत् के पदार्थों की भावना), बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा (त्रिरत्नों को दुर्लभ समझने की भावना) तथा धर्मानुप्रेक्षा (धर्ममार्ग से च्युत न होना तथा धर्मानुष्ठान में स्थिरता लाने का विचार)। इन बारह अनुप्रेक्षाओं का सदा अनुचिन्तन तथा आचरण आत्मा में कर्मपुद्गलों का निरोध करता है।

परीषहः—मुक्तिमार्ग से च्युत न होने तथा कर्मों के क्षय के लिए सहन करने योग्य जो हों, उनकी संज्ञा परीषह है। साधक को किसी भी परिस्थिति में उत्पन्न कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने के लिए उद्यत रहना चाहिए तथा समस्त बाधाओं को शान्तिपूर्वक सहन करना चाहिए। परीषह के बाईस भेद है—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दशमशक (डांस-मच्छर), नाग्न्य (नग्नता को समभाव से सहन करना), अरति (इन्द्रियों को विषयों से विरत रखना), स्त्री (स्त्रियों के भ्रू विलास, नेत्रविकार, शृङ्गार आदि को देखकर अविकृत बने रहना), चर्या (देश-काल के अनुसार गमन करने में हुई क्लान्ति को सहन करना), निषद्या (निश्चित आसन से च्युत न होना), शय्या, आक्रोश (क्रोध), वध, याचना, अलाभ, रोग, तृण, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा (ज्ञान), अज्ञान और अदर्शन (चिरतपस्या के पश्चात् सिद्धि न मिलने पर भी निराश न होना)। इन सब बाधाओं पर विजय प्राप्त करने से चारित्र में दृढ़ निष्ठा होती है और इससे आस्रव का निरोध होकर संवर होता।

चारित्रः—सम्यक् आचार को चारित्र कहते हैं। अहितकर कार्यों का वर्जन हितकर कार्यों का आचरण सम्यक् चारित्र है। सम्यक् चारित्र के द्वारा जीव कर्मपुद्गलों से मुक्ति पा सकता है। चारित्र निर्वाण का साक्षात् कारण है। चारित्र के पाँच भेद हैं—सामायिक चारित्र (समभाव में रहना), छेदोपस्थापना (प्रमादवश अहिंसा आदि व्रतों में दूषण लग जाने पर शास्त्रोक्त विधि से उन दोषों का प्रायश्चित करके पुनः व्रतों को ग्रहण करना), परिहार-विशुद्धि (प्राणिवध से निवृत्ति के फलस्वरूप विशेष शुद्धि अर्थात् कर्मफलनाश), सूक्ष्मसाम्पराय (अति सूक्ष्म लोभकषाय का उदय रहना) और यथाख्यात (सम्पूर्ण मोहनीय के उपशम होने पर आत्मा की स्वरूपस्थिति)। इन पाँचों चारित्रों का सम्पादन करना मुमुक्षु के लिए परमावश्यक है।

निर्जरा :

हम देख चुके हैं कि आस्रवों के द्वारा कर्मपुद्गल जीव में प्रविष्ट होते हैं और संवर के द्वारा उनको रोका जाता है। समस्या यह खड़ी होती हैं कि जीव संवर के द्वारा कर्मों के स्रोत को आत्मा में प्रविष्ट होने से तो रोक लेता है; किन्तु जो कर्म उससे पूर्व ही आत्मा में प्रविष्ट हो चुके हैं तथा जिनके कारण वह जन्म-मरण के चक्र एवं सांसारिक सुख-दुःख के क्रम में फंस चुका है, उन कर्मों का आत्मा पर से प्रभाव कैसे मिटाया जाए। इसका समाधान है—निर्जरा। निर्जरा का शब्दार्थ है—झड़ना। उपात्त कर्मों के क्षय को निर्जरा नाम दिया गया है। फलभाग से कर्मों के संक्षय को भी निर्जरा कहा गया है। उदाहरणार्थ, जिस प्रकार अजीर्ण होने से पेट मल का जमाव हो जाने पर रोगी आहार का परित्याग कर

पाचनशक्ति को तीव्र करने वाले हरड़ आदि औषध को ग्रहण करता है और जब उस औषध के प्रभाव से मल गलकर बाहर निकल जाता है तब कहीं जाकर रोगी स्वस्थ होता है, ठीक उसी प्रकार यह भव्य जीव भी अजीर्ण को उत्पन्न करने वाले आहार के स्थानापन्न मिथ्यात्व, रागादि अशुभ भावों से कर्मरूपी मल का संचय होने पर मिथ्यात्व रागादि का परित्याग कर जीवन-मरण, लाभालाभ और सुख-दुःखादि में समभाव को उत्पन्न करने वाला, कर्ममल को पकाने वाला तथा शुद्धध्यानाग्नि को प्रज्वलित करने वाला परम औषध का स्थानापन्न महावीर-वचन रूप औषध का सेवन करता है और जब उस औषध के प्रभाव से कर्ममलों का विशरण एवं निर्जरण हो जाता है तब कहीं जाकर जीव अपने स्वरूप में स्थित हो पाता है। यही निर्जरा है। आत्मा दर्पण के समान है, जिस प्रकार धूल से आवृत्त होने पर दर्पण मलिन हो जाता है, उसी प्रकार कर्मरूपी धूल के संचय से आत्मारूपी दर्पण अस्पष्ट हो जाता है अर्थात् वह आत्मा मूर्तिक रूप में सांसारिक माया, मोह में जकड़ जाता है। निर्जरा द्वारा कर्मधूल के झड़ने पर आत्मा स्वच्छ अर्थात् शुद्ध अमूर्तिक दशा में पहुँच जाता है।

निर्जरा के दो भेद हैं—भावनिर्जरा। आत्मा में जिस भाव द्वारा यथासमय कर्मफल के भोग के पश्चात् तप द्वारा जो कर्मपुद्गलों का गलना है, उसे भावनिर्जरा कहते हैं। आत्मा से कर्मपुद्गलों के पूर्ण एवं यथार्थ विगलन को ही द्रव्यनिर्जरा कहते हैं। आत्मा की कर्मपुद्गलविहीन स्वरूपस्थिति द्रव्य निर्जरा है। भावनिर्जरा के दो भेद हैं—सविपाक निर्जरा तथा अविपाक निर्जरा। सविपाक निर्जरा को विपाकजा अथवा अकाम अथवा अनोपक्रमिक निर्जरा भी कहते हैं। स्वाभाविक क्रम से प्रति समय कर्मों का फल देकर झड़ जाना सविपाक निर्जरा है। यह सविपाकनि र्जरा हर समय हर प्राणी में होती रहती है और नूतन कर्म बँधते जाते हैं। अविपाक निर्जरा को सकाम अथवा औपक्रमिक निर्जरा भी कहते हैं। तप की शक्ति से अनुदित कर्मों को बलात् उदय में लाकर बिना फल दिये ही गला देना अविपाक निर्जरा है। गुप्ति, समिति आदि द्वादश अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग अग्नियों द्वारा कर्मों को उदयकाल से पूर्व ही भस्म कर देना अविपाक निर्जरा है। अविपाक निर्जरा मुनियों को ही प्राप्त है। मुनि आत्मा के पुरुषार्थ और तप की शक्ति द्वारा समस्त कर्मों को अन्तर्मुहूर्त में ही नष्ट कर सकता है। वैदिक दर्शन का यह सिद्धान्त कि सैंकड़ों कल्प व्यतीत हो जाने पर भी बिना भोग के कर्मक्षय नहीं हो सकता, भगवान् महावीर को स्वीकार नहीं। उनके अनुसार मुनि ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा समस्त कर्मों को क्षण भर में भस्म कर सकते हैं। जैनागमों में अनेक ऐसे दृष्टान्त मिलते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि केवल प्राक्साधनों के बल द्वारा साधु-दीक्षा लेते ही मुनियों को केवल ज्ञान प्राप्त हो गया।

मोक्ष के साधन

वैदिक ऋषि ज्ञान को मोक्ष का साधन मानते हैं और भगवान् महावीर चरित्र अर्थात् आचरण को मोक्ष का साधन स्वीकार करते हैं। वैदिक ऋषियों ने तत्त्वज्ञान के साथ ही साथ वैराग्य और संन्यास को भी मोक्ष का अंग माना है, किन्तु वैराग्य आदि का उपयोग उन्होंने तत्त्वज्ञान की पुष्टि में ही किया है। महावीर ने सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्ष का मार्ग माना है। ऐसा सम्यग्ज्ञान जो सम्यक्चारित्र का पोषक या वर्धक नहीं, मोक्ष का साधन कदापि नहीं हो सकता। जो ज्ञान जीवन में

उतरकर आत्मशोधन करे, वही मोक्ष का कारण है। अन्ततः सच्ची श्रद्धा और ज्ञान का फल चरित्रशुद्धि है। जीवनशुद्धि में प्रेरणा प्रदान करने वाला स्वल्प सा भी ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। अहिंसा, तप और संयम साधनात्मक वस्तुएँ हैं, ज्ञानात्मक नहीं। अतः महावीर ने कोरे ज्ञान को भार ही बताया है। तत्त्वों में सच्ची श्रद्धा अर्थात् धर्म श्रद्धा मोक्ष की पहली सीढ़ी है। आत्मा तथा शरीरादि परपदार्थों का स्वरूपज्ञान और भेदविज्ञान होन ही सम्यग्दर्शन है। आत्मस्वरूप का स्पस्ट दर्शन और उसमें जीवन्त श्रद्धा सम्यग्दर्शन है। इस ज्योति के जाग्रत होते ही साधक को आत्म कल्याण, समाजकल्याण, देशकल्याण और विश्वकल्याण का मार्ग स्पष्ट सुझने तथा भासने लगता है। अपने स्व से भिन्न भिसी भी पदार्थ की अपेक्षा दुःख की जननी है। सुख स्वाधीन वृत्ति में है।

स्वरूपज्ञान और स्वाधिकार मर्यादा का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, उसके प्रति दृढ़ श्रद्धा सम्यग्दर्शन है और तद्रूप होने के यावत्प्रयत्न सम्यक्चारित्र हैं।

कर्मसिद्धान्त

भगवान् महावीर ने घोषणा की थी कि प्रत्येक जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है। वह अपने भाग्य का विधाता और नियन्ता स्वयं है। वह कर्म का कर्त्ता और उसके फल का भोक्ता है। हमारा आज का किया हुआ कर्म कल दैव बन जाता है। पराकृत कर्म ही भाग्य, देव और विधि है। जो कर्म हमने किया है, जिसे हमने बोया है, उसे चाहें तो दूसरे क्षण ही उखाड़कर फेंक सकते हैं। हमारे हाथ में कर्मों की सत्ता हैं। उनकी उदीरणा (समय से पूर्व उदय में लाकर निर्जरण कर देना), संक्रमण (साता को असाता और असाता को साता बना देना), उत्कर्षण (स्थिति और फल देने की शक्ति में वृद्धि कर देना), अपकर्षण (स्थिति और फलदान शक्ति का ह्रास कर देना) उपशम (उदय में न आने देना), क्षय (नाश करना), उद्वेलन क्षयोपशम आदि विधि अवस्थाएँ हमारे पुरुषार्थ के अधीन हैं। हमारे कर्म हमारी हमारी क्रियाओं और विचारों के परिणाम हैं। प्रतिकूल विचारों के द्वारा पूर्वसंस्कारों को हटाया जा सकता है। कर्म की दशाओं में विविध परिवर्तन जीव के भावों के अनुसार प्रतिक्षण होते ही रहते हैं। इसमें नियतिवादिता के लिए शारीरिक बल की आवश्यकता नहीं, इसके लिए चाहिए आत्मबल। कर्म बन्धन आत्मा के ही विकारी भावों द्वारा आत्मा की ही निर्बलता से होता है। इसलिए इसकी निवृत्ति भी आत्मा के ही स्वभावों से, आत्मा के ही आत्मशोधन से हो सकती है। आत्मबल के रहते हुए कर्म व्यक्ति को प्रभावित नहीं कर सकता।

अहिंसा

भगवान् महावीर ने अहिंसा को परमधर्म कहा है। अहिंसा से उनका तात्पर्य जीवमात्र के प्रति अर्थात् त्रस और स्थावर सभी जीवों के प्रति हिंस्रवृत्ति के पूर्ण त्याग से था। सभी जीवों की समदृष्टि से देखने के कारण उन्होंने जीवों में पारस्परिक समादर, प्रेम और मैत्री को प्रस्फुटित होते हुए देखना चाहा। इस विश्व में न कोई ऊँचा हैं और न कोई नीचा, सब समान हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक जीव दूसरे के साथ आत्मवत् ही व्यवहार करे। देश, काल, वर्ण, जाति, रूप, रंग आदि को अपने आचरण में उतारना ही अहिंसा है। भगवान् महावीर महान् अहिंसक सन्त थे। उनका यह निश्चित सिद्धान्त था

कि विश्व में अहिंसा की स्थायी प्रतिष्ठा मनःशुद्धि और वाग्शुद्धि के बिना नहीं हो सकती। हम भले ही शरीर से दूसरे प्राणियों की हिंसा न करें, पर यदि हमारे बचन विषम और विचार विसंवादी हैं तो कायिक अहिंसा पल ही नहीं सकती। महावीर ने सर्वांगीण अहिंसा की साधना का वैयक्तिक और सामाजिक दोनों प्रकार का स्वानुभूत मार्ग सुझाया। उन्होंने पदार्थों के स्वरूप का यथार्थ निरूपण तो किया ही, साथ ही पदार्थों के सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् कथन का नया वस्तुस्पर्शी मार्ग बताया। यह महावीर की विशेषता है कि उन्होंने अहिंसा की तह तक पहुँचने के लिए केवल धार्मिक उपदेश तक ही अपने को सीमित नहीं रखा, अपितु वास्तविक स्थिति के आधार पर दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने के लिए मौलिक दृष्टि को अपनाया। न केवल मौलिक दृष्टि ही किन्तु मन, वचन और शरीर से होने वाली हिंसा को रोकने का प्रशस्त मार्ग भी उपस्थित किया।

उपसंहार

भगवान् महावीर का अवतार वैचारिक एवं चारित्रिक क्रान्ति के अग्रदूत के रूप में हुआ था। उन्होंने हमारे आचार और विचार के मानदण्डों में तो क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किया ही, जीवन-मूल्यों का भी संस्कार किया। विचार के क्षेत्र में अनेकात्मवाद एवं स्याद्वाद के सम्वयवादी तथा उदार सिद्धान्तों को जन्म दिया और आचार के क्षेत्र में समत्वदृष्टि एवं अहिंसा की चरित्रोन्नयनकारी एवं मानवतावादी दृष्टि भंगियों का मन्त्र फूंका। उन्होंने बौद्धिक, धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में अभूतपूर्व क्रान्ति उपस्थित की।

भगवान् महावीर का निश्चित मत था कि सामान्यतः समाज में संघर्ष या विकार का कारण बौद्धिक दुराग्रह और हठर्धमिता है। यदि पदार्थ के समस्त पक्षों को भली-भाँति देख लिया जाये तो कहीं न कहीं सत्य का अंश अवश्य मिल जाएगा। इस बौद्धिक दृष्टिकोण को ही महावीर ने अनेकान्तवाद की संज्ञा दी। आइन्स्टाइन का सापेक्ष्य-सिद्धान्त और शिलर का मानवतावाद इसी भूमिका पर खड़े हैं। आचार में अहिंसा और विचार में अनेकान्त की प्रतिष्ठा के द्वारा महावीर ने अपनी क्रान्तिमूलक दृष्टि को व्यन्पकता प्रदान की।

महावीर के समय में धर्म अपनी प्रकृति को भूलकर कर्मकाण्ड और वितण्डा में खो गया था। उन्होंने प्रेम, करुणा, मैत्री, दया, सहिष्णुता, उदारता, समता आदि मानव मन की महत्तम विभूतियों को पुनः प्राणप्रतिष्ठा का मानवमात्र को आत्मप्रवञ्चना और धर्मान्धता के पंक से उबारा और समत्वधर्म का का उपदेश दिया। उन्होंने बताया कि ईश्वर-प्राप्ति के साधनों पर किसी वर्ग विशेष अथवा व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं, वह तो मानवमात्र की सार्वजनिक सम्पदा है। ईश्वर-प्राप्ति अथवा अध्यात्मसाधना मानवमात्र का जन्मसिद्ध अधिकार है। व्यक्ति चाहे किसी भी वर्ग, लिंग या धर्म का हो, मन की शुद्धता और आचरण की पवित्रता के बल पर ईश्वरत्व की प्राप्ति कर सकता है। भगवान् महावीर ने ईश्वर को इतना व्यापक रूप प्रदान किया कि कोई भी साधक ईश्वर की प्राप्ति ही नहीं, स्वयं ईश्वर बन सकता है, क्योंकि ईश्वर के सभी तत्त्व प्रत्येक मानव में विद्यमान हैं। धर्म की इस उदात्त भावना से महावीर ने असहाय, निष्क्रिय एवं निराश जनता के मानस में शक्ति, आत्मविश्वास और उत्साह का स्फुरण किया।

महावीर ने देखा कि समाज में दो वर्ग हैं—एक कुलीन वर्ग है, जो कुलीनता के बल से शोषण

करता है और दूसरा निम्न गर्ग, जिसका शोषण किया जा रहा है। इसके लिए उन्होंने सामाजिक क्रान्ति का कार्यक्रम प्रस्तुत किया। आदर्श समाज की स्थापना के लिए व्यक्ति के जीवन में व्रत-साधना की भूमिका प्रस्तुत की। उन्होंने श्रावकों के लिए जिन बारह व्रतों का विधान किया, उनमें समाजवादी समाज-व्यवस्था के तत्त्व किसी न किसी रूप में समाविष्ट हैं। निरीह को दण्ड न देना, असत्य न बोलना, चोरी न करना, न चोर को किसी प्रकार की सहायता देना, स्वदार-सन्तोष के प्रकाश में काम-भावना पर नियन्त्रण रखना, आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना, न्याय-प्रवृत्ति के क्षेत्र की मर्यादा करना, जीवन में समता, संयम, तप और त्याग-वृत्ति को विकसित करा, इस व्रत-साधना के मूलभाव हैं। शक्ति और शील, प्रवृत्ति और निवृत्ति का अद्भुत सामंजस्य ही समाजवादी समाज-रचना का मूलाधार होना चाहिए। महावीर की यह सामाजिक क्रान्ति हिंसक न होकर अहिंसा-मूलक है, संघर्ष-मूलक न होकर समन्वयमूलक है।

भगवान् महावीर का मत था—सच्चे जीवनानन्द के लिए आवश्यकता से अधिक धन-संग्रह उचित नहीं। अनावश्यक धन-संग्रह करने पर व्यक्ति लोभ-वृत्ति की ओर अग्रसर होता है और समाज का शेष अंग उस वस्तु से वंचित रह जाता है। फलतः समाज में सम्पन्न और विपन्न दो वर्ग उत्पन्न हो जाते हैं और दोनों में संघर्ष हो जाता है। मार्क्स ने इसे वर्ग-संघर्ष की संज्ञा दी है और इसका हल हिंसक-क्रान्ति में ढूंढा है। पर, भगवान् महावीर ने आर्थिक वैषम्य मिटाने के लिए अपरिग्रह की विचारधारा प्रस्तुत की है। मार्क्स को आर्थिक क्रान्ति का मूल आधार भौतिक है, उसमें चेतना को नकारा गया है, जबकि महावीर की आर्थिक क्रान्ति चेना-मूलक है। इसका केन्द्रबिन्दु जड़-पदार्थ नहीं, वरन् व्यक्ति स्वयं है।

—— —

व्याकरण–विषयक अनुसन्धान : सर्वेक्षण और आवश्यकता

सत्यकाम वर्मा

पूर्वभूमिका :

एक समय था जब सर विलियम जोन्स की संस्कृत-लैटिन और ग्रीक भाषाओं की तुलना–विषयक एक उक्तिमात्र ने ही समस्त शिक्षित विश्व को चौंका कर रख दिया था। पश्चिम के नवोदित संसार की भारत-विषयक बढ़ती जिज्ञासा के दूसरे चरण में शॉपन हॉवर और मैक्समूलर जैसे महामनीषियों ने क्रमशः उपनिषद् और वेद के महत्त्व को विश्व साहित्य में सर्वोपरि घोषित किया है। गेटे जैसे कवि और विण्टरनित्ज एवं वेबर जैसे इतिहासकारों ने साहित्य की दृष्टि से भी संस्कृत को सर्वोन्नत घोषित किया, इसी द्वितीय चरण के अन्तर्गत ! किन्तु आज भी संस्कृत-विश्व के नव उदीयमान किसी क्षेत्र में यदि आशा की किरण के रूप में देखी और समझी जा रही है, तथा आरम्भ से भी जिस क्षेत्र में इसके कुछ धुरन्धरों को सर्वातिशायी घोषित किया गया, वह है 'व्याकरण' और 'भाषाविषयक अध्ययन' का नित्य प्रवर्धमान क्षेत्र। मुझे यह कहते तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं लगती कि डा० नोएम चोम्स्की या उनके समकक्ष अन्य समकालीन भाषाविद् और वैयाकरण जिन समस्याओं को आज भी नहीं सुलझा पा रहे, कदाचित् उन्हें उनका हल स्वयं ही सामने आता दिखाई देने लगेगा, यदि संस्कृत के व्याकरण से सही दिशा का ज्ञान प्राप्त करने का तनिक भी प्रयास करें।

गोल्डस्टुकर : एक प्रक्रिया का आरम्भ :

आज से लगभग दो शती पूर्व जर्मनी के एक विद्वान् गोल्डस्टुकर ने समकालीन उपलब्धि 'मानवधर्मसूत्र' की भूमिका लिखने के अपने सर्वश्रेष्ठ विश्लेषणात्मक प्रयास में अचानक ही संस्कृत जगत् को एक ऐसी देन दी थी, जिसने सिर्फ भावी अनुसन्धित्सुओं के लिए संस्कृत व्याकरण की तत्कालीन चार-दीवारी को तोड़ गिराया था, बल्कि व्याकरण के भावी विकास के लिए पूर्वभूमिका तैयार कर दी थी। इसी का एक अंश बाद में 'पाणिनि' के नाम से प्रकाश में आया, जिसे हम संस्कृत व्याकरण का सर्वप्रथम विश्लेषणात्मक एवं अनुसन्धानपरक इतिहास कह सकते हैं। प्रथम बार इसमें संस्कृत व्याकरण का ऐतिहासिक विकास खोजते हुए एक वैज्ञानिक विश्लेषण-प्रक्रिया अपनाने की कोशिश की गई। प्रथम बार विश्व के संस्कृतज्ञों के सम्मुख यह बात स्पष्ट हुई कि अपनी व्याकरणात्मक प्रतिभा से विश्व को चमत्कृत करने वाले पाणिनि से सदियों पूर्व से व्याकरण के विकास की एक अविच्छिन्न धारा बही आ रही थी। पाणिनि तो उसके समाहारकर्ता के रूप में आए थे, उद्घाटन-कर्ता के रूप में नहीं।

विहगावलोकन :

तब से आजतक दो सदी के इस सुदीर्घ कालान्तर में संस्कृत व्याकरण से सम्बद्ध अनुसन्धान के क्षेत्र में महान् एवं व्यापक प्रगति हुई है। इस सम्पूर्ण प्रगति को कई क्षेत्रों या विभागों में बांट कर ही इसका सही मूल्यांकन कर सकते हैं। ये विविध क्षेत्र हैं : **खोज एवं सम्पादन, विश्लेषणात्मक एवं**

तुलनात्मक मूल्यांकन, वैयाकरणिक एवं भाषाविज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन, दार्शनिक दृष्टि से अध्ययन, एवं ऐतिहासिक अध्ययन। कुछ अनुसन्धित्सुओं ने साहित्यिक एवं संस्कृतिक दृष्टि से भी व्याकरण-ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहा है। तथा कुछ ने उससे ऐतिहासिक तथ्यों को भी खोज निकालने का चमत्कार दिखाया है। हमें अपने इस संक्षिप्त विवेचन में इस सब का विहगावलोकन तो करना ही है, हमें उन सम्भावनाओं और आवश्यकताओं की भी चर्चा करनी है, जिनका हमें एतद्विषयक अध्ययन में निकट भविष्य में ध्यान रखना है।

ग्रन्थों और पाण्डुलिपियों की खोज :

नागेश भट्ट संस्कृत व्याकरण के लगभग अन्तिम महान् उद्धर्ता कहे जा सकते हैं। कौण्डभट्ट, स्वामी दयानन्द आदि का मूल्यांकन किसी और आधार पर करना अभीष्ट होगा। नागेश अट्ठारवीं शताब्दी के मध्य तक अपना कृतित्व और जीवन समाप्त कर चुके थे। सत्रहवी शती के मध्य जन्म लेकर अगली शती के मध्यान्तर तक उन्होंने संस्कृत व्याकरण को एकाकी ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृतियाँ प्रदान कीं। उनके ग्रन्थ-विश्लेषण की साक्षी पर यह तथ्य निर्विवाद कहा जा सकता है कि उनके समय तक व्याकरण के सम्प्रति अनुपलब्ध अनेक मूल ग्रन्थ और टीका-ग्रन्थ उपलब्ध थे। उनके महाप्रयाण के पचास वर्ष के भीतर ही कर्नल कोलब्रूक दक्षिण भारत पधारे और सन् १७८३–१८२५ के बीच अपने अन्य कार्यों के साथ संस्कृत में उपलब्ध सभी उपयोगी सामग्री के गुरुतर कार्य में जुट गए। उन्होंने अनेक लिपिकारों की सहायता से जिन अनेकानेक ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ तैयार कराई, उनमें से अनेक आज भारत में भले ही सर्वथा अनुपलब्ध हैं, पश्चिम के पुस्तकालयों में वे आज भी अनगाहे रूप में बिखरी पड़ी हैं। उनमें से केवल कुछ का ही सम्पादन हो पाया है; यद्यपि यह सम्पादन भी अत्यधिक सम्मार्जन की अपेक्षा रखता है। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि कलकत्ता और बनारस से उनके कुछ ही कालान्तर से 'सिद्धान्त-कौमुदी' 'पाणिनीय अष्टाध्यायी', 'पाणिनीय शिक्षा' एवं अन्यान्य व्याकरण-ग्रन्थों के जो संस्करण प्रकाशित हुए थे, वे अपने कुछ सम्पादित संस्करणों के सामने आने के बाद भी आज भी अपने मूल रूप में ही प्रायः सभी जगह अध्ययन-अध्यापन का माध्यम बने हुये हैं। आज जिस 'अष्टाध्यायी' को हम पढ़ाते हैं, उसके विषय में अनेक विवादों के विद्यमान रहने पर भी हम उसे ही परम प्रमाण मानकर चलते हैं। 'सिद्धान्त-कौमुदी' की रचना यद्यपि कालान्तर की दृष्टि से अभी हाल की घटना है, तब भी उस के किसी सर्वमान्य प्रामाणिक संस्करण का पठन-पाठन में समावेश अब भी अपेक्षित है।

मैंने ये दो ग्रन्थ केवल निदर्शन के रूप में ही गिनाए हैं। उस समय के तथाकथित सम्पादित ग्रन्थ भी कितने भ्रष्ट थे, इसका सर्वाधिक ज्वलन्त उदाहरण तत्कालीन बनारस-प्रकाशित 'वाक्यपदीय, पुणे से प्रकाशित 'महाभाष्य एवं कातन्त्र-चान्द्रादि अन्यान्य व्याकरणों के संस्करणों से लिया जा सकता है। वास्तव में तब से आज तक इन उपलब्ध ग्रन्थों की-नई-नई पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हैं, वे प्रायः उन्नीसवीं और बीसवीं शती के लिप्यन्तरण हैं। उनमें लिपिकारों का अज्ञान और प्रमाद यत्र-तत्र निर्बाध रूप में बिखरा पड़ा है। आवश्यकता इस बात की है कि अब भी पुराने दाक्षिणात्य, महाराष्ट्रीय एवं उत्तरांचल के विविध विशिष्ट घरानों की छान-बीन कराई जाए और अत्यधिक श्रम और सूझबूझ से अब तक उपेक्षित और

अज्ञात ग्रन्थ का खोज निकालने का यत्न किया जाए । इस कार्य में अत्यधिक समय और धन व्यय होने की सम्भावना है । पर हमें उसके लिए सन्नद्ध होकर आगे बढ़ना चाहिए ।

यहाँ मैं दो तीन उदाहरण ऐसे देना चाहूँगा, जिनसे इस विषय की वास्तविकता पर प्रकाश पड़ सकेगा । सबसे पहले मैं 'प्रातिशाख्यों' की बात लूँगा । इस समय तक मुख्य प्रातिशाख्यों में से कुल मिला कर छह प्रातिशाख्य ही मिलते हैं : ऋग्वेदप्रातिशाख्य, वाजसनेय प्रातिशाख्य, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, अथर्ववेदीय प्रातिशाख्य (पैप्पलाद ?), अथर्ववेदीय शौनकीय चतुरध्यायी, एवं ऋक्तन्त्र । इन में से प्रामाणिक सम्पादन की दृष्टि से केवल तीन को ही गिना जा सकता है (i) ऋग्वेदप्रातिशाख्य, जिसका सर्वप्रथम प्रामाणिक सम्पादन डा० मंगलदेव शास्त्री ने किया था और जिसका अधुनातम सम्पादक डा० वी०के० वर्मा ने किया है (ii) अथर्ववेदीय पैप्लाद या सर्वसामान्य अथर्व प्रातिशाख्य : जिसका सर्वोत्कृष्ट प्रामाणिक संस्करण डा० सूर्यकान्त ने सम्पादित किया था तथा (iii) ऋक्तन्त्र : डा० सूर्यकान्त ही जिसके सम्पादक रहे । शेष तीनों के अधुनातम प्रामाणिक संस्करण एवं सम्पादन की आवश्यकता पदे-पदे अनुभव होती ही रहती है । परन्तु इसके विषय में हमें आगे बढ़ कर यह कहना है कि जब-तब हमें 'मैत्रायणीय प्रातिशाख्य' की उपस्थिति एवं उसकी पाण्डुलिपि की उपलब्धि की चर्चा सुनने में आती है । यही बात 'आश्वलायन (ऋग्वेदीय) प्रातिशाख्य' के विषय में भी है । ये दोनों प्रातिशाख्य उपलब्ध होने पर कितने महत्त्व के होंगे, और वे कितनी नई सम्भावनाओं को जन्म देंगे, इसे शब्दों में आँकना सम्भव नहीं है । इसी प्रकार के कुछ अन्य प्रातिशाख्य भी अनगाहे पड़े हो सकते हैं । परन्तु कोई भी मनीषी अपना सब कुछ लुटाकर इन्हें खोजने के पीछे नहीं पड़ा है । लघु ऋक्तन्त्र, सामसप्तलक्षण, पुष्पसूत्र तथा अन्यान्य कतिपय लघुग्रन्थों की चर्चा इस प्रसंग में मैंने जानबूझ कर नहीं की है । इस प्रकार के ग्रन्थों की श्रेणी में तो अनेक पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध होते हुये भी उनका अध्ययन एवं सम्पादन नहीं हो पाया है । हमें इस दिशा में ध्यान देना चाहिए । पाणिनि-पूर्व व्याकरण की उपलब्धियों के सही-सही मूल्यांकन के लिए किया जाना नितान्त आवश्यक है, भले ही इनमें से अनेक कृतियाँ पाणिनि से परवर्ती काल की ही हों ।

इस प्रसंग में दूसरी चर्चा मुझे 'वाक्यपदीय' की करनी है । यद्यपि डॉ० ऐयर और डॉ० लिमये-आयंकर के संस्करणों के बाद इस विषय में पर्याप्त सन्तोष किया जा सकता है, तब भी अन्यान्य व्याकरण-ग्रन्थों में उपलभ्य तथाकथित भर्तृहरिप्रोक्त कारिकाओं एवं तिबती संस्करण में उपलब्ध कारिकाओं की छानबीन एवं विश्लेषण होना बाकी है ही । अभी हाल में कुछ विद्वानों ने इस विषय में फिर से हमारा खींचा है । उनके परिणाम और सुझाव विचार की अपेक्षा रखते हैं । इस विषय में भ्रम का निराकरण ध्यान कुछ सीमा तक तब हो सकता हैं,जब हम अट्ठारहवीं-उन्नीसवीं शती की सरलता से उपलभ्य प्रतियों से आगे बढ़कर सातवीं से दशवीं शती तक की पाण्डुलिपियों को खोजने का प्रयास करें, जिनके मिलने की सम्भावना या तो कश्मीर में की जा सकती है, या फिर दक्षिण में ।

मुझसे यहाँ भर्तृहरि की 'महाभाष्य टीका' का उदाहरण देने का लोभ संवरण नहीं हो पा रहा । आज विश्व भर में इसकी एक ही अपूर्ण एवं खण्डित पाण्डुलिपि विद्यमान है । यह जर्मनी के गौटिंजन वि० वि० में सुरक्षित है । इसकी ही फोटो-प्रतिलिपियाँ वहीं से विश्वभर के विद्वानों के पास पहुँची है । आज इसके ही दो संस्करण बनारस और पूना से पर्याप्त अन्तर के साथ प्रकाशित हुए हैं । मैंने अपने व्याकरण

के इतिहास-विषयक ग्रन्थ में इस बात की खुलकर चर्चा की है कि यह ग्रन्थ कम से कम नागेश के समय तक अवश्य ही विद्यमान रहा होगा। अनेक प्रमाण इस ओर भी इंगित करते हैं कि यह ग्रन्थ सम्पूर्ण महाभाष्य पर टीका के रूप में ही लिखा गया होगा। 'वाक्यपदीय' की रचना निश्चय ही इसके बाद इसी के दार्शनिक एवं भाषावैज्ञानिक विषयों को स्वतन्त्र क्रम में पुनः उपस्थापित करने के लिये हुई थी। स्वयं भर्तृहरि पदे-पदे कहते हैं : 'भाष्य में यह बात अधिक विस्तार से कही गई है।' निश्चय ही वे यहाँ महाभाष्य पर लिखे गये अपने भाष्य या व्याख्यान की चर्चा कर रहे हैं। उनके सबसे बड़े अनुयायियों एवं अनुकर्ताओं में से जिनेन्द्रबुद्धि, कैयट और हरदत्त मिश्र उनके ही भाष्य को पद-पद पर संक्षिप्त या उपसंहृत करते दिखाई देते हैं। सम्प्रति उपलब्ध भाग में भी अगले अध्याय में आने वाली चर्चाओं का संकेत यत्र-तत्र मिल जाता है। फिर भी कोलब्रुक के समय तक यह प्रति कुल प्रथम अध्याय के सप्तम आह्निक तक की पाण्डुलिपि के रूप में सीमित रह गई, यह परिणाम निकालने को मन सहज ही तैयार नहीं होता। कोलब्रुक के समय की बात मैंने जानबूझ कर की है। इस पाण्डुलिपि का लिपिकार भी वही 'राम' या 'श्रीराम' है, जिसने कोलब्रुक के आदेश पर अन्य अनेक ग्रन्थों का लिप्यन्तरण किया है। वह स्वतः व्याकरण की गहराइयों से पर्याप्त अनभिज्ञ रहा प्रतीत होता है। उसके लिप्यन्तरण से पता चलता है कि वह दसवीं-ग्यारहवीं शती या उससे पहले की किसी प्रति को देखकर लिप्यन्तरण कर रहा था। या फिर वह किसी ऐसी परवर्ती पाण्डुलिपि की नकल कर रहा था, जिसकी अपनी मूल प्रति इन सदियों की रही होगी। इस बात को लिपिक की परीक्षा के बाद मैं अपने एक शोध-पत्र में स्पष्ट कर ही चुका हूँ। अतः स्पष्ट है कि भले ही लिपिकर्ता या कोलब्रुक को पाण्डुलिपि का पूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध न रहा हो, तब भी वह उस समय तक विकृत या अविकृत रूप में उपस्थित अवश्य रहा था। क्या उसे कभी खोजने का कभी फिर कोई प्रयास हुआ।

इसी प्रसङ्ग में एक अधुनातम रचना का उल्लेख किये बिना नहीं रहा जाता। यह है 'लघुमंजूषा'। वास्तव में नागेश की 'वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा' एवं 'लघुमंजूषा' दोनों ही रचनाएँ एक ही भाष्य से अन्वित रही हैं। इन दोनों के कदाचित् एक-एक ही संस्करण प्रकाशित हुए हैं। वे भी पूरी तरह सम्पादित नहीं कहे जा सकते। सच तो यह है कि ये दोनों संस्करण भी सम्प्रति अनुपलब्ध ही हैं। कदाचित् इनकी पाण्डुलिपियों का भी अभाव हो गया है। आवश्यकता है कि दो सौ वर्ष के लगभग पूर्व लिखे गए इन दोनों ग्रन्थों का पुनरुद्धार पूर्ण वैज्ञानिक एवं विश्लेषणात्मक आधार पर होना चाहिए। यही बात पदमंजरी आदि के विषय में भी लागू होती है। इनकी अधिकाधिक पाण्डुलिपियों का संग्रह करके तुलनात्मक आधार पर इनके प्रामाणिक सम्पादन की तुरन्त आवश्यकता है।

यह तो बात है पूर्णतः या अंशतः उपलब्ध ग्रन्थों की। किन्तु भर्तृहरिकृत 'जैमिनीयसूत्रवृत्तिः', 'शब्दधातुसमीक्षा', एवं महावैयाकरण शाकटायन के अनुपलब्ध व्याकरण आदि ऐसे शतशः ग्रन्थों का उल्लेख करने की इच्छा होती है, जिनके विषय में यदा-कदा यह दावा किया जाता है कि वे उपलब्ध हैं, किन्तु जिनकी कोई भी पाण्डुलिपि विद्वानों के अवलोकनार्थ सर्वसामान्य की सम्पत्ति नहीं बन पाई है। ऐसी समस्त सूचनाओं को एकत्र करके उनकी छानबीन की आवश्यकता है। मेरे विचार में यदि कुछ आर्थिक

लाभ की आशा हो, तो कदाचित कुछ लोग अपने वंशानुगत् ग्रन्थकोशों से निकालकर हमें कुछ ऐसे अमूल्य ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ प्रदान करने को अवश्य तैयार हो जायेंगे। हमें इस दिशा में अत्यधिक सजग होने की आवश्यकता हैं।

सम्पादन : प्रामाणिकता

पहले और आज के सम्पादन-सम्बन्धी मानदण्डों में भी अन्तर आ चुका है। बनारस एवं कलकत्ता से सम्पादित अधिकांश संस्करणों में प्रायः आरम्भ में पाठ संशोधन सम्पादक की अपनी इच्छा या उसके ज्ञान की सीमा के आधार पर ही किया गया हमें मिलता है। उन आरम्भिक संस्करणों में विविध प्रतियों से मिलाने का भी कष्ट नहीं किया गया। बीच के युग में अनेकानेक पाण्डुलिपियों के मिलान और विश्लेषण पर अधिक बल दिया जाने लगा। परन्तु कई बार यहाँ बहुमत के सिद्धान्त को इस सीमा तक मान लिया गया, कि कुछ स्थलों पर निकाले गए निष्कर्ष सर्वदा उपहासास्पद प्रतीत होते हैं। प्रायः ही ऐसा होता है कि पाण्डुलिपि करते समय यदि एक मूल प्रति में कोई त्रुटि किसी भी कारण समाविष्ट हो गई है, तब उसके आधार पर तैयार की गई अन्य सभी प्रतियों में वही दोष अनायास ही आ जाता है; विशेषकर जबकि प्रतिलिपिकार पेशेवर एवं विषय से सर्वथा अनभिज्ञ हों। अब यदि उस ग्रन्थ की उपलब्ध अधिकांश प्रतियां उसी एक मूल स्रोत से जन्म लेकर इतस्ततः विकीर्ण हुई हैं, तब उन्हें हम किसी भी कोने से संचित करें उनमें एक समान दोष पाए जाएँगे। परिणामतः बहुमत में होने की स्थिति में हम ऐसे ही निष्कर्षों को सही मानने को विवश होंगे। कदाचित् इन्हीं त्रुटियों को लक्षित करके सम्पादन में दो अन्य तत्त्वों का भी समावेश किया गया : तुलना एवं विश्लेषण। हमें केवल एक ही स्थान में उपस्थित सन्देह को निराकृत करने के प्रयत्न में नहीं जुट जाना चाहिए। अपितु हमें अन्यत्र आए उसी प्रकार के स्थलों के प्रयुक्त रूपों पर भी विचार करना चाहिए। तुलना को केवल किसी ग्रन्थ के आन्तरिक परिवेश तक ही सीमित न रखकर हमें उस ग्रन्थ से प्रभावित या दूरान्तिक भाव से किसी तरह भी सम्बद्ध ग्रन्थों के क्षेत्र तक भी व्यापक कर देना चाहिए। आजकल ऐसा करने के अनेक शुभ परिणाम सामने आए हैं। परन्तु इस सब के साथ सम्पादक का अपना तद्विषयक ज्ञान भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होता है। उसे उसके माध्यम से निष्कर्ष निकालने के लिये सदा उद्यत रहना चाहिये। पिछले कुछ सम्पादनों में ऐसी विश्लेषणात्मक प्रतिभाओं ने अपनी वास्तविक कुशाग्रता का परिचय दिया है। अतः आवश्यकता रह जाती है कि जिन ग्रन्थों के संस्करण आरम्भिक या मध्ययुग के कहे जा सकते हैं, उन्हें फिर से नई सामग्री और सिद्धान्तों के प्रकाश में सम्पादित किया जाये। परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालने की शीघ्रता भी न करनी चाहिये कि आज के सम्पादित सभी ग्रन्थ सर्वथा त्रुटिहीन हैं। यदि एक ओर कातन्त्र, शाकटायन, आदि व्याकरणों के प्राचीन संस्करणों में अनेक त्रुटियाँ किन्हीं विशेष कारणों से आई हैं, तो माधवीया धातुवृत्ति क्षीरतरङ्गिणी, काशिका, आदि के नवीनतम संस्करणों में वैसी ही भूलें किसी अन्य कारण से हुई हैं। वास्तविकता तो यह है कि वैदिक, पाणिनीय और पाणिनीयेतर—सभी—व्याकरणों के पाठालोचन, संशोधन एवं सम्पादन की आवश्यकता अब भी उतनी ही उग्र है, जितनी आज से एक सदी पूर्व थी। आवश्यकता है कि कोई एक संस्था इस कार्य को विविधत् रूप में उठाए। धन की समस्या को आड़े न आने

देना चाहिये। यह स्मर्तव्य है कि यह समस्या प्रातिशाख्यों: पाणिनि-पूर्व व्याकरणों, पाणिनीय सम्प्रदाय के व्याकरण ग्रन्थों एवं अपाणिनीय उत्तर-पाणिनि व्याकरण ग्रन्थों के विषय में समान रूप से विद्यमान है। आज के विश्वविद्यालयों को अपने शोध-कार्यक्रमों में इस प्रक्रिया को योजना-बद्ध रूप में किसी न किसी भाँति अवश्य अपना लेना चाहिये।

विश्लेषणात्मक अध्ययन :

जहाँ तक व्याकरण-ग्रन्थों के विश्लेषणात्मक अध्ययन का प्रश्न है, इस प्रकार के अध्ययन का आरम्भ भूमिकाओं के रूप में हुआ था। यह बात गोल्डस्टकर के प्रसङ्ग में ऊपर कही जा चुकी है। लीबिख लुई रेणु, क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, सूर्यकान्त, व्हिटने, मङ्गलदेव शास्त्री आदि विद्वानों की विश्लेषणात्मक भूमिकाओं ने एक समृद्ध विश्लेषणात्मक साहित्य का शिलान्यास बहुत पूर्व ही कर दिया था। विश्वविद्यालयों में संस्कृताध्ययन के स्नातकोत्तर स्तर पर प्रवेश करते ही जैसे इस प्रकार के अध्ययन के द्वार ही उन्मुक्त हो गए। वास्तव में इसकी प्रेरणा साहित्य के क्षेत्र में किये गये इस प्रकार के अध्ययनों से प्राप्त हुई थी। व्याकरण के क्षेत्र में कीलहार्न की 'कात्यायन एण्ड पतञ्जलि' को एतद्विषयक आरम्भिक रचना कहा जा सकता है। यद्यपि उसे किसी शोध-परीक्षा की दृष्टि से नहीं लिखा गया था। महाभाष्य की उनकी भूमिका इसी अध्ययन-कोटि के अन्तर्गत आती है।

बाद में, इस प्रकार के अध्ययन कई दृष्टियों से किये जाने लगे। लक्ष्मण स्वरूप का यास्कीय निरुक्त का अध्ययन, सिद्धेश्वर वर्मा का यास्कीय निर्वचनों का अध्ययन, अपने क्षेत्र के अद्वितीय प्रतिमान माने जाते रहे हैं। तब से आज तक अष्टाध्यायी, महाभाष्य, काशिका, सिद्धान्तकौमुदी, व्यास या काशिका-विवरण-पंजिका, वाक्यपदीय, आदि अनेक ग्रन्थों का विश्लेषणात्मक अध्ययन हो चुका है और सम्प्रति भी हो रहा है। परन्तु ऐसा बहुत सा अध्ययन ऐतिहासिक विवरणों या तथ्यों मात्र तक ही सीमित रह जाता है। इस पर भी कुछ अध्ययन हैं जिनमें विश्लेषणात्मक परीक्षण के द्वारा पाठों एवं अन्य सम्बद्ध लक्ष्यों का विनिश्चय और विनिर्धारण किया गया है। ऐसे अध्ययनों को प्रोत्साहन देने की परम आवश्यकता है।

ऐसे अध्ययन वैयाकरणों के विषय में भी हुए हैं। हमने अभी कात्यायन और पतञ्जलि की चर्चा की है। अभी हाल में श्री माधवकृष्ण शर्मा ने भी पाणिनि, पतञ्जलि और कात्यायन के विषय में एक ऐसा ही विश्लेषणात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन किया है। इस प्रकार के अध्ययनों की संख्या दिनोंदिन बढ़ रही है। अभी हाल में भट्टोजिदीक्षित के सम्बन्ध में भी एक अध्ययन प्रस्तुत हुआ है। 'भर्तृहरि' को आधार बनाकर इसी प्रकार का एक विशेष अध्ययन का० सुब्रह्मण्य ऐयर ने भी किया है पाणिनि एवं पतञ्जलि के विषय में इस प्रकार के कई अध्ययन हुए हैं। पश्चिम में इस प्रकार के कार्य कुछ अधिक सीमित विषयों पर हुए हैं। परन्तु उनका लक्ष्य भी प्रधानतः विश्लेषणात्मक मूल्याङ्कन ही रहा है।

ग्रन्थों एवं लेखकों के इस विश्लेषणात्मक अध्ययनक्रम के अतिरिक्त विषय का भी समग्र रूप में या अंशतः बाँटकर अध्ययन हुआ है। ऐसे प्रयासकर्त्ताओं में सर्वश्री गौरीनाथ शास्त्री, कपिलदेव द्विवेदी, रामसुरेश त्रिपाठी, प्रभृति विद्वानों के नाम सादर और सगौरव लिए जा सकते हैं। इनमें से अनेक ने 'वाक्यपदीय' से प्रेरणा लेकर व्याकरण के विषयवार विवेचन को आधार बनाया है। अभी हाल में ऐसे प्रयासों में अनेक अनुसन्धित्सु छात्रों को अपने श्रम का फल मिला है।

तुलनात्मक अध्ययन :

ग्रन्थों, ग्रन्थकारों और विषय अथवा विषयांगों को लेकर भी, तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में भी पर्याप्त प्रगति हुई है। यहाँ तुलनात्मक अध्ययन से हमारा अभिप्राय किन्हीं दो वैयाकरणों या व्याकरणों के तुलनात्मक विवेचन और महत्त्वाङ्कन से है। ऊपर हमने कीलहॉर्न के 'पतञ्जलि और कात्यायन' तथा मा०कृ० शर्मा के 'पाणिनि' कात्यायन एण्ड पतंजलि' की चर्चा की है। उन्हें हमने विश्लेषणात्मक कोटि में रखना उचित समझा है। ऐसा इस कारण कि वहाँ किये गये अध्ययन में तुलनात्मक महत्त्वाङ्कन की अपेक्षा विश्लेषणात्मक आधार पर उनकी पूर्वापरता एवं पारस्परिक सम्बन्ध-विवेचन को अधिक महत्त्व दिया गया हैं। तुलनात्मक अध्ययन से हमारा अभिप्राय उस अध्ययन से है, जिसमें व्यक्ति की शैली, उसके वर्ण्य विषय, उसके विचारों की प्रगति, उसकी युग-सापेक्षता, उसकी पृष्ठभूमि एवं उसकी देन का महत्त्वाङ्कन हम किसी अन्य आचार्य के उन्हीं पक्षों की परस्पर तुलना में करते हैं। स्मरण रहे कि ऐसे अध्ययन में किसी व्यक्ति या आचार्य के महत्त्व को किसी अन्य की तुलना या उसके परिप्रेक्ष्य में आँकना मुख्य लक्ष्य होता है, जबकि विश्लेषणात्मक अध्ययन में तुलनात्मक शैली को अपना कर भी केवल व्यक्ति-विशेष के विचारों या उसकी देन की परीक्षा करना मुख्य लक्ष्य होता है। इस पर भी इसप्रकार के दोनों अध्ययनों के बीच कोई पूर्णतः विभाजक रेखा खींचना सम्भाव्य नहीं दीखता। सत्य यह है कि किसी भी अध्ययन में 'तुलना' का पुट आते ही वह अधिक महत्त्वपूर्ण और आधिकारिक प्रतीत होने लगती है।

इस पर भी इस प्रकार के पर्याप्त अध्ययन सामने आने लगे हैं। प्रक्रियाग्रन्थों का परस्पर तुलनात्मक अध्ययन अभी हाल में ही आरम्भ हुआ है। पर अब यह किंचित् त्वरित गति से होने लगा है। 'सिद्धान्तकौमुदी और प्रक्रियाकौमुदी का तुलनात्मक अध्ययन' इसी दिशा में एक अच्छा प्रयास कहा जा सकता है। अभी हाल में ही 'क्षीरतरङ्गिणी और माधवीय धातुवृत्ति' पर भी दिल्ली वि०वि० से एक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत हुआ है। इसप्रकार के तुलनात्मक अध्ययन में तुलनीय दोनों या सभी आचार्यों या ग्रन्थों का अपना-अपना महत्त्व पूरे रूप में सामने आना आवश्यक होता है। ऐसे अध्ययन में व्यापकता और पूर्णता का होना अत्यावश्यक होता है परन्तु कई बार ऐसा हो नहीं पाता है। व्याकरण के क्षेत्र में आचार्यों को लेकर ऐसे अध्ययनों की समृद्ध परम्परा अभी नहीं बनी है। हमें इस दिशा में भी जागरूक होना है। परन्तु इसकी पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए पहले एकाकी आचार्यों और एकाकी ग्रन्थों का अध्ययन होना अत्यावश्यक है। ऐसे अध्ययनों में यदि आरम्भ से ही भावी तुलना की सम्भावना को दृष्टि में रखकर बढ़ा जाए, तब आगामी तुलनात्मक अध्ययनों के महत्त्व की अपेक्षा हम अभी से कर सकते हैं। अन्यथा ऐसे अध्ययनों का भविष्य अधिक उज्ज्वल नहीं कहा जा सकेगा।

व्याकरणात्मक अध्ययन :

व्याकरणात्मक अनुसन्धान की दिशा में सर्वाधिक प्रगति व्याकरणात्मक एवं भाषावैज्ञानिक अध्ययन के दो क्षेत्रों में ही हुई है। यह बात दूसरी है कि 'व्याकरणात्मक अध्ययन' से जो अभिप्राय वर्तमान में लिया जाता है, वैसे अध्ययनों की अभी भी कमी है। इस दिशा में 'पाणिनीय', 'अष्टाध्यायी', 'महाभाष्य', 'काशिका', 'पदमंजरी', आदि सभी ग्रन्थों का अध्ययन विविध दृष्टिकोणों से हुआ है। कुछ ने यह अध्ययन

केवल उस-उस ग्रंथ की व्याकरणात्मक उपलब्धियों का विवरण देने के रूप में किया है। कुछ ने पूर्वापर तुलना के रूप में किसी विशिष्ट ग्रंथ के विशिष्ट व्याकरणात्मक घटक तत्त्वों का विवरणमात्र ही दिया है। कुछ ने सिद्धान्तगत उपलब्धियों का मूल्याङ्कन भी प्रस्तुत किया है। ये सभी प्रयत्न अपना-अपना महत्त्व रखते हैं। किन्तु इनमें से अनेक में एक कमी बार-बार अखरती है। वह यह कि बहुधा अध्ययन एकांगी होने के कारण निष्कर्ष भ्रामक रूप में भी निकाले गए हैं। यदि इसे अधिक स्पष्ट रूप में कहना हो, तो यह कहा जा सकता है कि प्रायः अध्येता स्वयं को अपने आधार ग्रन्थ तक ही सीमित रखकर उसमें वर्णित बातों को उस ग्रन्थ के रचयिता की निजी विशिष्ट उपलब्धियाँ मानकर उन्हें उसकी मौलिक देन घोषित कर बैठता है, जबकि वास्तविकता यह होती है कि उस ग्रन्थकार ने उन बातों को अपने समय में उपलभ्य किन्हीं प्राचीनतर ग्रन्थों से लिया होता है। हाँ, यह अवश्य होता है कि वह ग्रन्थकार उस या उन बातों को जिस ढङ्ग या बल के साथ प्रकट कर रहा होता है, वह पहले की अपेक्षा भिन्न होता है। श्री क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने अपने अमर ग्रन्थ 'टेकनीकल टर्म्स एण्ड टेकनीक ऑफ पाणिनि' में इस भ्रान्ति को एक विशेष दिशा में दूर करने का यत्न किया है। उनके इस प्रयत्न के बाद भी अब तक अधिकांश वैयाकरण पाणिनीय संज्ञाओं के विषय में यदा-कदा बहुत सी भ्रमपूर्ण बातें कहते रहते हैं। चट्टोपाध्याय अपनी बात को केवल पूर्वापर परम्परा के अध्ययन की सहायता से ही स्पष्ट कर पाए हैं। यही बात **पाणिनीय सूत्रों, काशिका, महाभाष्यप्रदीप, न्यास, पदमञ्जरी,** आदि की तथाकथित मौलिकता के सम्बन्ध में भी कही जा सकती हैं। पाणिनि ने अनेकों सूत्र प्राचीन परम्परा से यथावत् ग्रहण कर लिए हैं। **काशिका** और **महाभाष्यप्रदीप** पर स्थल-स्थल पर भर्तृहरि की **महाभाष्य-टीका** का स्पष्ट प्रभाव केवल सूक्ष्म पर्यालोचन के बाद ही खोजा जा सकता है। **न्यास** और **पदमञ्जरी** की अनेक मौलिकताएँ भर्तृहरि तथा चन्द्र आदि के प्रभाव से अनुगृहीत हुई हैं। परन्तु इन सब बातों को खोजने के लिए हमें सूक्ष्म तुलनात्मक अध्ययन करना' होगा।

यही बात वैयाकरणों की व्याकरणात्मक देन के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। पुराने तुलनात्मक अध्ययनों में कालक्रम और परस्पर उत्तमर्णता आदि के प्रश्नों के विनिश्चय पर अधिक बल रहा है। उसके लिए तुलनात्मक विश्लेषण की अधिक आवश्यकता रही है। किन्तु इधर हुए कुछ अध्ययनों में तथ्यात्मक और विवरणात्मक बातों को लेकर भी तुलनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति जगी है। इनमें निष्कर्ष निकालने पर अधिक बल नहीं रहा है। ऐसे अध्ययनों का भी अपना महत्त्व है। परन्तु अब तक ऐसे अध्ययन, चाहे वे विश्लेषणात्मक रहे हों या विवरणात्मक, केवल कुछ ही वैयाकरणों तक सीमित रहे हैं। **पाणिनि, कात्यायन** और **पतञ्जलि** के अतिरिक्त अन्य आचार्यों का तुलनात्मक अध्ययन अधिक नहीं किया गया है। आवश्यकता है कि **चान्द्र, जैनेन्द्र जैन शाकटायन** तथा **हेमचन्द्र** जैसे महान् वैयाकरणों का तुलनात्मक अध्ययन भी किया जाए। इन्हें हम प्रायः ही 'अपाणिनीय' करार दे देते हैं। आवश्यकता है कि इन सब का अध्ययन पाणिनीय व्याकरण में सुधार के लिए किए गये इनके प्रयत्नों की दृष्टि से किया जाए। तब हम सही रूप में जान सकेंगे कि एक ही उद्देश्य लेकर भी इस प्रकार के विविध प्रयत्नों को करने के पीछे केवल वैयक्तिक महत्वाकांक्षा ही कारण बनी थी, या वास्तव में ही इन प्रयत्नों के माध्यम

से पाणिनीय व्याकरण को पूर्णता तक पहुँचाने का गम्भीर प्रयास किया गया था ? ऐसे प्रयासों को कहाँ तक सफलता मिली, इस प्रश्न का उत्तर खोजने की शीघ्रता और व्याग्रता में हमें नहीं पड़ना चाहिए। अपाणिनीय परम्परा के व्याकरणों में भी 'कातन्त्र' का वास्तविक महत्त्व क्या है तथा उसका प्रभाव सारस्वतादि व्याकरणों पर कहाँ तक पड़ा है ? इस सबका सही मूल्याङ्कन तभी हो सकता है जब हम पहले उपर्युक्त रीति से उनकी शैली, विषय, सूत्र-रचना, आदि का तुलनात्मक अध्ययन कर लें। इस दिशा में हमें अधिक सजग होकर कार्य करना होगा। इस प्रसङ्ग में कारिका शैली में निबद्ध व्याकरणों के तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता भी उग्र रूप से अनुभव की जानी चाहिये। बोपदेव जैसे वैयाकरणों का निजी महत्त्व भी तभी सही रूप में सामने आ सकेगा।

इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन हमें शोध में किस प्रकार सहायता पहुँचा सकते हैं, इसके लिए मैं केवल दो भूमिकाओं की ओर ही संकेत करना पर्याप्त समझता हूँ, यद्यपि ऐसी भूमिकाओं की एक सुदीर्घ परम्परा हमारे सामने विद्यमान है। मेरा इंगित डा० सूर्यकान्त की 'अथर्ववेद प्रातिशाख्य' की भूमिका एवं डा० मनमोहन घोष की 'पाणिनीय शिक्षा' की भूमिका की ओर है। डा० सूर्यकान्त की भूमिका के साथ ही यदि हम डा० सिद्धेश्वर वर्मा की भूमिका को रखकर अध्ययन करें, तो हमें शिक्षा और प्रातिशाख्य ग्रन्थों के सापेक्ष महत्त्व को जानने में अधिक सुविधा रहेगी। दोनों ने ही दोनों विषयों को संस्पर्शी रूप में उठाया है। सूर्यकान्त की भूमिका का महत्त्व मूलतः प्रातिशाख्यों की प्राचीनता और अर्वाचीनता सिद्ध करने में है, जबकि सिद्धेश्वर वर्मा की भूमिका मुख्यतः शिक्षा-ग्रन्थों की प्राचीनता-अर्वाचीनता एवं उनके मूल स्वरूप के निर्धारण से अधिक सम्बद्ध रही है। मनमोहन घोष ने 'पाणिनीय शिक्षा' के ही विविध संस्करणों की तुलना के बाद कारिका-शैली में लिखित पाणिनीय शिक्षा को मूलग्रन्थ ठहराना उचित समझा है, जबकि उधर डा० रघुवीर एवं युधिष्ठिर मीमांसक जैसे विद्वान् सूत्र-शैली में निबद्ध 'शिक्षा' को ही मूलग्रन्थ ठहराते हैं। मनमोहन घोष की भूमिका अधिक व्यापक एवं ठोस आधार पर लिखी गई है; यद्यपि उसके निष्कर्षों से सबकी सहमति होना अनिवार्य नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्याकरणात्मक उपलब्धियों के अध्ययन के क्षेत्र में भी तुलनात्मक अध्ययन को आवश्यकता पड़ती ही है, यद्यपि ऐसे अध्ययनों में हमारा मुख्य उद्देश्य उस व्याकरण या वैयाकरण की अपनी विशिष्ट उपलब्धियों का मूल्याङ्कन ही रहता है। तुलना का पुट आ जाने से उन उपलब्धियों का सापेक्ष महत्त्व अवश्य सामने आता है।

इस प्रकार के व्याकरणात्मक अध्ययन विषयवार आधार पर भी किये जा सकते हैं। कुछ प्रयत्न इस दिशा में हुए भी हैं। पाणिनि की 'संज्ञाओं', 'कारक-प्रकरण', 'सूत्र-रचना', 'वर्णन-शैली' आदि को लेकर कुछ प्रयास हुए हैं। परन्तु इस दिशा में बहुत कुछ होना बाकी है।

भाषावैज्ञानिक अध्ययन : आधुनिक युग

पश्चिम के विद्वानों ने संस्कृत व्याकरण को जो बहुमुखी देनें दी है, उनमें से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष यही है। यद्यपि मैक्डॉनल और व्हिटने जैसे विद्वानों ने संस्कृत और वैदिक व्याकरणों को पश्चिमीय ढङ्ग से पुनर्ग्रथित एवं व्याख्यात करने में जो महान् श्रम किया है और तज्जन्य सफलता पाई है, उसे

दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता, तथापि संस्कृत व्याकरण के महत्त्व को भाषा वैज्ञानिक अध्ययन में सङ्ग्रथित करके उन्होंने इस निधि को अपूर्व निखार दिया है, उसके लिए संस्कृत व्याकरण के अध्येता को उनका चिर ऋणी रहना होगा। जिस पाणिनि के महत्त्व को पुनः स्थापित करने के लिये स्वामी दयानन्द जैसे वैयाकरण को सैद्धान्तिक युक्तियों का सहारा लेना पड़ा था, भाषा वैज्ञानिक अध्ययन में उसका ही उपयोग करके पश्चिम के विद्वानों ने उसके महत्त्व को सरलता से ही शतगुण घोषित कर दिया। भाषा वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से 'सिद्धान्त कौमुदी' न तो पाणिनीय 'अष्टाध्यायी' की प्रतिद्वन्दिता में कहीं ठहरती है और न सैद्धान्तिक दृष्टि से उसका कोई स्वतन्त्र महत्त्व सिद्ध होता है। यदि आज भी उसे हम अपने अध्ययनक्रम में स्थान दिये हुए हैं, तो वह उसके किसी सैद्धान्तिक महत्त्व या पृथक् व्यक्तित्व के कारण नहीं; बल्कि इस कारण कि हमने अब तक भी संस्कृत के व्याकरण को भाषा वैज्ञानिक आधार पर पढ़ना-पढ़ाना आरम्भ नहीं किया। ज्यों-ज्यों यह चेतना जागती जा रही है, भारतीय विश्वविद्यालय भी 'पाणिनीय अष्टाध्यायी' को ही अधिकाधिक महत्त्व देने लगे हैं। इसी भाषावैज्ञानिक अध्ययन की प्रवृत्ति का परिणाम है कि आज पश्चिम का विद्वान् ग्रीक और लातीनी व्याकरण की अपनी प्राचीन परम्पराओं की महत्त्वहीनता को स्वीकार करने लगा है और पाणिनीय शैली में अपनी भाषाओं की रचना प्रक्रिया के अध्ययन का प्रयास करने लगा है। मुझे पता नहीं कि हममें से कितनों ने श्री बोएम चोम्स्की जैसे विश्व-विख्यात वैयाकरणों और भाषाविदों के अधुनातम प्रयासों को विश्लेषणात्मक महत्त्वाङ्कन की दृष्टि से पढ़ा है। परन्तु जिन्होंने भी उसे पढ़ा और समझा हैं, वे इस बात से सहमत हुए बिना न रहेंगे कि 'स्ट्रक्चरल ग्रामर' या 'संरचनात्मक व्याकरण' मूलतः पाणिनीय शैली पर ही आधारित है। यही नहीं, पाणिनीय वाच्य-परिवर्तन शैली ने 'ट्रांसफौर्मेशनल ग्रामर' या 'रचनान्तरणी व्याकरण' के प्रवर्धन में मूलभूत प्रेरणा का काम किया है। क्या इतने से ही स्पष्ट नहीं है कि संस्कृत व्याकरण का अध्ययन अभी हमने न तो व्याकरणात्मक दृष्टि से ही अधिक गहराई के साथ किया है और न ही भाषा वैज्ञानिक महत्त्व की दृष्टि से! सच तो यह है कि संस्कृत व्याकरण के इस पक्ष को नए आवरण में प्रस्तुत करके चोम्स्की आज विश्व के सर्वप्रमुख भाषावैज्ञानिक बन गए हैं। मेरे इस कथन का यह आशय कभी नहीं कि ऐसा करते हुए चोम्स्की ने कोई नकल या अन्धानुकरण किया है। बल्कि यह कि पाणिनीय व्याकरण को व्याकरणात्मक दृष्टि से जितना उन्होंने समझा है, उतना अन्य लोगों ने नहीं; फिर भले ही उन्होंने संस्कृत व्याकरण का विधिवत् अध्ययन किया हो या नहीं। वैसे इस प्रसङ्ग में यह कह देना सर्वथा अनुपयुक्त न होगा कि इस दृष्टि से संस्कृत व्याकरण का अध्ययन और क्रियात्मक रूप में उसके आधार पर विश्लेषण की प्रक्रिया पश्चिम के आरम्भिक महान् भाषाविदों से ही आरम्भ हुई थी, जिनमें महामनीषी हम्बोल्ट, मैक्समूलर श्रोडर, श्लाइखर, फ्रांज बॉप, आदि के नाम आदर के साथ लिये जाने चाहिएँ। सच तो यह है कि संस्कृत व्याकरण के अध्ययन ने इस दिशा में आरम्भ से ही प्रेरणा-स्रोत का काम किया है। ध्वनि-नियमों के आविष्कारों में ग्रासमान और ओल्डनबर्ग जैसे महान् वेदविदों ने पूरा-पूरा योगदान दिया था। पश्चिम में मैक्समूलर जैसे परम वेदविद् ने ही आरम्भिक 'भाषाविज्ञान' का ग्रन्थ लिखा और भारत में स्वामीदयानन्द जैसे महान् वेदविद् को ही पाणिनि की सर्वोच्चता पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए धार्मिक कट्टरता जैसा रुख

अपनाना पड़ा। पर मैक्समूलर और दयानन्द के समय से आज **नोएम चोम्स्की** के समय तक पाणिनि का महत्त्वाङ्कन अनेकविध रूप में हो चुका है। उसकी व्याकरणात्मक प्रयुक्तियों के अध्ययन ने अनेक प्रकार की भाषावैज्ञानिक ग्रन्थियों को सुलझाने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। उदाहरणार्थ : लोप सम्बन्धी उसकी मान्यताओं ने केवल **जोशुआ** व्हाटमाऊ जैसे महान् गणितशास्त्री को ही चमत्कृत नहीं किया, बल्कि आज से वर्षों पूर्व आविष्कृत बोगाजकुई के शिलालेखों एवं हित्ती आलेखों की भाषा के अध्ययन में भी परम योगदान दिया है। उसकी संरचनात्मक एवं व्याख्यात्मक शैली ने बहुत सी नई मान्यताओं को जन्म देने में बहुत सहायता पहुँचाई है। वर्गीकरण की उसकी पद्धति ने भी वर्तमान भाषा-वैज्ञानिक चिन्तन को इस दिशा में पर्याप्त प्रभावित किया है। कहना न होगा कि केवल **एलन, थीमे**, **रेणु** और **जोशुआ** व्हाटमाऊ जैसे मध्यवर्ती विद्वानों को प्रभावित करके ही पाणिनि-व्याकरण अपने महत्त्व को समाप्त नहीं कर बैठा है, बल्कि वह आज भी नवीन से नवीनतर भाषा वैज्ञानिक चिन्तन का आधार बना हुआ हैं। सर्वश्री **कत्रे, शवारिया** ऐगुलेर, महावीर आदि कितने ही भारतीय और पाश्चात्य युवा विद्वानों के नाम गिनवाये जा सकते हैं, जिन्होंने इस परम्परा की धुरा को पूरी तरह उठाने का प्रयासों किया है। **पलसुले, विद्यानिवास मिश्र** आदि अन्य कई विद्वानों ने संस्कृत व्याकरण के अन्य कई पक्षों का भाषावैज्ञानिक आधार पर अध्ययन किया है। इनसे पूर्व भारत में ऐसे अध्ययन की परम्परा की नींव **भण्डारकर** जैसे विद्वानों के हाथ पड़ी थी। बीच के अनेकानेक मनीषियों ने उसे संवर्धित और पुष्ट किया।

क्रियात्मक महत्त्व की दृष्टि से इस दिशा में डा० रघुवीर के नाम को विस्मृत और उपेक्षित नहीं किया जा सकता। आज जो भी भारतीय तकनीकी शब्दावली बनकर आ रही है, उसका मूल उत्स इसी दिवंगत विद्वान् के उस महाप्रयास में स्थित है, जिसे उसने पाणिनीय व्याकरण और उसके प्रत्यय-निचय से सहायता लेकर अकेले ही निभाने का संकल्प किया था और जिस संकल्प को वह अपनी अन्तिम साँस तक निभाते रहे।

भाषावैज्ञाविक अध्ययन : प्राचीन युग—

परन्तु पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' के इसभाषा वैज्ञानिक अध्ययन की प्रक्रिया केवल इसी युग में सर विलियम जोन्स के ध्यानाकर्षण के बाद ही आरम्भ हुई हो, ऐसी बात नहीं है। पाणिनि के दिवंगत होने के कुछ वर्षों के भीतर ही उसके एतद्विषयक महत्त्व को समझा जाने लगा था। **पतंजलि** इस प्रकार के उत्तर-पाणिनि विचारकों में प्रथम थे। बाद के विचारकों में **भर्तृहरि** का नाम सर्वप्रमुख रूप में लिया जा सकता है। उनके सदियों बाद **भट्टोजि, नागेश** और **कौण्डभट्ट** आदि ने भी इस दिशा में सराहनीय कार्य किया। किन्तु पतंजलि और भर्तृहरि के अतिरिक्त जितने भी इस कोटि के विचारक हुए, उन्होंने उसी दार्शनिक गहनता का अवगाहन किया, जिससे मुक्ति दिलाना इन दोनों महान् आचार्यों का लक्ष्य रहा था। पर व्याकरण के प्रति यह दृष्टि पाणिनि को अपने से भी पूर्ववती एक सुदीर्घ परम्परा से प्राप्त हुई थी। **शाकटायन, गार्ग्य, औदुम्बरायण, यास्क** और **व्याडि** जैसे ऐसे अनेक आचार्य हुए जिन्होंने व्याकरणात्मक ग्रन्थियों को उस पद्धति से सुलझाने का यत्न किया, जिसे आज हम **भाषावैज्ञानिक पद्धति** कहते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि व्याकरण पर भाषावैज्ञानिक दृष्टि से विचार की प्रक्रिया बहुत पहले से ही, लगभग भारतीय व्याकरण के विकास के समकाल से ही, चली आई है। यह कम आश्चर्य का विषय नहीं है कि एक ओर भट्टोजि जैसे महामनीषी ने अपने से पूर्ववर्ती प्रक्रिया-पद्धति को 'सिद्धान्तकौमुदी' के रूप में ढालकर संस्कृत व्याकरण को सदा-सदा के लिए गतानुगतिक बनाने का दोषारोपण अपने सिर पर लेना स्वीकार किया, वहीं दूसरी ओर उन्होंने ही अपने 'शब्दकौस्तुभ' में उसी संस्कृत व्याकरण का भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से भी अध्ययन प्रस्तुत किया। उनका यह अध्ययन बहुत सी बातों के लिए अब भी अनुकरणीय कहा जा सकता है। निस्सन्देह, इसे शुद्ध भाषावैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। इसमें दार्शनिक युक्तिक्रम अनेकत्र प्रधान हो उठा है।

आवश्यकता है कि इस दिशा में अधिकाधिक कार्य भारतीय मनीषा भी करे, क्योंकि अपनी धरोहर की व्याख्या इस नई दृष्टि से भी करने में वही प्रतिभा अधिक सफल एवं समर्थ हो सकेगी।

दार्शनिक दृष्टि से अध्ययन

भाषा का दार्शनिक दृष्टि से अध्ययन, पश्चिम में पिछली अर्धशती में लगभग दो सहस्र वर्ष बाद पुनरुजीवित हुआ है। अरस्तु और उसके अनुयायियों के बाद सदियों तक भाषा के दार्शनिक अध्ययन का कोई गम्भीर प्रयास पश्चिम में नहीं हुआ था। इधर भारत में अरस्तू से भी अनेक शती या सहस्राब्दी पूर्व इस परम्परा का विकास हो चुका था और काल-प्रवाह में बढ़ती हुई यह परम्परा बाद में गहन तर्क-जाल में उलझकर कभी विलुप्त और कभी प्रकट होती रही। नागेश और कौण्डभट्ट संस्कृत की इस व्याकरण की इस परम्परा के इधर के छोर पर ठहरते हैं। इसका आरम्भ और उद्गम स्वयं वैदिक चिन्तन में ही हुआ दीखता है। अतः आज जब, पश्चिम से प्रभावित होकर ही सही, कोई भारतीय मनीषी इस प्रकार के चिन्तन में व्यापृत होता है, तब वह अपनी ही धरोहर के उत्तराधिकार को वहन करने को तत्पर होता है। सौभाग्य से इस दिशा में नवीन भारतीय चेतना पूरी तरह से सजग है।

परन्तु, यह सब बात तो भाषा के सम्बन्ध में दार्शनिक चिन्तन की है। प्रस्तुत प्रसंग में हमारा विचार्य विषय संस्कृत व्याकरण के दार्शनिक अध्ययन की परम्परा और उसका वर्तमान स्वरूप है। यह बात बहुत अंश तक सही है कि 'भाषा-सम्बन्धी दार्शनिक-चिन्तन' और 'व्याकरण-सम्बन्धी दार्शनिक चिन्तन' के बीच किसी प्रकार की स्थाई विभाजक रेखा खींचना असम्भव है। वास्तव में, व्याकरण भी मूलतः 'भाषा-सम्बन्धी चिन्तन' ही है। यदि कोई अन्तर इन दोनों के बीच स्थूलतः कहा ही जा सकता है, तो वह भारतीय परम्परा में आरम्भ से मान्य व्याकरण की मूल धारणा के आधार पर ही हो सकता है। 'व्याकरण' को मैंने अन्यत्र 'भाषा का आकार-चिन्तन' नाम दिया है : 'आक्रियन्ते व्याक्रियन्ते वा शब्दा अनेन अस्मिन् वा'। शब्दों के आकार-चिन्तन के प्रसंग में जिन-जिन धारणाओं से भी हमारा सम्पर्क होता है, उन सब पर युक्तिवाद का आश्रय लेकर जिज्ञासात्मक दृष्टि से विचार करना ही व्याकरण का दार्शनिक चिन्तन कहा जा सकता है। इस दृष्टि से शाकटायन ने जब 'नामान्याख्यातजानि' कहा था, तब वह इस कोटि की सर्वप्रथम उद्घोषणा थी। उससे पूर्व भरद्वाज ने 'आख्यात' के सम्बन्ध में और इन्द्र ने 'पद' के सम्बन्ध में इसी प्रकार की विचारात्मक और विचारोत्तेजक उद्घोषणाएँ की थीं। 'भावप्रधानमाख्यातम्', 'सत्वप्रधानानि

नामानि', 'षड्भावविकारा भवन्ति', 'इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणस्तत्र चतुष्टत्वं नोपपद्यते', आदि धारणाएँ इसी प्रकार की पाणिनि-पूर्व दार्शनिक विचाराधारा का प्रतिनिधित्व करती हैं। आकार-चिन्ता के इस प्रसंग की की सबसे बड़ी उपलब्धि मेरी दृष्टि में 'शब्दसामान्यत्वात्' की वह उक्ति है, जिसे 'वेद' और 'लोक' में प्रयुक्त शब्दों की हर प्रकार समानता सिद्ध करने के लिए प्रातिशाख्यकार कात्यायन और यास्क ने समान रूप से अपनाया था। इसी उक्ति ने कौत्स की 'मन्त्राणामानर्थक्यम्' की उद्घोषणा को महान् अवैज्ञानिक सिद्ध कर दिया था। अपनी अमर कृति महाभाष्य में पतंजलि ने पाणिनि के व्याकरण में अन्तर्हित इस प्रकार के चिन्तन को स्थल-स्थल पर भाषा-सम्बन्धी दार्शनिक चिन्तन के साथ-साथ समाहित किया है। इसी परम्परा में चलकर दुर्गाचार्य ने 'यास्कीय निरुक्त' की अपनी 'दुर्गवृत्ति' में भाषा-चिन्तन किया है, किन्तु, इस प्रकार के दार्शनिक चिन्तन को पूर्णता तक पहुँचाने का श्रेय महान् भाषाविद् भर्तृहरि को ही दिया जाना चाहिए, जिसने प्रथम बार व्याकरण के सम्पूर्ण चिन्तनीय विषयों पर एकत्र ही 'वाक्यपदीय' के तृतीय काण्ड के रूप में क्रमबद्ध रूप से विचार किया। इस काण्ड के चौदह समुद्देशों में शब्दों के प्रयोग और आकार-चिन्तन से सम्बन्ध प्रायः सभी विषयों पर उन्होंने विचार किया है। इसकी मूल प्रेरणा उन्हें 'महाभाष्य' पर अपनी टीका लिखते समय प्राप्त हुई, यद्यपि इस प्रेरणा का स्रोत, पतंजलि की भाँति, उनके लिए भी व्याडि का 'शब्दसंग्रह' ही रहा। 'दुर्गवृत्ति' से भी वे अपने चिन्तन में अत्यधिक प्रभावित हुए। पदरचना, पदभेद और अर्थवृत्ति से सम्बन्ध कोई व्याकरणात्मक पक्ष ऐसा नहीं छूटा है, जिस पर इस काण्ड में भर्तृहरि ने विचार न किया हो। इसी ग्रन्थ के पहले दोनों काण्डों में उनका दार्शनिक चिन्तन भाषा-सम्बन्धी विषयों से ही सम्बद्ध रहा है। इस प्रकार अकेले भर्तृहरि ही ऐसे वैयाकरण ठहरते हैं, जिन्होंने 'भाषा' और 'व्याकरण' दोनों के ही दार्शनिक पक्षों पर पूरी तरह विचार किया है। यह सत्य है कि दोनों प्रकार का उनका यह चिन्तन आज के भाषावैज्ञानिक चिन्तन में समान रूप से और एकत्र ही समाहित हो सकता है। परन्तु यह बात उनके परवर्ती उन विचारकों के विषय में सर्वथा नहीं कही जा सकती, जिन्होंने दार्शनिकता के युक्तिक्रम को कई स्थलों पर इतना गहन बना दिया है कि वह अनेकत्र अवैयाकरण एवं अवैज्ञानिक प्रतीत होने लगा है।

इससे हटकर भाषा-सम्बन्धी एक अन्य प्रकार का दार्शनिक चिन्तन भी भारत में होता रहा है। न्याय और मीमांसा दोनों ही दर्शन-धाराएं इस प्रकार के चिन्तन को बढ़ाने में सहायक हुई हैं। वर्तमान में भी इस प्रकार का चिन्तन कुछ उन पाश्चात्य विद्वानों ने किया है, जिनका व्याकरण से दूर का भी नाता नहीं रहा है। बर्ट्रेण्ड रसल का नाम इस दिशा में सर्वप्रधान लिया जा सकता है। समाज और संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में भी इस प्रकार का चिन्तन पश्चिम में अत्यधिक किया जा रहा है। परन्तु उस सब विस्तार में जाना यहाँ अप्रासंगिक ही माना जाएगा। यहाँ तो हमें पश्चिम के उस आधुनिक साहित्य की ओर इंगित करना है, जिसका पुनरुद्धार ओत्तो येस्पर्सन ने अपनी 'फिल्लासफी ऑफ लैंग्वेज' में किया तथा जिसे ब्लूमफील्ड, ब्लॉख, दे सौस्यूर, आदि ने आगे बढ़ाया। भारत की मनीषा ने भी इस दिशा में पर्याप्त चिन्तन-सामग्री प्रस्तुत की है। पी० सी० चक्रवर्ती, गौरीनाथ शास्त्री, बाबूराम सक्सेना, सुब्रह्मण्य ऐयर, कपिलदेव द्विवेदी, रामसुरेश त्रिपाठी, आदि कुछ नाम इस प्रकार के हैं। थोड़ा-बहुत चिन्तन मैंने भी अपने ग्रन्थों में इसी आधार पर करने का यत्न किया है। दर्शन के आधार पर किये जाने वाले अन्य कई प्रयत्नों

का हमने इस प्रसंग में जानबूझकर उल्लेख नहीं किया है। अन्यथा रामचन्द्र पाण्डे जैसे विद्वानों ने पश्चिम के तत्सदृश प्रयासों के समकक्ष ही शुद्ध दार्शनिक आधार पर भी भाषा-चिन्तन किया है। परन्तु उसका व्याकरणात्मक चिन्तन से सम्बन्ध न होने के कारण हमने उसे अपने विचार-क्षेत्र से बाहर रखा है।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन

व्याकरण के सांस्कृतिक अध्ययन की एक दिशा आज से बहुत दिन पूर्व **युधिष्ठिर मीमांसक** ने दिखाई थी, जो महामनीषी गोल्डस्टुकर की परम्परा में होकर भी नवीनता लिए हुए थी। गोल्डस्टुकर तथा उनके परवर्ती विद्वानों ने पाणिनि के समक्ष विद्यमान साहित्य की परिगणना पाणिनीय सूत्रों के आधार पर करते हुए यह पाया था कि पाणिनि के समय तक केवल वही साहित्य यत्किंचित् मात्रा में बना था, जिसे हम **कर्मकाण्डीय साहित्य** कह सकते हैं। यहां तक कि दर्शनों में से भी केवल दो दर्शनों की रचना के ही प्रमाण उन्हें मिल पाए थे। प्रातिशाख्य साहित्य तक के विषय में वे निश्चित कुछ नहीं कह पाए थे। 'साहित्य' शीर्षक के अन्दर गृहीत रचनाओं के विषय में तो वे सर्वथा सन्दिग्ध थे। परन्तु पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने अनेक प्रमाणों और अन्तःसाक्ष्य के आधार पर पाणिनि के समय तक बने साहित्य को ज्ञात 'दृष्ट-प्रोक्तादि के भेद से त्रिविध कोटि में रखा और एक विशाल साहित्य की उपस्थिति का आभास दिया। उनके मत में छहों दर्शन पाणिनि से बहुत पूर्व बन चुके थे। देखने में यद्यपि यह बहुत छोटी बात लगती है, किन्तु उस समय के सांस्कृतिक गठन पर यह अत्यन्त प्रभाव डालती है। पाणिनि की भगवान् बुद्ध से पूर्वापरता को लेकर भी पर्याप्त विवाद चला है। यद्यपि **गोल्डस्टुकर** उन्हें हर दशा में बुद्धपूर्व ही स्वीकार करते थे, तथापि उनके समकालीन और परवर्ती अनेक विद्वानों ने पाणिनि को या तो बुद्ध का समकालीन माना या परवर्ती ही। परन्तु **मीमांसक** ने अकाट्य प्रमाणों के आधार पर उन्हें हर दशा में बुद्ध से पूर्ववर्ती सिद्ध किया। परन्तु इतने मात्र से बुद्धपूर्व भारत की सांस्कृतिक प्रगति के सम्बन्ध में वे कितना कुछ कह गए, यह बात अधिक विचारणीय है।

इस पर भी इस विषय में सर्वांगीण सांस्कृतिक अध्ययन का सूत्रपात **वासुदेवशरण अग्रवाल** के **'पाणिनिकालीन भारतवर्ष'** या **'इण्डिया नोन टु पाणिनि'** के साथ हुआ। तब से **'पतंजलिकालीन भारतवर्ष'**, आदि कुछ अन्य अध्ययन भी हो चुके हैं। इन अध्ययनों में निकाले गए निष्कर्षों के विषय में कुछ मतभेद हो सकते है, किन्तु उनकी अधिकांश प्रामाणिकता के विषय में कोई सन्देह नहीं हो सकता। ऐसे अध्ययनों से एक धारणा तो निर्विवाद रूप में यह सामने आती है कि यदि पाणिनि के समय तक इतनी व्यापक प्रगति हो चुकी थी तो निश्चय ही भारत में आर्यों का आगमन एवं वेदों का गठन उससे कहीं अधिक प्राचीन रहा होगा, जितना पाश्चात्य विद्वानों ने बहुधा स्थिर किया है। यद्यपि यह प्रश्न अभी शेष ही रह जाता है कि वेदों में वर्णित विषयों, नामों, आदि का अध्ययन भी इसी प्रकार करने पर क्या इससे भी अधिक चमत्कारपूर्ण निष्कर्ष सामने न आयेंगे।

ऐतिहासिक अध्ययन

व्याकरण-ग्रन्थों के ऐतिहासिक अध्ययन से दो प्रकार का आशय ध्वनित हो सकता है; एक तो तत्तद् वैयाकरण द्वारा वर्णित समकालीन ऐतिहासिक तथ्यों का अध्ययन, और दूसरा परस्पर कालक्रम-

विनिर्धारण के लिये ऐतिहासिक दृष्टि से उनका खोजपूर्वक अध्ययन। इन दोनों में से पहले प्रकार के अध्ययन में अध्ययनकर्ता को सामान्य इतिहास से अधिक परिचय होना आवश्यक है, जबकि दूसरे प्रकार के अध्ययन के लिए उसे व्याकरणात्मक सिद्धान्तों एवं विधाओं के विकास का भी परिचय होना अनिवार्य हो जाता है। ऐतिहासिक चेतना तो उस प्रकार के अध्ययन में भी होनी ही चाहिए।

प्रस्तुत प्रसंग को अधिक सीमित और स्पष्ट करने के यह कह देना आवश्यक होगा कि यहां ऐतिहासिक अध्ययन से हमारा अभिप्राय इस द्वितीय प्रकार के अध्ययन से ही है। अधिक स्पष्ट शब्दों में, हमारा अभिप्राय उस अध्ययन से है, जिसमें व्याकरण की परम्परा और ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों के तिथि-निर्णय को अधिक महत्त्व दिया जाता है, तथा जिसमें उस व्याकरण विशेष में हुई सैद्धान्तिक प्रगति का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार के कमबद्ध ऐतिहासिक अध्ययनों का आरम्भ, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गोल्डस्टुकर की 'मानवधर्मसूत्र की भूमिका' आदि के रूप में हुआ। फिर भी, यह गौरव तो किसी भारतीय मनीषा को ही जाता है कि उसने एक निश्चित क्रम में व्याकरण विषयक भारतीय परम्परा को एक इतिहासपरक के रूप में सर्वप्रथम निबद्ध किया। श्री बेल्वेलकर के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सिस्टम्स ऑफ संस्कृत ग्रामर' के साथ-साथ ही बंगला में श्री गुरुपद हालदार, गुजराती में श्री रामकृष्ण जोशी, एवं हिन्दी में श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने व्याकरण-दर्शन एवं व्याकरण-चिन्तन के क्रमबद्ध ऐतिहासिक विकास को यत्किंचित् कालान्तर से प्रस्तुत किया। यद्यपि मीमांसक जी के तिथिनिर्णय के विषय में आपत्तियां उठाई जा सकती हैं, इस पर भी उन के अध्ययन ने पर्याप्त सूचना प्रस्तुत कर दी है, इस बात में संदेह नहीं किया जा सकता। हां, पी० सी० चक्रवर्ती के दोनों अमर ग्रन्थों : 'फिलासफी ऑफ संस्कृत ग्रामर' एवं 'लिंग्विस्टिक स्पैकुलेशन्स ऑफ एणशेण्ट हिंदूज' का महत्त्व इस दिशा में किसी भी प्रकार कम नहीं कहा जा सकता।

इस प्रसंग में लुई रेणु की 'दुर्घटवृत्ति की भूमिका', लीबिख की 'चान्द्र व्याकरण की भूमिका', तथा क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय की 'न्यास की भूमिका' का महत्त्व भी ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त व्यापक है। लुई रेणु ने तो लगभग संस्कृत व्याकरण का सम्पूर्ण इतिहास ही प्रस्तुत कर दिया है।

इस प्रकार के अधुनातम प्रयासों में एक बृहत् प्रयास अभी मध्यावस्था में ही है। पूना के दकिन कॉलेज के स्नातकोत्तर विभाग में आयोजित विशेष कक्ष द्वारा तैयार एवं क्रमश, प्रकाश्यमान संस्कृत के 'संस्कृत साहित्यिक कोश' में संस्कृत साहित्य से सम्बद्ध अधिकांश ज्ञातव्य तथ्यों का समाहार किया गया है। निश्चय ही व्याकरण से सम्बद्ध अनेक विषयों, ग्रन्थों एवं लेखकों का परिचय इसमें एकत्र संगृहीत किया गया है। इसमें बहुत सी नई सूचनाओं की आशा करना तो उपयुक्त था भी नहीं और न ही यह पूर्ण ही हुई है; फिर भी इस प्रकार के विवरणात्मक प्रयास ने व्याकरण के जिज्ञासुओं की पिपासा भी पर्याप्त अंश तक पूर्ण करने का प्रयास किया है।

एक प्रयास इस दिशा में मैंने भी किया है। सन् १९७१ में प्रकाशित 'संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास' यद्यपि बहुत ही अल्प समय में लिखा गया था, तब भी उसमें गृहीत विषयों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में लेखक की व्यग्रता का अनुमान केवल इतने मात्र से ही लगाया जा सकता है कि केवल इस ग्रन्थ को लिखने के प्रयास में लेखक को लगभग चार सौ ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का आमूल फिर से अध्ययन

करना पड़ा। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें केवल तिथिक्रम से ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का इतिहास प्रस्तुत कर देने मात्र की व्यग्रता को लेकर ही नहीं चला गया था। बल्कि व्याकरणात्मक उपलब्धियों का भी ब्योरेवार और तुलनात्मक रूप में अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया था। तिथिक्रम निर्धारण की दिशा में इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन ने लेखक को कितनी सहायता दी, इसका अनुमान तत्सम्बद्ध प्रकरणों को पढ़ने मात्र से ही लग सकता है। मुझे यह स्वीकार करने में तनिक भी झिझक नहीं कि अभी इस दिशा में अत्यधिक सुधार की आवश्यकता है। किन्तु मेरे कथन का अभिप्राय यही है कि अब तक के लिखे को पर्याप्त मानकर चुप बैठ जाने की आवश्यकता नहीं है। महान् से महान् पुरातन प्रयासों के रहते भी नए-नए अनुसन्धित्सुओं को नए-नए प्रयासों को करने से झिझकना नहीं चाहिये। सच तो यह है कि अभी अज्ञात ग्रन्थों की खोज की दिशा में ही अनथक प्रयास की आवश्यकता है। फिर उनके अध्ययन, मूल्यांकन एवं क्रमनिर्धारण का कार्य तो उससे भी अधिक गुरुतर है।

उपसंहार

अब तक मैंने जो कुछ भी कहा है, उस सबका अभिप्राय यही है कि हम अब तक के प्रयासों को पर्याप्त मानकर ही न बैठ जाएँ। संस्कृत के व्याकरण से सम्बद्ध दिशा में अभी इतना कुछ करने को बाकी है कि उसे इस छोटे से प्रबन्ध में समाहित नहीं किया जा सकता।

ग्रन्थ-सम्पादन की दिशा में ही हमें कई दशक खपा देने की आवश्यकता है फिर उनके विश्लेषण और मूल्यांकन का प्रश्न तो बाद में उपस्थित होगा। ग्रन्थ-सम्पादन से भी उन की **व्यापकतर खोज** का प्रश्न और भी अधिक महत्वपूर्ण है। कुछ ऐसी योजनायें भी चलाई जानी चाहियें, जिनके आधार पर व्याकरण-ग्रन्थों की खोज एवं उनके वर्गीकरण आदि को भी नियमित अनुसंधान का ही अंग मान लिया जाए। अन्य क्षेत्रों में अध्ययन की दिशाओं की बात हम यथास्थल कहते ही आए हैं। यहाँ केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि व्याकरण के विषयों का चुनाव करने में हमें अधिक सावधानता बरतने की आवश्यकता है।

अन्त में, एक शब्द इस निबन्ध के विषय में भी। इस निबन्ध का उद्देश्य संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र में अब तक के हुए शोध कार्यों का परिगणनमात्र कराना नहीं है। इसका प्रमुख उद्देश्य है एतद्विषयक अनुसंधान की अद्युनातम दिशा और दशा से अनुसन्धित्सु छात्रों को परिचित कराना तथा भविष्य की सम्भावनाओं के प्रति उन्हें सजग करना। यदि इससे उस दिशा में कुछ भी सहायता मिली, तभी इस श्रम को सफल कहा जायेगा।

—:०:—

Position Of Women In The Social Structure Of Ancient India.

(IN THE LIGHT OF SANSKRIT DRAMA)

Dr. D. D. Sharma

Drama is esseatially a social form of art, having two-fold function to discharge. The premier function of the drama is to educate the society intellecutally, morally, socially and spiritually, but still more significant is the joy and delight which is a natural consequence of art. Drama presents a cumulative organisation of all fine arts and science.[1] Even from the very ancient times drama has been specially esteemed highly.[2] Apart from the sublime influence exercised by the noble ideal of characters presented in it, the delighting effect of poetry. music and dance is by no means less important.

A dramatic poet more than any other reproduces the life of men around him, exhibiting their aims, hopes, wishes, aspirations and passions in an abstract, concise way, which is more intensely coloured than the diffuse facts of daily experience. A good dramatist can never avoid depicting the tendencies, if not tangibilities of his time. So from the works on drama the social and the cultural background of a dramatist can easily be deduced.

Concept of Hindu Society—Coming to earliest plays of Bhasa we find that the conception of society is not developed to the same sense as we see now. There the family, the group of blood relations, was highly idealised in the social order. The purity and the maintenance of the family traditions was esteemed above all and it was the bounden duty of every member of the family to respect and preserve the family traditions. Throughout the Bhasa–dramas this sentiment is found dominating. For instance, in the पञ्चरात्र misbehaviour of an individual member of the family is held responsible for the ruin of the whole family. "A man with no character burns away his family.[3] and "Member of the family will have to run away if any one of

---

1. N. S. II. 3 न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं……नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ।
2. cf काव्येषु नाटकं रम्यम्; नाटकानां कवित्वम् ।
3. Panc. 1-12. कुल चरित्रहीनेन पुरुषेणेव दह्यते ।

them loses character.[1] In the Pratima; when Rama, the legitimate heir to the throne, is duly crowned his brother शत्रुघ्न says--"By this coronation of my elder brother, the stain of our family is wiped out,"[2] Similary, the last will of Bali, "To this brother, is also soaked in the same spirit of preservation of good family traditions.

"Give up you anger and take up. according to **Dharma**, our family traditions."[3]

In the same play Sita prays to god that her husband might be victorious if she has never violated the high family traditions.[4]

The other social unit, bigger than the family was caste. It seems that the caste system, which came down to us, had taken deep roots even before the beginning of the medieaval age. The order of superiority was the same as we see in the later centuries. The Brahmanical law of society prevailed thoroughly. From the प्रतिमा, as mentioned by disguised रावण, we come to know that all the Nyaya of Medhatithi and the Pracetasa, rules in ritualism (श्रद्धा-kalpa) were prevalent among the Brahamans. That a Brahman had an undoubted superiority over all others is clear from the evidence of Panc, where the universally respected Bhisma himself says that Drona is superior to him, for he (i. e. Drona) is a Brahmana and he (i. e. Bhisma) is a Ksatriya.[5] Even Karna in the Karna-bhāra says that he would never go against a Byahmana ब्राह्मणवचनंमिति न मयाऽतिक्रान्तपूर्वम्. The eleborate description of the sacrifice; in the Panc, the belief in the efficacy of the Vedic rites' **Karnabhara**—हुतं च दत्तं च तथैव तिष्ठति—"Whatever is offered in a sacrifice or is given in charity lasts eternally (I. 22) shows that the Brahmanical order was in vogue in those days. In every thing the customs, conventions, rituals and superstitions of the time—the position of Brahmanas is absolute. Moreover, they were exempted even from the capital punishment and confiscation of property. That this was not a myth, but a rule that was followed in actual practice, can be seen in concrete references in the dramas and prose romances of the period of the beginning of Christian era and afterwards. चारुदत्त, the hero of the drama, मृच्छकटिक though found guilty of murder by the presiding judge, is recommonded for exemption from the death penalty for his ब्राह्मण birth, (Mrc. X). Again in the prose

---

1. Panc. 1.7. कुले व्युत्क्रान्त चरित्रे ज्ञाति र्ज्ञातिभयादिव।
2. Prat. VII–13. शत्रुघ्न.—एतदायीभिषेकेण कुलं मे नष्ट कल्मषम् । पुनः प्रकाशतां याति॰···
3. Abhi. 1. 26. बाली—मया कृतं दोषमपास्य बुद्धया···कुलः प्रवालं प्रतिगृह्यतां नः ॥
4. Act. V. 17 1. सीता—इस्सरा ! अत्तणो कुलसदिसेण चारित्तेण जइ अहं अणुसरामि अय्य उत्तं अय्य उत्तस्स विजओ होदु ।
5. Panc. 1–25. भीष्मः—द्विजोभवान् क्षत्रियवंशजा वयम् ।

romance of Dandin we find an illustration of the same order; a Brahmana minister charged with treason against the king, is sentenced by a judge to be blinded and not to be put to death (D, K. P. 181).

On the other hand, tbe life of the Ksatriyas was very hard. Analysing the situations Svapna; the Mal; and the Avi; it is clear that the country was devided in a number of petty states and the kings were always engaged in fighting their neighbours. A Ksatriya's career was in his weapon,[1] to fight was his one creed in life. It was either to die or kill in the battle-field, but never to be defeated. Thus the old king Virāta in the Panc. says that, 'he would acquire fame if he dies or in case he retrieves the cews from the enemies he would acquire merit.[2] Similarily, the boy Abhimanyu says that. "a hero must either die or conquer on the battlefield." The social life of the वैश्य's and Sudras also was regulated by the same Brahmanical law.

By the beginning of the Gupta age we see that there was a strong Brahmanical revivalistic movement. In the field of social life this movement manifested itself in a tendency towards intensification of the social division into four fundamental Varnas with its corollary of the pre-eminance of the Brahmans. During the same period, the remarkable development of industry and trade, with its resultant increase in wealth and prosperity, led to a pronounced rise in the standard of living and taste for town life, at least among the upper classes. The long spell of peace which the Gupta emperors in the North and their contemporaries the वाकाटक्स in the South gave to the country. enabled the social tendencies of the proceding epoch to take firm root in the soil.

Bed rock of the society—Marriage forms the most important part of the Hindu Society. Fortunately, Sanskrit literature has preserved a good number of examples of the Marriage system, prevalent in the Hindu Society. Generally the rules relating to marriage were guided by Smritis. There we see that with the passage of time and emergence of new circumstances the writers on Smritis showed a tendency to lower the marriageable age of girls.[4] The writers of Sanskrit dramas also could not escape the influence of tne Smritis. Bhavabhuti, a dramatist of the 9th century A. D. present a very interesting example of this influence. In the epic रामायण, Sita was a youthful

1. Panc. I. 22. कर्णः बाणाधीना क्षत्रियाणां समृद्धिः ।
2. Ibid, II. 5. राजा—रणशिरसिगवार्थे नास्ति मोघः प्रयत्नो, निधनमपि यशः स्यान्मोक्षयित्वातु धर्मः
3. Idid III. 5. अवश्यं युधि वीराणां वधो वा विजयोऽथवा
4. For and exhaustive account of the Smriti law about the age of marriage see Hist. of Dharma by P. V. Kane. 11. 1. 438-45.

maiden at the time of her marriage;[1] but Bhavabhuti mentions her to have been quite a child when the marriage takes place. This shows that he was certainly influenced by the practices of his age. But on the other hand, from a large number of examples of the heroines of Sanskrit dramas and from वात्स्यायन strong view of the higher marriageable age of girls, we get somewhat different picture than that of the Smriti's. वात्स्यायन must have been influenced or must have taken into consideration the then prevailing practices, while laying down the detailed rules for courtship, and its immediate cosummation. These are the evidences that tell us that girls were married after reaching the age of puberty. Elsewhere the author declares himself in favour of a man marrying a girl younger than himself by three years or more (Ks. III. 1. 2). His detailed description for the selection of a husband by a girl, the methods of wooing, which need considerable knowldge of human, nature, also confirm his stand on these points. (Ks. III. 4. 36 59).

Moreover, the descriptions of the princesses found in Sanskrit dramas are positive proofs that girls were married at a mature age and that there was the encouragement for child marriage up to the middle ages. वासवदत्ता, कुरंगी, पद्मावती, शकुन्तला, मालती etc. are some of the most living examples of this trend in the society.

Education of Women : Although in general, the Brahmanical law had denied to women Vedic study and their education was in decline, yet we have good grounds to believe that girls from high families had suffiicient apportunities of acquiring proficiency in liberal education and distinguish themselves in literatrue and other intellecutal pursuits. That princesses and daughters of nobeles were educated and accomplished is evident from Vatsyayana's Kamasutra. Vatsyayana mentions a long list of sixty four subsidiary branches of knowledge (अंगविद्या's) to be acquired by women.[3]

The literary evidences of the medieaval period also prove that girls of high families were not only educated in humanities, but were also well versed in ancient lore. They could sing, dance or draw paintings. It was considered esrential for the

1. Cf. V. R. II. 119, 34. पति संयोग सुलभां वयो दृष्ट्वा तु मे पिता···
2. U. R. I-37. रामः—अविवाह समयाद् वने शैशवात्॰
   Ibid 1. 20. रामः—शिशुर्दर्षति मुखम् ।
3. KS. 1. 3. 12. knowledge of Shastras, ibid 16 knowledge of 64 arts. ibid. IV. 1. 32. knowledge of family budget etc. painting, gardening etc. ibid. 1. 3. 1.

girls of royal families or those living at the royal courts to require peroficiency in finearts such as singing, dancing, painting and the like like. Let us have a look at the literature to support our contention. we know that वासवदत्ता had developed a keen interest in playing on the lute and received leasons from Udayana; (Para :I). To play on lute was a pastime for Yaksya's wife also U. Magh. 26); आरण्यक is made to play on the lute to the accomaniment of a song at the performance of a mimic play (Priya.III); Singing, dancing and instrumental music are mentioned as the types of accomplishments for girls of the noble families (Priya.I). It is confirmed from historical references also; princess Rajyasri grows up with her growing daily knowledge of singing, dancing and other arts (H. C. IV). Teachers were employed in the court of the king Agnimitra to train the girls of the royal court in singing and dancing (मालविका II.) मालविका sas trained by one of them and made to exhibit her skill in dance and music in a musical contest wherein a female ascetic acted as judge. Likewise अनसूया possessed good knowledge of painting and drawing;[1] सागरिका draws a portrait to her royal lover; (Ratna. II) मालती too draws a picture of her lover (M. M. II), शकुन्तला composes a love letter and writes it on a lotus leaf;[2] मालविका sings a song, composed by lady शर्मिष्ठा ou the occasion of चालितक dance (Mal. II); and मालती understands a difficult Sanskrit Verse written by her lover (M.M.II). All this proves that ladies of the upper middle class or the nobility were accomplished or cultivated. In the प्रतिज्ञा we get a perforence to the ladies taking up teaching, fine arts as a profession.[3] There are other evidences, too, which indicate that there ware regular institutions for girls educations. The system of co-education alse existed there and girls could receive their education in different branches of learning in the company of the boys. From the मालती माधव we learn that कामन्दकी was educated with (भूरिवसु father of the hero) and देवरत (father of the heroine) and with many other girls students, hailing from different parts of the country (M.M.I). Similarly, आत्रेयी a woman ascetic, studying with ascetic boys at वाल्मीकि hermitage, finding it difficult to keep pace with कुशा ahd lava, approached sage Agastya and other for higher study in philosophy in the दण्डकारण्य.[4] अनसूया had

1. Sak (IV) सख्यौ—चित्तकम्मपरिग्रएण०—
2. Sak. (III) तुज्झ ण जाभे हिग्रग्रे०—
3. Pratijna—देवी—उत्तराया वैतालिकाभ्य: सकाशे वीणां शिक्षितुं नारदीयां गतासीद् ।
4. U. R. (Act II) 3—तेभ्योऽधिगन्तुं निगभान्त विद्याम्०—

a good knowledge of इतिहास.[5] Vijayanka Ubhaya भारती, the wife of Mandanamisra achieved extra-ordinary success in literature, मीमांसा and वेदान्त, who also carried on the शास्त्रार्थ with शंकराचार्य. Vijjika, the author of the drama '**Kaumudi mahotsava**' is considerd to be one of the best dramatist of Sanskrit literature. The Ksatriya wife of poet Rajeshekhara was a good poetess. Similarly, there were many other women who distinguished themselves (like लीलावती, the renowned astronomer) in dfifferent branches of learning. In this period the social status of women was comparatively high. They commanded respect both in their homes and society. They freely took part in the social and religious activities of the time. Except आत्रेयी, all the accounts may have been drawn from comtemperary life. Lastly, the author of the अमरकोश refers to female teachers उपाध्याय and उपाध्यायानी as well as female instructors in Vedic mantras आचार्य.

Marriage of girls : A Social compulsion : Although there are many evidences which prove that there were girls who did not marry and remained **Brahmacarinis** for their whole life, yet the dictum of manu that a woman is incapable of remaining free sees to have had a strong impact upon the Hindu society from the days of Manu itself. From the dramas of भास it becomes clear that in those days marriage of a girl had become an obligation in the society. Parents of ummarried girls felt embarrassed for not being able ro give their daughters in marriage when they had reached the age of marriage. Moreover, the celebrated notion that women always need a protection. The father protects her in childhood, the husband in her youth and the son in her old age. The woman does not deserve freedom", also had gained currency in those days.

Again the plain statements of Kanva, "these are also to be given in marriage" and "a girl in fact, a property of another person and having sent her, now, to her husband, I am feeling relieved similar to the man who has returned to its owner a trust left with him." Clearly betray the social compulsion of arranging marriages

1. Sak. Act. III. जादिसी इतिहास निबन्धेसु०—
2. Sanskardigvijaya. VIII. 5. 1.
3. A. K. (11. 6.14.) उपाध्यायाप्युपाध्यायी स्यादाचार्यापि च स्वतः ।
4. Prat. II. 7. अदत्तेत्यागतालज्जा दत्तेति व्यथितं मनः ।
5. Ibid. II. 4. न हि न परिपाल्या युवतः ।
6. Sak. IV. कण्वः इत्रे अपि प्रदेये ।
7. Ibid. IV. 22 कण्व—अर्थो हि कन्या परकीय एव० ।

of girls by their parents and their liabilities as felt by them. Thus the marriage of marriageable girls was always a source of anxiety to their parents. In the **Kaumudi Mahotsava** king कीर्तिसेना sends his daughter to Yogasiddhi, in order to get blessing of the saint woman for a suitable match.

Girls consent on matters of marriage : No doubt, there are many instances, in Sanskrit dramas, of girls selecting their husbands of their own choice, yet as a general rule, girls of the Hindu society were obedient daughters, who would not go against the wishes of their parents.

But at the same time we also come across references in which the consent of the girl was sought in right earnest by the parents of the girl. In the Svapna, the maid servant अवन्तिका informs us that the princess पद्मावती refused to become the daughter-in-law of the king Pradyota, though the lat er was anxious for it. But such insstances are rare. After the Smriti period the Hindu society seldom granted the freedom of choice of her husband to a girl of noble birth. By their up-bringing and consequently by their nature they were so modest and reserved that even in matters of love and romance they preferred to have some medium to talk to their lovers on behalf of them, as is evident from the plays of कालिदास, भवभूति and श्रीहर्ष, similarly, in the first act of the **Kaumudi mahotsava** the princess does not talk to कल्याण varman directly. It was her friend who responded all the querries from the prince.

Forms of Marriage : Now turning to our plays we find in them marriages exemplifying the following forms :

ब्रह्मा, कष्ट्रा and गन्धर्वं. The marriage between पद्मावती and वत्सराज comes under the ब्रह्मा form, the hand of Padmavati was offered to Udayana by her brother, which falls under the most approved form ब्रह्मा. The marriage between Jayavarman, the son of king काशीराज and सुमित्रा, the daughter of king Kuntibhoja, belongs to कष्ट्रा form, as the former's father had sent an emissary to the latter's for her hand, which is a recognized form of कष्ट्रा Marriage. The love marriage between अविमारक and कुरङ्गी belongs to the गन्धर्वं form, and the marriage of Udayana and वासवदत्ता also, as stated by king महासेना, falls under the same form. Dr. Pusalkar has, however, tried to connect this marriage with Rākſasa form on the ground that वासवदत्ता was forcibly captured by Udayana, but this view does not seem to be just, because वासवदत्ता love for him was the

1. M. M. II. प्रभवति निजस्य कन्यका जनस्य महाराज इति ।
2. S. V. II. भर्तृदारिका तेन राज्ञा सह सम्बन्धं नेच्छति ।
3. S. V. Act. II धात्री—भट्टिदारिए ! दिष्णासि ।
4. Avi PP. 10, 11, 106, 107.

love at first sight. Similarly, by the reference of शुल्क (dowry) he has classified the marriage of दशरथ and Kaikeyi under असुर form.

वात्स्यायन has strongly advocated love marriage. He declares the Gandharva marriage to be the most respectable and the best. As it is an outcome of the reciprocity of love, it is the happiest one.

Though classical Sanskrit literature is replete with references to Gandharva marriage (marriage by mutual love), the popular attitude on this matter does not seem to be very encouraging, for, in cases of love marriage of Kurangi and the prince अविमारक was based on mutual consent, yet it was considered necessary to perform the marriage ritual in the approved manner, in the presence of the fire, and the marriage of Udayana and वासवदत्ता also was celebrated by the latter's parents through portraits of the bride and the bridegroom as their substitutes. This state of affairs may be taken as an indicator of the decline of the गन्धर्व form of marriage and growing necessity of the ritualistic marriage in which the consent of parents was necessary element. In the historical examples also, we see that the marriage of the princess राज्यश्री of Thaneswar was arranged by her father king प्रभाकर Vardhana. The मालती माधव a drama by भवभूति gives an example of a marriage being arranged in advance by the parents on both sides if both of them beget a son and a daughter respectively. That the गन्धर्व marriage was not highly looked upon is clear from the advice of कामन्दकी to the love lorn-heroine-मालती. She says, "generally fathers as well as destiny have authority over the disposal of maidens." The contrary examples of शकुन्तला marrying Dusyanta, उर्वशी marrying Pururavas and वासवदत्ता marrying Udayana involve rashness and, thereforem do not deserve to be followed." Above all, Sakuntala, though she herself is deeply smittem with love, does not seem to favour the case of high born girls selecting their husbands without the consent of their parents. One of the most important thing which strikes us is, that inspite of the rigorous laws of smritis, trying to preserve the sanctity of the social life of the Brahmanical order, there are a number of illustrations

1. K. S. III. 5. 1–30; for courtship etc. see KS. III. 4, 36–59.
2. V.vi. VI 14.4. कुन्तिभोजः—अग्नि साक्षिक मिच्छामि ।
3. Svapna 114 Pratijna IV 23–6. अथ च आवाभ्यां···विवाहोनिर्वत्तः, चित्रफलकस्थयोः···
4. M.M.I. 9.3. काम०–भूरिवसुदेवरातर्योवृत्तेयं प्रतिज्ञावश्यभावाभ्यामपत्यसम्बन्धः कर्तव्यः इति ।
5. Ibid. Act. II. 7.10 काम०—यच्च किल कौशिकी शकुन्तला दुष्यन्त···तदपि साहसाभासमित्युपदेष्टव्य० ।
6. Sak. III. Ref. to numerous daughters of royal sages marrying in Gandharva form with the of proval of their parents; MM (Act. II and IV). reluctance of high born maidens to the select their own husbands.

of inter caste marriages between "**Varnas**" not only in the "**Anuloma**" but also in the "**Pratiloma**" order. The relations between Sarvilaka and Madanika, the female slave of courtesan Vasantasena; and Carudatta and Vasantasenn lead to "Anuloma" marriage. The marriage between Agnimitra and मालविका also was that of "Anuloma" order. As the king was a ब्राह्मण and the girl a Ksatriya one. The marriage between जीमूतवाहन and मलयवती may be taken as an instance of inter-social marriage. There is also a story in the दशकुमार चरितम् where the younger daughter of courtesan of Campa is married by one belonging to a upper caste. Moreover, Bana's father married a शुद्रा wife by whom he had two sons. Coming to the contemporary historical references, we see that Prabhavati gupta, daughter of the king of Thaneswar i. e. Harsha, belonging to वैश्या family was married to the Ksatriya king of वल्लभी, named Dhruvasena. Above all one of the most striking instances disregarding the rule of '**Sapinda**' sexogamy is found in a drama of भास (i. e. Avimāraka). There the prince Avimaraka marries his maternal uncle's daughter who was at the same time his paternal aunt's daughter also.

Polygamy : That polygamy existed in the Hindu society from the earliest period can be proved from many instances which the Sanskrit dramatic literature contains. But we must bear in mind that, in practice, polygamy, however, of ten prevailed only in the rich and ruling section of the society. It was fairly common with kings and nobles, who often found in matrimonial alliances (SV. etc.), a useful instrument for strengthening their political Power. Moreover, it was beyond the means of an ordinary man to maintain more than one wife. Even if polygamy existed among common men, the percentage must have been very small, if at all, it may be among wealthy people like Dhanmitra (Sak) and Carudatta (Mrc.). But notable point in this regard is that insplte of polygamy existing among princes and wealthy people, it was not encouraged much. Even romantic kings like Udayana would, not think of having a second wife, while the first was alive. Similarly, king दर्शक, brother of पद्मावती could not be pursuaded to give his sister to the king–Udayana as his second wife. This was the reason which compelled the minister to draw the plan to remove वासवदत्ता from the scene so that such a marriage could be contemplated.

Parda System : Refernces in the general as well as in the technical literature of the early centuries before and after Christ seem to indicate that married women of high families did not usually appear iu public without a veil. That this custom of veil using as a token of noble birth and modesty had come into existence long

1. H.C.I.
2. Sv, Mala. Sak. Ratna. March. etc.

before we notice in our Plays can be confirmed from references found in पाणिनि[1] and the रामायण.[2] But dramas and contemporary prose romances or other historical works clearly prove that **'purda'** system did prevail is Hindu Seceity, though not in the way as is found in the later period- In the **pratima**, सीता comes on the stage veiled [3] and राम asks her to do away with it, because it could be done away with on specific occasions. like marriages, calamities and exile in the forest. In the महावीर चरित, too, राम asks सीता to put on the viel at the approach of Bhargava, as he was an elder to be respected properly.[5] On the part of men, too, it was considered unmannerly to look at the face of a married woman, though there was no such consideration about unmarried girls. In the नागानन्द we see that जीमूतवाहन is made willing to look at the face of मलयावती when he is assured of her not being a married one. Similarly, in the union scene of the **Svapna**; वासवदत्ता also appears in veil. In the रत्नावली also, when queen वासवदत्ता comes to know that सागरिका is going to meet the king in her dress, she reaches there veiled and so the king as well as the court jester could not recognise her and they are caught red—handed. शकुन्तला also had put on the veil in the court of Dusyanta; वसन्तसेना is made to put on veil when given the status of legally married wife. Even as courtesan she is veiled, while passing in a carriage. It was thought improper for a married woman to see a stranger or to hear others praise. All these instances indicate that married women of upper classes were not expected to expose the emselves to public gaze unless some specific occasion

---

1. III. 2. 36—असूर्यंपश्या
2. V. R. Ayodya. 23.8, यान शक्यापुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि०
3. Part. p. 36, Kuad. VI. 1.6 राम:—किमिदमपरमस्मदन्तिकाद् यवनिकया निरोधीयते ।
4. ibid. I. 29; also due to purdah Bharata could not recogmize queens in the picture gallery.
5. M. C. II. राम:—प्रिये ! गुरुरयं तदपसृत्य कृतावगुण्ठनाभव ।
6. V. S. VI 16. 1. राजा:—संक्षिप्तां यवनिका ।
7. Sak. Act. V. (Court scene) 13.2. गौतमी—जादे......अवटाइस्सं दाव दे ओउण्ठणं ।
8. Mrch. X. 57 Eff. शर्विलक:—(वसन्तसेनाभवगुण्ठ्य) also IV. 24.
   यत्र ते दुर्लभं प्राप्तं बधूशब्दावगुण्ठनम् ।
9. p. 89; Rajyashri wears viel of red silk when seen by the bride-groom. (HC. IV-)
10. Svapna. Act VI. 13. ff. पद्मा०—पोषिद मनुश्रा परपुरुष दंसणं परिहरदि ।

warranted it. Maidens and ascetic women, hewever, were not subjected to it. पद्मावती, शकुन्तला and other ladies are never portrayed wearing veil in their maiden-hood. Moreever, the sight of a maidem was thought free from taint. So this absence of **parda** in their case way be due to this belief.

Sati Custom : Early literature offers a number of cases of **"Sati"**. वात्स्यायन, भास, कालिदास, शूद्रक etc. have mentioned this in their writings. वात्स्यायन points out how clever dancing girls gain ascendancy over the minds of their lovers by swearing that they would burn themselves on their funeral pyre (KS. 2. 53) Queen Pauravi was deter-mined to immolate herself on the death of Duryodhana. In **Kumarasambhava** Rati is ready to immolate hearself. It is the heavenly voice which dissuades her from her resolve. धूता, the wife of चारुदत्त wants to burn herself before receiving the news of her husband's execution. It should however, be noted that even though dramatic litera-ture contains some instances of the prevalence of this age, old custom, they canrot induce us to beleive that it was popularly practised. In the age of the Sanskrit drama 'Sati' had not become common and *it* had not assumed the ugly shape that it did in the days of the Rajaputas and the Mohammedans.

Slavery : From references in the मृच्छकटिक we gather that slavery among men and women existed in Hindu society. We see that a gambler being unable to pay the debts of his gambling-master offers himself for a sale. Madanika was a slave of वसन्तसेना. But the treatment, received by स्थावरक and मदनिका was quite different. For, मदनिका is always treated in friendly terms by her high-minded mistress वसन्तसेना; while स्थावरक is not only beaten, but put to fetters by his cruel master. Again, वसन्तसेना was kind enough to release मदनिका and let her be united with her lover, while स्थावरक had to wait for his release till the disgrace of his master and the issue of an order of the new king.

Women of this class were called 'भुजिष्या' (female slave) Their status was very low. Though totally dependent on the mercy of their masters or mistresses they were treated kindly. They could get themselves liberated by paying ransom to their masters or mistresses. Moreover, like 'प्रकाशनारी' they could also attain the status of a 'कुलवधु' by

---

1. Pratinjna p- 50; कण्णा दंसणं विद्सोसं । Nag. I. 15 A निर्दोषदर्शना हि कन्यका भवन्ति ।
2. Priya. II. 6· ff. राजा—वयस्य ! निर्दोषदर्शना कन्यका खल्वियम् ।
3. Urn. I, 52. 1. पौरवी—एककिदप्पवेसपिच्च प्राण रोदामि ।
4. Mrc. Last Scene X. 56. ff.

marrying after their liberty. This flexibility of the social rules provided them ample opportunities for raising their status in the society, which was really a healthy sign of that age.

Prostitution : From the earliest period of the Sanskrit drama, the existence of courtesan is invariably found. It were these who used to take part in dramatic performances and played the roles of women characters. Although they did not command a respectable place in the society, yet they were more free and had no social restrictions. They were well versed in many arts and could move freely with all sections of the people of the society. But the first reference that we get about selling of their beauty in the open markets is found in the चारुदत्त of भास. There वसन्तसेना is told, more than once, by the Vita and the शकार that the business of a courtesan is to satisfy the lust of a man without any discretion of caste or status.

A detailed analysis of the character of वसन्तसेना reveals that women belonging to this class were generally very rich and possessed palatial mensions with varied riches and passed a very luxurious life. They could even afford elephants.[1] They generally amassed wealth by snatching it from the wealthy persons by displaying their false love to them and get rid of them as soon as they were robbed of their wealth. But no great was the temptation of a courtesan that a man addicted to them could hardly get rid of them unless it was beyond his means. They used to go out to public gardens to sport with those persons. They were regarded as the common property and an 'शकार' could chase them even in broad day light. They were compared with a oatbory a pool to be used by all irrespective of their caste or status.[2] Though financially their position was sound enough, yet they had little respect in society. Their position was considered so inferior that neither they nor any thing belonging to them was allowed to be taken into the inner appartment of a gentleman's house.[3] It was a common conception that the birth of a chaste woman in a courtesan's house was as impossible as expecting paddy from barley or as the growth of a lotus on the top of a mountain.[4] Nevertheless, they were well-versed in several arts particularly in music, dancing and painting. Although money was their primer object, yet there were some courtesans who cared little for wealth against virtues. Inspite of their greedy mothers, they could show the boldness of refusing wealth and follow good qualities. But these were exceptional cases. Rules of the society were not so strict or rigid as we perceive in later

1. Cf. III. चेटः—अण्णपशत्तकलत्तेण शक्किवालिदुं ।
2. Act. I. 32. विटः—वाप्यां स्नाति···वैश्यासि सर्वं भज ।
3. Act. III. 7. चारुदत्तः—अलं चतुः शालमित्रं प्रविश्य प्रकाशनारी धृत एष यस्मात् ।
4. Act. IV. 17. शर्विलकः—न पर्वताग्रेनलिनी प्ररोहति···न वेशजाताशुचयस्तथाङ्गना ।

times. The way for raising oneself to higher status was always open to them. A courtesan could attain the status of '**Kulavadhu**' by getting married.[1] Sometimes by virtue of their qualities, they could receive the honourable title of '**Kulavadhu**' from the kings and thus could become a lawful wife.

1. Cf. Mr. cch. IV. 24. शर्विलकः—सुहृष्टः क्रियतामेष शिरसा वन्दनतां जनः ।
यत्र ते दुर्लभं प्राप्तं वधूशब्दावगुण्ठनम् ॥

REFERENCES

1. अभिज्ञान शाकुन्तलम्, M. R. Kale 6th ed. Bombay, 1925.
2. अभिषेक, TSS. No. 26. 1913:
3. अमरकोश, N. SP. 1944.
4. अविमारक, TSS. No. 20, 1912.
5. दशकुमार चरितम्, N. S. P. 1951.
6. हर्ष चरितम्, P. V. Kane; Bombay, 1918.
7. कामसूत्र, D. L Goswami, Banaras, 1929.
8. कुन्दमाला, J. C. Shastri and Vyasa, Lahore, 1932.
9. मालतीमाधव, M. R. Kale, 2nd ed. Bombay 1928.
10. मालविकाग्निमित्रम्, R. D. Karmarkar, Poona 1950.
11. महावीर चरितम्, Vidya Bhawan, Chaukhamba, Banaras, 1955.
12. Mrcchkatikam, K. P. Parab, Bombay, 1926.
13. मेघदूतम्, Kalidasa Granthavali, Banaras, 1951.
14. Naganandam, Baldev Upaddhyaya, Banaras, 1951.
15. नाट्यशास्त्र, N. S. P. Kavyamala No. 42, 1943.
16. Position of Women in Hindu Civilization. A. S. Altekar, Banaras 38.
17. Pancaratram, Poona Oriental Book Agency, Poona, 1957:
18. Pratimanataka, M. S. Paranjape, Poone, 1927.
19. प्रतिज्ञा यौगन्धरायण, TSS. No. 61, 1912.
20. प्रियदर्शिका, N. G. Suru. Poona, 1928.
21. रघुवंशम्, Kalidasa Grnthavali, Banaras, 1951.
22. रत्नावली, S. Ra7. 3rd ed. Calcutta, 1930.
23. स्वप्नवासवदत्तम्. TSS. 1924.
24. उत्तररामचरितम्, S. K. Belvelkar. Cambridge, 1915.
25. ऊरुभङ्गम्, Basa Natka cakra, ed. Devdhar. 1937.
26. वाल्मीकि रामायण, Gita Press, Gorakhpur.
27. वेणीसंहार, K. N. Dravid. Poona, 1922.
28. विक्रमोर्वशीयम्, Athaley and Bhave, Bombay, 1932.
29. Women in Sacred laws, S. Rao, B. V. B., Bombay, 1953.
30. Women io the Vedic Age, S. Rao, B. V. B. Bombay, 1954.

वेदान्त में जीवनदर्शन

डॉ० राममूर्ति शर्मा

वेदान्तपरक जीवन दर्शन सम्बन्धी विचार करने से पूर्व यह कह देना समीचीन होगा कि वेदान्त से हमारा तात्पर्य शाङ्कर वेदान्त से है। स्वतन्त्र दर्शन शब्द का अर्थ 'दृश्यते नेनेति दर्शनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुरूप 'जिससे देखा जाय' है। यों तो विभिन्न प्रकरणों में इस शब्द के अनेक अर्थ हैं, किन्तु सामान्य रूप से दार्शनिक सम्प्रदायों के सन्दर्भ में दर्शन शब्द से उन विचार दृष्टियों का बोध होता है, जिनके द्वारा जगत् की कारणता, जगत् के स्वरूप, चेतन एवं अचेतन के समन्वय परमानन्द (Supreme bliss आदि पर विचार किया जाता है। जहां तक जीवन दर्शन का प्रश्न है, जीवन दर्शन मानव जीवन की निर्देशिका उस दृष्टि का नाम है जो मानव को प्रशस्त लौकिक सुख एवं अलौकिक आनन्द की प्राप्ति का मार्ग प्रदर्शन करती है। किन्तु चार्वाक प्रभृति भौतिकवादी दर्शनों के सन्दर्भ में यह दृष्टि मानव के ऐहिक सुख के सम्बन्ध में ही विच.र करती है। विश्व के सभी दार्शनिक सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में जीवन के सम्बन्ध में अपनी दृष्टि को प्रस्तुत करते हैं। यह बात दूसरी है कि किसी दार्शनिक सम्प्रदाय में यह जीवन दृष्टि अतिशय प्रखर होती है और किसी में मन्द। यदि कोई दार्शनिक सिद्धान्त जीवन के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत किए बिना ही अपनी दार्शनिक गाथा गाता है तो वह सही अर्थ में दार्शनिक कहलाने का अधिकारी नहीं कहा जा सकता—

व्यवहारमनाहृत्य परमार्थो न विद्यते

जहाँ तक वेदान्त दर्शन का सम्बन्ध है, इस दर्शन ने जीवन के सम्बन्ध में एक ऐसी समन्वित दृष्टि प्रदान की है जो ऐहिक एवं पारलौकिक सुख के निमित्त व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि को प्रस्तुत करती हैं। निश्चय ही वेदान्त का जीवन दर्शन आदर्शपरक है, किन्तु वह यथार्थ-व्यवहार से दूर नहीं कहा जा सकता। उसका यथार्थ आदर्श का पूरक है एवं आदर्श यथार्थ का प्रतिफल। जीवन के सम्बन्घ में वेदान्त की स्पष्ट दृष्टि होने पर भी इस दर्शन को जीवन से दूर समझा गया, यह आश्चर्य है। इसका बहुत कुछ कारण वेदान्ती शङ्कर का मायावाद एवं जगन्मिथ्यात्व का सिद्धान्त है, जिसके व्यांवहारिक पक्ष को न समझने के कारण वेदान्त दर्शन को जीवन से अछूता घोषित कर दिया गया। किन्तु य खेद का विषय इसलिये नहीं हैं कि जिनमें आदर्श मानवजीवन यापन करने की लालसा थी वे भारतीय एवं विदेशी वेदान्त के जीवन दर्शन से अद्भुत लाभ ग्रहण करते ही रहे और अधुना भी कर रहे है। स्वामी रामतीर्थ, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, अरविन्द घोष, महर्षि रमण एवं वर्तमान में सर्वोदयी आचार्य विनोबा वेदान्तिक जीवन दर्शन के साक्षात् प्रतिमान कहे जा सकते हैं। आचार्य विनोबा ने तो अपने निबन्ध—'हमाग मिशन कुल दुनिया को अद्वैत बनाना है' वे अन्तर्गत यह स्पष्ट रूप से सिद्ध कर दिया है कि इस जीवन में सर्वोदय की स्म्भावना अद्वैतिक जीवनदर्शन से ही हो सकती है।[1] इसी प्रकार जर्मन दार्शनिक शोपे नहर ने औपनिषद् वेदान्त से लाभान्वित होकर ही यह कहा था कि उपनिषदों ने मुझे इस जीवन में सान्त्वना प्रदान

---

१. विनोबा, भूदान यज्ञ (साप्ताहिक), ६ मार्च १९६५.

की है तथा मृत्यु के समय में भी यही सान्त्वना प्रदान करेंगे। इस प्रकार वेदान्त के मिथ्यात्व ज्वर से केवल वे ही आक्रान्त थे जिनमें न तो इस दर्शन को समझने की दृष्टि थी और न जो जीवन को सही अर्थ में समझने के अभिलाषी थे। ये या तो वे उदरभरि तत्वदर्शी थे जिनका महान् उद्देश्य उदरपुरणा मात्र था या फिर वे स्वमत पक्षपाती मनीषी जिनका एकमात्र लक्ष्य छिद्रान्वेषण के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। यहाँ यह स्वीकार करना अपेक्षित है कि मात्र वेदान्त का दुन्दुभि-नाद करने वाले एवं नाम मात्र को भी व्यवहार में वेदान्त का स्पर्श न करने वाले तथा कथित वेदान्ती भी इस दर्शन के अपयश के हेतु हैं। सही तो यह है कि अच्छे से अच्छा सिद्धान्त व्यावहारिकता के अभाव में मस्तिष्क का व्यायाम मात्र होता है। अपने युग के महान् जीवनदार्शनिक विवेकानन्द ने इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए कहा था—

If it is absolutely impracticable, no theory is of any value whatever, except as intellectual gymnastics.

शङ्कर वेदान्त सम्बन्धी जीवन दर्शन की चर्चा करते समय यह कथन उपयुक्त होगा कि किसी भी दर्शन की जीवन सम्बिन्धिनी दृष्टि के मूल में कुछ मानव मूल्य एवं अवस्थाएँ निहित रहती हैं। महान् वैज्ञानिक सी० वी० रमन ने भी इन महान् मूल्यों की खोज को ही वास्तविक जीवन का आधार माना है। अतएव वेदान्त दर्शन के परमाचार्य शङ्कर ने भी अपने दर्शन में मानव मूल्यों की चर्चा की है। शङ्कर दर्शन के अन्तर्गत निश्चय ही उत्कृष्टतम मानव मूल्य आत्मसाक्षात्कार है जिसके अपरपर्याय ब्रह्मज्ञान, आत्मबोध, तत्त्वदर्शन, स्वरूपज्ञान एवं मोक्ष हैं। समग्र रूप से मानव के समस्त क्रिया कलाप के औचित्य का मानदण्ड भी आत्मसाक्षात्कार है। फलतः जो कर्म आत्मसाक्षात्कार में प्रत्यक्ष रूप से सहायक न होकर भी बाधक नहीं हैं, वे सत् हैं तथा तदितर असत्। आत्मसाक्षात्कार जीवन की वह स्वाभाविक एवं मूल स्थिति है जिसमें वह ममत्व एवं परत्व के भाव से रहित तथा सुख एवं दुःख विरहित आत्मतत्त्व का दर्शन करता है। यहाँ यह कथन संगत होगा कि आत्मसाक्षात् में सहायक होने के कारण वेदान्त में सद्कर्मों की निष्ठा तो अपेक्षित समझी ही गई है, किन्तु इसके अतिरिक्त इस दर्शन में लौकिक अभ्युदय को भी मानव का प्राप्तव्य बतलाया गया है। किन्तु वेदान्त का यह अभ्युदय व्यापक एवं प्रधान लक्ष्य में बाधक कदापि नहीं है। यही इस दर्शन की विशेषता है। स्वयं आचार्य शङ्कर ने गीता भाष्य में समस्त प्राणियों की सुखप्राप्ति की कामना का उल्लेख किया है। आचार्य ने स्पष्ट रूप से "भोगापवर्गौ पुरुषार्थौं" कह कर भोग एवं मोक्ष दोनों को ही जीवन का प्राप्य बतलाया है।

यहाँ यह अवश्य स्वीकार्य है कि वेदान्त में मात्र सांसारिक भोग ही नहीं अपितु स्वर्ग के भोग भी विनाशशील एवं मोक्ष में बाधक बतलाए गए हैं। इस प्रकार यद्यपि परमार्थतः आत्मसाक्षात्कार ही जीव का चरम लक्ष्य है, परन्तु यह सत्यं, शिवं एवं सुन्दरम् की पृष्ठभूमि पर आधारित है। सात्मसाक्षात्कार

१. देखिए, Complete works of Swami Vivekanand, Vol. II, p. 289.

२. देखिए, डा० सी० वी० रमन का दीक्षान्त भाषण, नव० १६५०

३. शा० भा० गीता १०।१३

४. शा० भा० ब्रह्मसूत्र १।२।३०

५. शा० भा० तै० उ० २।१

जीवन का चरम लक्ष्य है एवं संसार उसकी प्राप्ति के लिए की जाने वाली जीवन यात्रा। संसार की जीवन यात्रा में जीवन दर्शन की अपेक्षा अनिवार्य रूप से स्वीकार्य है। वेदान्तिक जीवन दर्शन का मूल कर्मवाद कम सिद्धान्त है। कर्म सिद्धान्त भारतवर्ष ही नहीं, समस्त विश्व की आचार संहिता का मूल मन्त्र है। इस सिद्धान्त के अनुरूप कर्मफल अवश्य भोग्य है। क्योंकि वेदान्तदर्शन के अनुरूप तत्त्वज्ञान होने पर जीव के संचित एवं संचीयमान कर्म तो नष्ट हो जाते हैं, किन्तु प्रारब्ध कर्म का नाश नहीं होता। कर्मफल की अवश्य योग्यता का यह विचार मानव जीवन के लिए यह दृष्टि प्रदान करता है कि उसे किसी कार्य को करने से पूर्व यह समझ लेना चाहिए कि उसे निज कृत्य का फल अवश्य भोगना है। वस्तुतः यदि वर्तमान युग का नितान्त ईर्ष्या, द्वेष एवं घृणा से युक्त एवं परमूलकर्तन में तत्पर मानव कर्मफल की योग्यता में विश्वास कर ले तो उसका दृश्य दर्पण सा स्वच्छ हो सकता है तथा उसका जीवन सुख एवं सौष्ठव से आपूरित हो सकता है। वेदान्त की यह स्थापना भी उसके जीवन दर्शन को व्यापक एवं वैज्ञानिक रूप प्रदान करती है कि बलवान् कर्मों का भोग तो इसी जीवन में भोग लिया जाता है, किन्तु जिन कर्मों का फल इस जन्म में नहीं भोगा जाता वे पुनर्जन्म में मुक्त होते हैं। इस प्रकार वेदान्त के अनुरूप संसार चक्र की प्रवृत्ति का हेतु कर्म ही है। आधुनिक युग के असफलताओं से उद्विग्न एवं निराश मानव को वेदान्तिक जीवन दर्शन का यही उपदेश है कि उसे प्रारब्ध का भोग करते समय उद्विग्न नहीं होना चाहिए, अपितु स्वकर्तव्य में रत होना चाहिए।[२] कर्मफल की ओर संकेत करते हुए वेदान्त में यह स्पष्ट कह दिया गया है है कि जहाँ उत्कृष्ट कर्मों का सम्पादन करके मनुष्य स्वर्गादि लोकों को प्राप्त करता है, वहाँ निकृष्ट कर्मों के द्वारा वह निकृष्ट लोकों एवं देह को प्राप्त करता है। इतना ही नहीं, मनुष्य के वर्तमान कर्मों का उसके गत कर्म भी हैं जिनकी प्रेरणा एवं पृष्ठभूमि से वह वर्तमान में कर्मरत है। कदाचित् इसीलिए स्वामी विवेकानन्द ने गत कर्मों के कारण एवं वर्तमान कर्मों को कार्य का रूप प्रदान किया था।[३]

इसाई एवं इस्लाम की जीवन दृष्टि के विपरीत वेदान्त दर्शन पुनर्जन्मवाद सिद्धान्त को स्वीकार करता है तथा प्रारब्ध कर्मफल भोग के सिद्धान्त के आधार पर जहाँ मानव को एक ओर कर्म के सम्बन्ध में न्यायपूर्ण दृष्टि का बोध कराता है, वहाँ दूसरी ओर उसे कर्मजन्य दुःख भोग के सम्बन्ध में सान्त्वना देते हुए वह पुनः सुख की कामना से सत् कर्मों के प्रति प्रेरित भी करता है। यदि विचार कर देखा जाय तो वर्तमान में किया गया फल भोग पूर्व ऋण चुकाने के समान ही है एवं वर्तमान के शुभ एवं अशुभ कर्म मानव की भविष्यत् की सत् एवं असत् संपत्ति के ही पूर्व रूप हैं।

साथ ही, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम की व्यवस्था को स्वीकार करके वेदान्त ने ऐसी जीवन पद्धति को अपनाया है, जिसके द्वारा मनुष्य व्यक्तिगत साध्य की उपलब्धि के साथ-साथ सामाजिक दायित्वों का भी निर्वाह करने में समर्थ होता है। वर्तमान परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में यहाँ यह कहना अप्रासङ्गिक न होगा कि यदि आधुनिक युग का मानव ब्रह्मचर्यादि आश्रमों का निर्वाह करता तो वर्तमान युग की विविध प्रकार के नियोजन आदि की समस्याएं स्वतः सुलझ जातीं। परिणामतः

२. प्रारब्धमखिलं भुञ्जन्नोद्वेगं कर्तुमर्हति। अपरोक्षानुभूति ८९।

३. A Philosophical Quarterly, April, 1970, p. 81.

ब्रह्मचर्य आश्रम गृहस्थआश्रम न बन जाता और न वानप्रस्थ एवं संन्यास गृहस्थआश्रम का रूप ग्रहण कर लेते।

वेदान्तिक जीवन दर्शन की वैज्ञानिक प्रक्रिया का स्वरूप संस्कारवाद के अन्तर्गत देखने को मिलता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य जिन कर्मों का सम्पादन करता है उसका प्रभाव उसके मानसपटल पर अवश्य पड़ता है। सत् एवं असत् कर्मों से निर्मित ये संस्कार ही मानव में सत् एवं असत् वृत्ति का निर्माण करते हैं और यह वृत्ति ही मानव को पुनः पुनः सत् एवं असत् कर्मों में प्रवृत्त करता है। जैसा कि वेदान्त परिभाषाकार ने स्वीकार किया है, वृत्ति से यहाँ हमारा तात्पर्य अन्तःकरण के परिणाम विशेष से है।[1] प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने भी चेतन एवं अचेतन मन के रूप में संस्कारवाद के सिद्धान्त को स्वीकार किया था।

ईश्वरवाद वेदान्तिक जीवन दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है। वेदान्त में जीव के सत् एवं असत् कर्मों के फल का दाता ईश्वर ही है। जड़ कर्मों में स्वयं फल प्रधानता सम्भव न होने के कारण ईश्वरवाद की कल्पना नितान्त अपेक्षित ही है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जैन, बौद्ध, मीमांसा एवं निरीश्वर सांख्य के समक्ष यह प्रश्न चिह्न अनुक्षरित ही रह गया था। शाङ्कर वेदान्त का ईश्वर जीव को विभिन्न प्रकार के शुभाशुभ फल अवश्य प्रदान करता है, किन्तु उसके स्वकृत कर्मो के आधार पर ही। स्वतन्त्र रूप से न वह किसी को सुख देता है और न दुःख। इस प्रकार ईश्वर का स्वरूप एक निष्पक्ष न्यायाधीश का स्वरूप है। वेदान्त का ईश्वर न किसी को ऊँचा उठाता है और न किसी का अधः पतन करता है। वह तो जीव के उन्नत एवं निकृष्ट कर्मों के अनुसार ही उसे फल देता है। इस प्रकार वेदान्त में ईश्वर कृपा एवं ईश्वर प्रार्थना के सिद्धान्त भी अपना स्वतन्त्र अर्थ रखते हैं। वेदान्त में ईश्वर कृपा की संगति यही है कि जीव ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करके सत् कर्म में प्रवृत्त हो तथा जो कुछ प्राप्त किया है उसे ईश्वर कृपा का फल समझ कर धैर्यपूर्वक भोगे। ईश्वरोपासना एवं प्रार्थना का उद्देश्य भी वेदान्त में आत्मालोचन, आत्मपरिष्कार एवं चित्त शुद्धि के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त वेदान्त में ईश्वर का अन्तर्यामित्व प्राणी को असत् कर्मों से घृणा एवं सत् कर्मों में प्रतिष्ठा का अप्रत्यक्ष उपदेश करता है। इस प्रकार वेदान्त का ईश्वरवाद मनुष्य को कर्मण्यता की सक्रिय दृष्टि प्रदान करता है। इस प्रकार वेदान्त का ईश्वरवाद मनुष्य को कर्मण्यता की सक्रिय दृष्टि प्रदान करता है। साथ ही ईश्वरवाद का यह सिद्धान्त वैज्ञानिक दृष्टि पर आधारित होने के कारण मात्र कल्पना नहीं कहा जा सकता।

अब यहाँ यह कह देना उपयुक्त होगा कि वेदान्तिक जीवन दर्शन का पर्यवसान जीवनमुक्ति के लौकिक एवं अलौकिक एवं समन्वयात्मक सिद्धान्त में हुआ है। जीवनमुक्ति का यही आशय है कि मानव इसी संसार में रहते हुए मुक्ति प्राप्त कर लेता है। जीवन्मुक्ति उस स्थिति का नाम है, जिसमें जीव ब्रह्मस्वरूपता रूप निज आनन्दमय स्वभाव को प्राप्त करके समस्त संसार में एकात्मवाद का अनुभव करता है। सम्प्रदायवाद से थोड़ा हटकर मुक्ति या ब्रह्म की स्थिति को मानव की धर्म, जाति एवं रूप रंग के भेद से रहित स्वाभाविक स्थिति का रूप कहा जा सकता है। मानव की यही निश्छल एवं निर्मल स्थिति

१. अन्तःकरणस्य परिणाम विशेषो वृत्तिः, वेदान्तपरिभाष्यम् १।

समस्त विश्व में एकात्मवाद का अनुभव कर सकती है। आज के सन्दर्भ में जीवन्मुक्ति को इसी दृष्टि से देखने की अपेक्षा है, और यह वेदान्त के विपरीत कदापि नहीं है। मेरे विचार से ब्रह्म को भी इसी व्यापक स्थिति का नाम समझना चाहिए। वेदान्त के अनुसार जीवन्मुक्त प्राणी समत्व एवं परत्व की भावना से उठकर समस्त संसार के साथ समत्व का व्यवहार करता है। उसके द्वारा स्वभावतः शुभ कर्मों का ही सम्पादन होता है, यों वह 'शुभाशुभ परित्यागी' होता है। यहाँ यह आक्षेप स्वाभाविक है कि जब जीवन्मुक्त प्राणी का शुभाशुभ का भेद समाप्त हो जाता है तो उसके द्वारा शुभ कर्मों का ही सम्पादन क्यों होता है। इस सम्बन्ध में वेदान्त का यही समाधान है कि जीवन्मुक्ति के स्तर तक पहुँचते-पहुँचते प्राणी का चित्त ऐसा परिष्कृत हो जाता है कि उसके द्वारा सहज रूप से शुभ कर्मों का ही सम्पादन होता है। इस प्रकार जीवन्मुक्ति मानव की उस व्यवहार दशा का नाम है जिसमें वह इस संसार में रहकर अनासत्य भाव से सत् कर्मों का पालन करते हुए परम शान्तिपूर्ण जीवनयापन करता है। जहाँ तक जीवन्मुक्ति की योग्यता का प्रश्न है, यों तो वेदान्त में नित्यनित्य वस्तु विवेक आदि अनेक योग्यताओं का निर्देश किया गया है, किन्तु प्रत्यक्ष एवं प्रधान रूप से चित्त की स्वच्छता ही जीवन्मुक्ति का अपेक्ष्य है। चित्त की यह स्वच्छता हिन्दु, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई आदि सभी में सम्भव है। इस प्रकार वेदान्त के द्वार बिना किसी धर्म एवं सम्प्रदाय आदि की अपेक्षा के मानव मात्र के लिए खुले हुए हैं।

संक्षेप में यह कह देना समीचीन होगा कि सांसारिक दुःखों से सन्तप्त मानव को सुख एवं सान्त्वना प्रदान करने वाला यदि वेदान्त है तो सुखमय जीवन का यापन करने वाले व्यक्ति को निर्लिप्त भाव से जीवन का उपदेश देने वाला भी यही दर्शन है। वेदान्त ही अकर्मण्य एवं अपूर्ण को पूर्ण बनाने का मार्ग प्रदर्शन करता है। इसके अतिरिक्त वेदान्त का उद्देश्य जहाँ समीप व्यष्टि का स्वरूप प्रदान करता है, वहीं एकात्मवाद सिद्धान्त के आधार पर भौतिक दृष्टि एवं धर्मजात्यादि के कारण संसार के असमान मानवों को एक सूत्र में बाँधना उसका परम उद्देश्य है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म।

यास्क पर शौनक द्वारा किये गये आक्षेप और उनका समाधान

डॉ० कपिलदेव शास्त्री

नैरुक्त आचार्यों की परम्परा में यास्क अन्तिम और अप्रतिम आचार्य माने जाते हैं। जिस प्रकार पाणिनि की अष्टाध्यायी के समक्ष अन्य प्राचीन आचार्यों की व्याकरण-विषयक कृतियाँ उपेक्षित और तिरोहित होती गयीं, केवल अष्टाध्यायी में उनका नाममात्र शेष रह गया है, उसी प्रकार यास्कीय निरुक्त के समक्ष निरुक्तशास्त्रीय अन्य ग्रन्थ उपेक्षित होकर सर्वथा लुप्त हो गये। आज केवल यास्कीय निरुक्त में ही उन प्राचीन नैरुक्तों—गार्ग्य, गालव, औपमन्यव, तैटीकि इत्यादि आचार्यों के नाम देखने को मिलते हैं। सहस्रों वर्षों से निरुक्त शास्त्र के नाम पर यास्ककृत निरुक्त ग्रन्थ का ही अध्ययन—अध्यापन होता आ रहा है।

वैदिक पदों के निर्वचन-विषयक सिद्धान्त एवं उन सिद्धान्तों के आधार पर पदों का निर्वचन, उदाहरणार्थ दिये गए मंत्रों की संक्षिप्त व्याख्या, देवताओं का स्वरूप, उनका वर्गीकरण एवं विवेचन आदि की दृष्टि से यास्कीय निरुक्त एक अद्वितीय ग्रन्थ है।

यास्क के पर्याप्त समय पश्चात् शौनक ने अपने ग्रन्थ रत्नों से वैदिक साहित्य के क्षेत्र को समलंकृत किया। इनमें उनके ऋक्प्रातिशाख्य, सर्वानुक्रमणी तथा बृहद्देवता आदि ग्रन्थ अति प्रसिद्ध हैं। बृहद्देवता में ऋग्वेद के देवता सम्बन्धी सम्पूर्ण विवरण उपलब्ध हैं। प्रसङ्गतः शौनक ने इस ग्रन्थ के प्रथम दो अध्यायों में, भूमिका के रूप में, अनेक वेदार्थोपयोगी विषयों का विवेचन अथवा सङ्कलन किया है। इनमें ऋषि, देवता आदि के ज्ञान की उपयोगिता, देवता की परिभाषा, नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात आदि का स्वरूप, देवताओं का त्रिविध विभाग इत्यादि विशेष महत्त्व के विषय है।

बृहद्देवता तथा निरुक्त के पारस्परिक अध्ययन से स्पष्ट है कि शौनक ने बृहद्देवता की रचना में यास्कीय निरुक्त से अत्यधिक सहायता ली है। डा० लक्ष्मणस्वरूप ने निरुक्त के संस्करण के अन्त में तथा प्रो० ए० ए० मैक्डानल ने बृहद्देवता के संस्करण के अन्त में ऐसे सभी स्थल संकलित किये हैं जहाँ दोनों में केवल शैली का अन्तर है, एक गद्य-शैली में है तो दूसरा छन्दोबद्ध है[1], दोनों की शब्दावली सर्वथा समान है। यहाँ उदाहरणार्थ दो स्थल प्रस्तुत हैं—

१—निरुक्त १,४;

अथ निपाता उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति। अप्युपमार्थे, अपि कर्मोपसंहार्थे, अपि पदपूरणाः।

१. (क) निरुक्त, डा० लक्ष्मणस्वरूप सम्पादित, पञ्जाब विश्वविद्यालय प्रकाशन, १९२७, पृ० २६६–२७३

(ख) बृहद्देवता, ए०ए० मैक्डानल सम्पादित, हारवर्ड सीरीज, १९०४, पृ० १३३६–४५

तुलना कीजिये—बृहद्देवता २,८९;

उच्चावचेषु चार्थेषु निपाताः समुदाहृताः ।
कर्मोपसंहार्थे च क्वचिच्चौपम्यकारणात् ॥

२—निरुक्त ७, १;
यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायाम् आर्थपत्यम् इच्छन् स्तुतिम्प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति ।
तुलना कीजिये—बृहद्देवता १,६;

अर्थम् इच्छन् ऋषिर्देवं यं यमाहायमस्त्विति ।
प्राधान्येन स्तुवन् भक्त्या मंत्रस्तद्देव एव सः ॥

इसप्रकार के समान स्थलों से स्पष्ट है कि बृहद्देवता निरुक्त का महान् ऋणी है ।

परन्तु बृहद्देवता में शौनक ने यास्क पर कुछ गम्भीर आक्षेप किये हैं[1], जिनकी परीक्षा करना इस शोधपत्र का उद्देश्य है ।

शौनक का प्रथम आक्षेप है कि यास्क ने 'अरुणो मा सकृत्'[2] इस मंत्र में 'मा' तथा 'सकृत्' इन दो पदों को, जिन्हें पदपाठ में पृथक्-पृथक् माना गया था, एक मानकर अर्थ किया है। यह पूरा मंत्र इस रूप में है—

अरुणो मासकृद् वृकः यथा यन्तं ददर्श हि ।
उज्जिहीते निचाय्या तष्टेव पृष्ठ्यामयी, वित्तं मेऽस्य रोदसी ॥

इस मन्त्र की यास्क-कृत व्याख्या है—

अरुणः—आरोचनः, मासकृत्-मासानां चार्धमासानां च कर्ता (भवति) चन्द्रमाः । वृकः यथा यन्तं ददर्श नक्षत्रगणम् । अभिजिहीते निचाय्य येन येन योक्ष्यमाणो भवति चन्द्रमाः । तक्ष्णुवन्निव पृष्ठरोगी । जानीतं मेऽस्य द्यावापृथिव्याविति ।[3]

निरुक्तकार ने इस मन्त्र को 'वृक' शब्द की व्याख्या के प्रसङ्ग में उद्धृत किया है जिसका निर्वचन

---

१. बृहद्देवता २, ११२–१४
अनेकं तत्तथा चान्यद् एकमेव निरुक्तवान् ।
'अरुणो मा सकृत्' मंत्रे 'मा सकृद्' विग्रहेण तु ॥
पदव्यवायेऽपि पदे एकीकृत्य निरुक्तवान् ।
'गर्भं निधानम्' इत्येते 'न जामये०' इति त्वृचि ॥
पदजातिरविज्ञाता 'त्वः' पदेऽर्थः शितामनि ।
स्वरानवगमोऽधायि' 'वने नेत्यृचि दर्शितः ॥

२. ऋ० १/१०५/१८

३. निरुक्त ५/२१

वे, 'वृकश्चन्द्रमा भवति विवृतज्योतिष्को वा, विकृतज्योतिष्को वा, विक्रान्तज्योतिष्को वा'[१] इस रूप में, उपर्युक्त व्याख्या से पूर्व कर चुके हैं।

यास्क के अनुसार मन्त्र का अभिप्राय है कि प्रकाश करने याला (अरुणः) तथा मास (और अर्धमास आदि) का निर्माता (मासकृत्) चन्द्रमा (वृकः) आकाशमार्ग से (पथा) जाते हुए (यन्तम्) नक्षत्रगण को देखता है तथा देखकर (निचाय्य) ऊपर की ओर गति करता है (उज्जिहीते) अर्थात् जिस-जिस नक्षत्र से योग होता है उस-उस के साथ ऊपर उठता जाता है। शनैः शनैः ऊपर उठने के लिये एक उपमा दी गयी है कि जिस प्रकार तक्षा (बढ़ई), जो निरन्तर झुककर काम करता है और इस कारण जिसकी पीठ में रोग हो जाता है (पृष्ठचामयी), 'पीठ' की वेदना के कारण धीरे-धीरे उठता है उसी प्रकार। द्यावा-पृथिवी मेरे इस कष्ट को जानें।

यहाँ 'मा सकृत्' इन दो पदों का यास्क द्वारा एकीकरण शौनक को आपत्तिजनक लगा। यह ठीक है कि ऋग्वेद के शाकल्यकृत पदपाठ में इन दोनों को पृथक्-पृथक् माना गया है, पर प्रश्न यह है कि क्या पदपाठ का अतिक्रमण करना इतना दोषावह है कि यास्क को केवल इसी कारण दोषी ठहराया जाय? वेदभाष्यों पर दृष्टि डालने पर अनेक स्थल ऐसे मिल सकते हैं जहाँ व्याख्याकार को मंत्रार्थ की सङ्गति के लिये पदपाठ का उल्लंघन करना आवश्यक हो जाता है। ऋ० १०।२७।२४ के 'मा स्मेतादृक्' का पदपाठ है। 'मा। स्म। एतादृक्'। इस अंश की उद्गीथ ने 'मा, अस्मै, तादृक्' पाठ मानकर व्याख्या की है।[१]

स्वयं पदपाठों की स्थिति भी तो विविध शाखाओं में भिन्न-भिन्न हैं। यजुर्वेद ५।७ का 'एष्टा' तैत्तिरीय संहिता के पदपाठ में एक पद है तथा माध्यन्दिन के पदपाठ में 'आ इष्टा' इस रूप में दो पदों में विभक्त है[२]।

वस्तुतः पदपाठ भी तो एक प्रकार से संक्षिप्त व्याख्या ही है, वह अपौरुषेय तो नहीं है। फिर उससे किसी व्याख्याकार का असहमत होना क्यों दोषावह माना जाय?

इस प्रसङ्ग में पाणिनि तथा पतंजलि के पदपाठ विषयक दृष्टिकोण की ओर भी ध्यान दिया जा सकता है। पाणिनि के अनेक सूत्र, निष्पत्ति की दृष्टि से, पदपाठ के विपरीत हैं। परन्तु पतंजलि ने पाणिनि की इस स्थिति को दोषावह नहीं माना तथा तीन बार यह कहा कि व्याकरण का नियम पदपाठ के अनुकूल हो यह आवश्यक नहीं है। उलटे यह आवश्यक है कि पदपाठ व्याकरण के नियम के अनुकूल हो—'न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः। पदकारैर्नाम लक्षणम् अनुवर्त्यम्'[३]।'

सायण से प्राचीन वेद-भाष्यकार वेंकटमाधव ने 'मा' तथा 'सकृत्' को दो पद मानकर इस मन्त्र की व्याख्या की है। पर अपनी व्याख्या के पश्चात् उसने यास्क के मत का भी उल्लेख किया

---

१. द्र० वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भा० १, २,१९३१, पृ० २३
२. वही, पृ० १५६
३. महाभाष्य, ३।१।१०३, ६।१।२०७, ८।२ १६

है[1] । वैंकटमाधव का अनुसरण करते हुए सायण ने उपरिनिर्दिष्ट मन्त्र की व्याख्या, 'मा सकृत्' पदों को अलग-अलग मानकर, इस रूप में की है—'जङ्गली कुत्ते अथवा भेड़िये ने (वृकः) मार्ग से जाते हुए (पथा यन्तम्) मुझको (मा) एक बार (सकृत्) देखा तथा देखकर (निचाय्य) मुझे पकड़ने के लिए उसी प्रकार ऊपर उठा (उज्जिहीते) जिस तरह पृष्ठरोगी बढ़ई (पृष्ठ्यामयी तक्षा इव) धीरे से ऊपर उठता है । पर विकल्प के रूप में इन दोनों पदों को एक मानते हुए यास्कानुसारी व्याख्या को भी सायण ने अपने भाष्य में सादर प्रस्तुत किया है ।[2]

शौनक का दूसरा आक्षेप है कि यास्क ने 'न जामये तान्वो रिक्थमारैक्[3]' इस मन्त्र के 'गर्भं सनितुर्निधानम्' इस अंश का 'सनितुः गर्भनिधानम्' अर्थ किया है, जिसमें 'गर्भम्' तथा 'निधानम्' इन दोनों पदों को एक मान लिया गया है । इस मन्त्र का पूर्वार्ध है—'न जामये तान्वो रिक्थमारैक चकार गर्भम् सनितुर्निधानम्' । इसकी यास्ककृत व्याख्या है—'न जामये-भगिन्य—तान्वः-आत्मजः पुत्रः, रिक्थ प्रारिचत्, प्रादात् । चकार एनां गर्भनिधानीम्, सनितुः—हस्तग्राहस्य ।' अर्थात् आत्मज पुत्र (तान्वः) अपनी पैतृक सम्पत्ति में से (रिक्थम्) भगिनी को (जामये) हिस्सा नहीं देता (न आरैक्), अपितु उसे उसके पति के (सनितुः) गर्भाधान के योग्य (गर्भनिधानम्) बनाता है (चकार) ।

यहाँ मंत्र के संहितापाठ तथा पदपाठ दोनों में 'गर्भम्' तथा 'निधानम्' दोनों विभक्त्यन्त पद है । अतः दोनों को एक नहीं माना जा सकता । यास्क ने 'गर्भनिधानीम्' इस व्यवस्था में 'गर्भ' का 'निधानम्' के साथ समास मान लिया है । शौनक को यह बात आपत्तिजनक प्रतीत हुई । यहाँ मंत्रार्थ निश्चित ही विचारणीय है । पर यह भी निश्चित है कि 'चकार गर्भम् सनितुः निधानम्' इस अंश की संगति, बिना 'गर्भम्' तथा निधानम् 'को एक पद माने, लग ही नहीं सकती । वैंकटमाधव ने इस मंत्र की व्याख्या में यास्क का अनुकरण कर के 'गर्भम्' तथा 'निधानम्' को 'गर्भनिधानीम्' के रूप में ही सुसंगत किया है[4] । सायण ने भी इस स्थल की व्याख्या में, यास्क का अनुगमन करते हुए, 'गर्भम्' पद में षष्ठी के अर्थ में

---

१. द्र० ऋगर्थदीपिका, वैंकटमाधवकृत, भाग १, डा० लक्ष्मणस्वरूप सम्पादित, लाहौर, १९५९, पृ० ५३९;
तृषितं मां मार्गेण गच्छन्तं पृष्ठतः स्थितः कश्चिद् अरुणः वृकः ददर्श । दृष्ट्वा च गमनार्थ-मुज्जिहीते । यथा तष्टा अनवरततक्षणात् जातपृष्ठवेदनः सन् उत्तिष्ठति तद्वत् । यास्कपक्षे तूदितश्चन्द्रमा इति मन्त्रार्थः ।

२. द्र० इस मन्त्र का सायणाचार्य-कृतभाष्य, भाग १, पृ० ६४९

३. ऋ० ३।३१।२

४. द्र० ऋगर्थदीपिका, भाग २, पृ० ४९७,
न जामये—न भगिन्यै । तान्व—आत्मजः पुत्रः । रिक्थम् प्रारिचत—प्रादात् चकारैनाम् । गर्भम् सम्भक्तुर्हस्तग्राभस्य गर्भनिधानीम् ।

द्वितीया का प्रयोग माना है।[१] 'गर्भस्य नि धानम् रेतःसेकनिधा नीम् एनां चकार' ।

शौनक का तृतीय आक्षेप है कि यास्क को यह पता नहीं था कि 'त्व' पद किस जाति का है अर्थात् वह निपात है या सर्वनाम ? यास्क ने निरुक्त में निपातों की चर्चा करते हुए 'त्व' पद-विषयक कुछ बातें कहीं है। परन्तु उन्होंने स्पष्ट रूप से 'त्व' को सर्वनाम माना है, निपात नहीं-'त्व इति विनिग्रहार्थीयं सर्वनामानुदात्तम् अर्धनामेत्येके'[२], अर्थात् 'त्व' पद विनिग्रह अर्थ वाला सर्वनाम है। 'विनिग्रह' का अर्थ है कुछ इस प्रकार का नियम या व्यवस्था कि 'यह आदमी इस कार्य को करेगा तथा दूसरा दूसरे काम को करेगा'। इस रूप में 'त्व' का अर्थ है एक या कुछ व्यक्ति । कुछ विद्वान् 'त्व' को 'आधा' इस अर्थ का वाचक भी मानते है।

यास्क ने न केवल 'त्व' को सर्वनाम माना अपितु, निपात मानने वालों का खण्डन करते हुए, सर्वनामता की पुष्टि में दो अकाट्य हेतु दिये हैं। प्रथम हेतु यह है कि यदि यह निपात होता तो इसे, 'निपाता आद्युदात्ताः[३]' के अनुसार उदात्त होना चाहिये था जबकि यह अनुदात्त रूप में ही मिलता है। वेदमंत्रों में सर्वत्र यह अनुदात्त रूप में ही प्रयुक्त है। दूसरा हेतु यह कि सर्वनाम शब्दों के समान इसके विभक्तियों में भिन्न भिन्न रूप देखे जाते हैं। जैसे-प्रथमा एकवचन में 'त्वः', बहुवचन में 'त्वे', द्वितीया में 'त्वम्', चतुर्थी एकवचन में 'त्वस्मै' इत्यादि[४]। इसके विपरीत निपात अव्यय होते हैं, उनके रूप नहीं चला करते[५]। उनके विभक्ति-रूपों में 'व्यय' (परिवर्तन, विविधरूपता) नहीं देखा जाता। इसी दृष्टि से अव्ययों के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है—

सदृशं त्रिषु लिंगेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्[६] ॥

यह अवश्य है कि 'त्व' इस सर्वनाम का प्रयोग प्रायः वेद तक ही सीमित है और वह भी कुछ विभक्तियों तथा वचनों में ही इसके रूप पाये जाते हैं।

'त्व' पद की सर्वनामता आचार्य पाणिनि को भी अभिमत है क्योंकि उनके सर्वादिगण में, जो सर्वनाम शब्दों की सूची प्रस्तुत करता है, 'त्व' पद पठित है[७]। फिट्सूत्रकार शान्तनवाचार्य ने भी सम,

---

१. द्र० सायण भाष्य भाग २, पृ० ३२४
२. नियुक्त १।७
३. फिट्सूत्र ८०
४. द्र०—निरुक्त १।८ निपात इत्येके। तत्कथम् अनुदात्तप्रकृति नाम स्याद् । दृष्टव्ययं तु भवति ।
५. तुलना करो, अष्टाध्यायी १।१।३७, स्वरादिनिपातमव्ययम् ।
६. काशिका १।१।३७, में उद्धृत
७. द्र० डॉ० कपिलदेव शास्त्री सम्पादित पाणिनीय गणपाठ (The Ganapath Ascribed to Panini) कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय प्रकाशन, १९६७, पृ० १

यदि शौनक त्व को निपात मानते हैं तो उनका पक्ष सर्वथा हेय है, वह निराकृत हो चुका है क्योंकि त्व के प्रयोगों से उसकी पुष्टि नहीं होती। यदि वे त्व की सर्वनामता के पक्षपाती हैं तो यास्क को स्पष्ट रूप में वह मत अभिमत ही है। इसलिये समझ में नहीं आता कि शौनक ने किस आधार पर अथवा किस दृष्टि से यह कहा कि यास्क को 'त्व' की पद जाति का ज्ञान नहीं था।

शौनक का चौथा आक्षेप है कि यास्क को 'शितामन्' के पद का अर्थ पता नहीं लगा। 'शितामन्' शब्द का प्रयोग यजुर्वेद[7] में ही मिलता है। यहाँ का पूरा मन्त्र है—

"होता यक्षदिन्द्राग्नी छागस्य हविष आत्तामद्य मध्यतो मेद उद्भृतं पुरा द्वेषोभ्यः पुरा पौरुषेय्या गृभो घस्तां नून घासे अजाणां यवसप्रथमाणां समुत्क्षराणां शतरुद्रियाणम् अग्निष्वात्तानां पीवोपवसनानां पार्श्वतः श्रोणितः शितामत उत्सादतोऽङ्गादङ्गा दवत्तानां करत एवेन्द्राग्नी जुषेतां हविर्होतर्यज।

यहाँ का 'पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः' यह अंश इस प्रसंग में विचारणीय है। मंत्र के ये तीनों शब्द शरीर के अंगों के वाचक हैं। यज्ञीय पशु के दोनों पार्श्व, श्रोणी (कटिप्रदेश), अगले पंजे क्रमशः इन तीनों शब्दों के वाच्यार्थ हैं।

यास्क ने निरुक्त (४–३) में इस अंश की व्याख्या में 'शिताम्' का अर्थ यज्ञीय पशु की 'भुजा' (अगले पैर) किया है—'दोः शताम् भवति'। यास्क ने इस शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में यहाँ शाकपूणि, तैटीक तथा गालव के मतों का भी उल्लेख किया है। शाकपूणि के अनुसार 'शिताम्' का अर्थ योनि, तैटीक के अनुसार यकृत् तथा गालव के अनुसार मेदस् है।

वस्तुतः ये शब्द ऐसे हैं जिनके प्रकृति प्रत्यय का निश्चय नहीं हो सकता। इन्हें यास्क ने अनवगत-संस्कार वाला अनेकार्थक माना है।[8] अतः यदि यास्क ने 'शिताम्' शब्द का स्वाभिप्रेत अर्थ देने के पश्चात् अन्य आचार्यों को स्वीकृत अर्थों का भी उल्लेख कर दिया तो इससे यह अनुमान कैसे निकाला जा सकता है कि उन्हें इस शब्द के अर्थ का ही ज्ञान नहीं था? यजुर्वेद के भाष्यकार उवट तथा महीधर ने भी यास्कर्थ-प्रदर्शित अर्थों को ही स्वीकार किया है।

शौनक का पाँचवाँ आक्षेप यह है कि 'वने न वायो' इस ऋचा के 'न्यधायि' इस पद में यास्क को स्वर का निश्चय नहीं हो सका। पूरा मन्त्र है—

---

५. द्र० फिट्सूत्र ७८; त्वत्वसमसिमेत्यनुच्चानि।

६. द्र० ए० ए० मैक्डानल कृत वैदिक ग्रामर, १८६२, पृ० ४५२, ८ ए तथा मौनियर विलियम संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, १९५६, पृ० ४५६

७. य० २१।४३

८. द्र० निरुक्त ४।१, अथ मान्यनेकार्थान्येकशब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः। अनवगतसंस्काराश्च निगमान्।

वने न वायो न्यधायि चाकन् शुचिर्वां स्तोमो भुरणावजीगः ।
यस्येदिन्द्रः पुरुदिनेषु होता नृणां नर्यो नृतमः क्षपावान्[२] ॥

इस मन्त्र की यास्क द्वारा की गई संक्षिप्त व्याख्या है—

'वने इव । वायो—वेः पुत्रः (वायः) । चायन्निति वा कामयमान इति वा' । जिस प्रकार पक्षी वन (वृक्ष) को प्राप्त होता है उसी प्रकार, हे भरण करने वाले अश्विनी (भुरणौ) ! पवित्र (शुचिः) मेरा स्तोम, तुम दोनों की कामना करता हुआ (चाकन्), तुम दोनों को प्राप्त होता है (अजीगः), जिस स्तोम के लिये, वीरों में श्रेष्ठ वीर (नृणां नृतमः) मानवों का हितैषी (नर्यः) रात्रि में किये गये सोमाभिषेकों का सेवन करने वाला (क्षपावान्), इन्द्र यह कहता है कि ये स्तोम मुझे प्राप्त हों ।

यास्क ने केवल मंत्र के प्रथम चरण की व्याख्या की है । प्रस्तुत प्रसङ्ग में केवल 'वायः' पद विचारणीय है । ऋग्वेद के पदपाठकर्त्ता शाकल्य ने 'वा' तथा 'यः' इस रूप में, 'वायः' को एक पद न मानकर, दो पद माना है । परन्तु दो पद-विषयक स्थिति, वैदिक स्वरशास्त्र के अति प्रसिद्ध एवं व्यापक नियम को देखते हुए, आपत्तिजनक है । नियम यह है कि 'प्रधान वाक्य की प्रधान क्रिया यदि अतिदण्ड पद के बाद आती है तो वह सर्वानुदात्त होती है ।' पाणिनि का 'तिङ्ङतिङः'[१] सूत्र इसी स्थिति को स्पष्ट करता है । इसके साथ ही दूसरा नियम यह है कि 'अप्रधान वाक्य की क्रिया उदात्त होती है ।' वाक्य अप्रधान तब होता है जब वह 'यद्' के रूपों से युक्त होकर अवान्तर वाक्य बन जाता है । इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिये पाणिनि ने 'यद् वृत्तान्नित्यम्'[२] सूत्र बनाया है । यह सूत्र 'यद्-वृत्त' ('यद्' सर्वनाम से निष्पन्न प्रयोग) से युक्त तिङन्तपद को नित्य उदात्त विधान करता है । इस नियम का वेद में सर्वत्र पालन हुआ है । इसी कारण पाणिनि ने अपने सूत्र में 'नित्यम्' पद का प्रयोग आवश्यक समझा । इस नियम के अनुसार यदि 'वाय' को दो पद मानकर 'यः' को अलग किया गया तो 'यः' से युक्त 'न्यधायि' पद को उदात्त होना चाहिये, जबकि संहितापाठ में यह सर्वानुदात्त 'न्यधायि' मिलता है । इसके अतिरिक्त 'यः' से जो अवान्तर वाक्य आरम्भ होगा उसकी पूर्ति 'तत्' के प्रयोग से करनी होगी । अन्यथा वाक्य अधूरा रह जायगा । शाकल्य के द्वारा किये पदपाठ में, जिसमें 'यः' को पृथक् माना गया है, ये दोनों दोष, तिङन्त पद (न्यधायि) का उदात्त होना तथा वाक्य की अपूर्णता, उपस्थित होते हैं । अतः 'वायः' को एक पद मानने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं दिखाई देता ।

यास्क ने इस मन्त्र के 'वायः' पदविषयक पदपाठ से सम्बद्ध इन दोनों दोषों का निरुक्त (६।२८) में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है—'वेति च य इति च चकार शाकल्यः ।उदात्तं त्वेवमाख्यातम् अभविष्यद् । असुसमाप्तश्चार्थः' ।

पदपाठ के विपरीत यास्क ने जो तर्कसंगत एवं वैदिक व्याकरण के अनुरूप बात कही है वह शौनक को नहीं जंची । अतः उन्होंने यह कह दिया कि यहाँ यास्क को 'न्यधायि' पद के स्वर का ही पता नहीं

२. ऋग्वेद १०।२९।१
१. अष्टाध्यायी ८।१।२७
२. वही ८।१।६६

लगा। पर शौनक ने यह नहीं बताया कि 'न्यधायि' पद को वे उदात्त मानते हैं या सर्वानुदात्त? यदि वे उदात्त मानते हैं तो वह उचित नहीं क्योंकि संहितापाठ में यह पद उदात्त नहीं है। यदि वे सर्वानुदात्त मानते हैं तो शाकल्य के पदपाठ के अनुसार वह सम्भव नहीं है—वह तो तभी सम्भव है यदि 'वायः' को एक पद माना जाय।

सायण ने इस मन्त्र के भाष्य में यास्क के अनुसार ही 'वायः' को एक पद मानकर उसका 'पदी' अर्थ किया है तथा पदपाठ की दो पद-विषयक स्थिति का खण्डन किया है—

'एवमेतस्मिन् पदद्वये सति यदेतद् आख्यातं 'न्यधायि' इति तदुदात्तमभविष्यत्। 'यद्वृत्तात्परस्य नित्यम् आख्यातस्य निघातो न भवतीति लक्षणविदो मन्यन्ते। न चेदमुदात्तम्। तस्माद् 'यः' इति नदं यद्-वृत्तम्। किं तर्हि? 'वायः' इत्येकमेव पदम्। किं च 'असुसमाप्तश्चार्थः'—अपुष्कलः। एवमेव तस्मिन् पदद्वये सति मन्त्रस्यार्थो सुसमाप्तो भवति[1]।'

निष्कर्ष यह है कि शौनक द्वारा यास्क पर किये गये इन आक्षेपों में कोई सार नहीं है। मन्त्र की याख्या को सुसंगत करने की दृष्टि से व्याख्याकार संहिता के एक पद को दो या अनेक पदों में तथा दो या अनेक पदों को एक पद में बदल सकता है। ब्राह्मण ग्रन्थों की मन्त्र-व्याख्याओं में इस तरह के प्रचुर उदाहरण उपलब्ध है। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि पदपाठ में भी तो भूलें हो सकती है—यदि किसी भूल को व्याख्याकार अंगीकार नहीं करता तथा उसके विपरीत अर्थ करता है तो यह दूषण न होकर भूषण है। अतः यास्क ने यदि ऐसा किया तो वे एक मार्ग निर्देशक के रूप में हमारे आदर के पात्र हैं। इसी प्रकार 'त्व' पद के सम्बन्ध में कुछ प्राचीन विद्वानों की निपात-विषयक भ्रान्त मान्यता का निराकरण करते हुए उसके सही रूप सर्वनामता का प्रतिपादन एवं पोषण करके यास्क ने आचार्य—परम्परा के अनुरूप ही कार्य किया है। आज के वैदिक विद्वान् भी 'त्व' को सर्वनाम ही मानते हैं।

यह आश्चर्य का विषय है कि शौनक जैसे व्युत्पन्न एवं वेद के परिनिष्ठित विद्वान् ने इस प्रकार के निराधार आक्षेप यास्क पर क्यों किये तथा उससे भी अधिक आश्चर्य का विषय यह है कि निरुक्त के व्याख्याकारों—आचार्य दुर्ग एवं स्कन्द आदि विद्वानों—का ध्यान शौनक के इन आक्षेपों की ओर क्यों नहीं गया और यदि गया तो उन्होंने इन आक्षेपों का निराकरण क्यों नहीं किया?

—:०:—

---

१. सायण भाष्य, भाग ४, पृ० ३७२

वाल्मीकिरामायणे वस्तुचित्रणम्

डॉ० शिवप्रसादो भारद्वाजः

पाश्चात्यकाव्यशास्त्रे वर्ण्यवस्तूनां प्रत्यक्षीकरणकौशलं (Art of Poetic Imagery) कविकर्मणो महती उपलब्धिरिति बहुभिः समीक्षकैर्यत्र तत्र प्रतिपादितम् । एज्रा पाउण्ड (EZRA POUND) नामकेन केनाऽपि विवेचकेन एतावद्उट्टङ्कितं यथा यदि कश्चिद् कवयिता विपुलं साहित्यं न विरचयन् जीवनकाले स्वकृतावेकमपि विम्बं साफल्येन प्रस्तौति तस्यायमेव महान् पुरुषार्थः[1] । एवं पाश्चात्य-समीक्षका वस्तुनो बिम्बविधानं पृथगिव काव्यतत्त्वं निरूपयन्ति । संस्कृतकाव्यशास्त्रे तस्य पार्थक्येन न क्वापि विमर्शो विहित इति निभाल्यैकेनाधुनिकलेखकेनागूरितं यथा भारतीय-काव्याचार्याणां दृष्टचा रस एव काव्यसर्वस्वम् इति न तैः कविकृतेरयं पक्षः स्वग्रन्थेषु स्पृष्टः[2] । अत्र विषये ममेयं मतिर्यथा भारतीयकाव्याचार्या वर्ण्यवस्तूनां शब्दसामर्थ्येन प्रत्यक्षीकरणं कवेः प्रथमं कर्तव्यं मन्वत इति न तेषामेतस्य निरूपणं पृथग्विषयतया आपतितम् । भट्टतौतेन रस-प्रकरणे स्पष्टमिदमाघोषितं यथा काव्ये नाट्ये वा विभावा आलम्बनोद्दीपनात्मकाः प्रत्यक्षीकृता एव रसास्वादहेतवः[3] । वर्णनमात्रेण न किमपि वस्तु रसयितुः कौतुकमुपजनयति इति । अन्यत्र च प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नाऽऽस्वादसंभव' इति वदता नाटचमहत्त्वाख्यानच्छलेन स एव पक्षस्तेन भूयोऽपि पोषित इति न वक्तव्यं भवति । प्राचामभिमतोऽर्थव्यक्तिर्गुणः[4] स्वभावोक्तिश्चालङ्कार एतमेवोद्देश्यं साधयत[5] इति काव्यविदां स्फुटम् अस्माभिरिति नेह भूयो वितन्यते ।

कवि-प्रतिभायाश्चरमोऽयं प्रकर्षो यत् प्रकृतवस्तुनो वर्णनद्वारेण प्रत्यक्षवद् उपस्थापनम् । महिमभट्टेनैतदेवाभिप्रेत्योक्तम्—

> सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते ।
> येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः ।।[6] इति ।।

क्रान्तदर्शिता कवीनाम् ऋषीणां च सदृशी । अतो भट्टतौतदृष्टचा नाऽनृषिः कविरित्युक्तः[7] । कवेश्चायं विशेषो यथा नाऽसौ केवलं भावान् त्रिलोकीस्थितान् त्रिकालवर्तिनो वा साक्षात् पश्यति; स्ववाचां महिम्नाऽन्येषामपि दर्शनीयान् विदधातीति अहो ! तस्याऽसाधारणं सामर्थ्यम् ! भारतीया परम्परा च वाल्मीकिम् आद्यः कविरिति सादरं स्मरति[8] । स च महर्षिरिति तस्य काव्ये कथं न वर्ण्यानां प्रत्यक्षायमानता प्रतीयेत ?

इदं तावदादौ प्रतिपादनीयं भवति यथा कविर्यत्किमपि वर्णयति तेन सहात्मीयं रागात्मकं सम्बन्धं विधाय । सहृदया अपि न यावत् तेन सह स्वकीयां रागवृत्तिं योजयन्ति, न तावत् कवेर्भावमास्वादयितुं प्रभवन्तीति साधारणीकरणमत्र काव्यास्वादने प्रथमकर्तव्यतां स्पृशति । एवं सूक्ष्मतमानां भावानामपि प्रत्यक्षायमाणता सम्पद्यते । एतद् प्रयोजनं साधयितुं कविः कदाचिन् मूर्तान् पदार्थान् अमूर्तैरुपमिमीते कदाचिच्चामूर्तान् मूर्तैः ।

इमां नैपुणीं पुरस्कृत्य समालोचकप्रवर आनन्दवर्धनो व्यरूपयत्—

भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत् ।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया ॥[६] इति ।

वाल्मीकि-रामायणे करुणोरसः प्रधानम् । निर्व्यूढश्चाऽसौ परमर्षिणा 'मा निषाद' इत्याद्यारभ्य रामस्य सभ्रातृकस्य परमधामगमनावधि प्रवन्धता[१०] । पाठकैश्च कविना संयुज्याऽऽस्वाद्यते चेत् प्रत्यक्षायित एव रसस्तेषाम् । भावानां हि अनुपभूयमानतैव प्रत्यक्षीभावः ।

मूर्तवस्तूनां प्रत्यक्षतासिद्धये कवयो विविधानलङ्कारान् यत्र तत्र प्रयुञ्जत इति सैव पद्धतिरादिकविनाऽपि स्वीकृता । तामेवाधिकृत्य किमपि विवक्षितम् उपरिष्टात् ।

प्रायेण साम्यमूलका अलङ्काराः प्रयोजनमेतत् साधयन्ति । उपमा च तेषामलङ्काराणां जीवितसर्वस्वम् । तामेवोपजीव्येतरेऽलङ्काराः सम्भवन्तीति प्रथमं तस्या एव प्रभावः प्रस्तूयते ।

प्रो० सुब्रह्मण्यम् महाशयः स्वनिबन्धे निरूपयति यथा वाल्मीकेर्वस्तुचित्राणि प्राधान्येन बाह्यप्रकृतिमाश्रयन्ति[११] । न च तस्य कथनं सर्वथासमञ्जसम् । विशेषस्त्वयं यत् प्रकृतत्वेनोपात्ता प्रकृतिरप्रकृताऽपि कथाप्रकृतैरभिन्नतया प्रस्तूयते । निदर्शनञ्चात्र रामायणीयः श्लोकः—

ज्योत्स्ना तुषारमलिना पौर्णमास्यां न राजते ।
सीतेव चातपश्यामा लक्ष्यते न तु शोभते[१२] ॥ इति ॥

अस्मिन् पद्ये ज्योत्स्ना खलु वर्णनीयतया प्रस्तुता, प्रबन्धप्रकृता सीता च उपमानीकृतेति अप्रस्तुता । अत्र प्रतीपालङ्कारद्वारेण प्रालेयपातेन परितः प्रस्फुरन्नीहार-ग्रस्तधवलिमा राकाचन्द्रिका धूमिलप्रकाशत्वख्यापनायाऽऽतपश्यामीभूतमुखवर्णया सीतयोपमीयते । असूर्यम्पश्या सीता वनवासकाले सूर्यातपेऽपीतस्ततो गमनान्म्लानमुखकान्तिरिति लोकसत्यं वर्णनम् । कस्यचनापि मनुजस्य नित्यं घर्मपाताद् गौरो वर्णः श्यामिकया ग्रस्यत इति नित्यं प्रत्यक्षीकुर्मः । राजप्रासादे विहतातपप्रवेशे लोध्रचूर्णादिना वर्णकाद्युपयोगेन च राजमहिष्याः सीतायाः प्रकृत्योज्ज्वलोऽपि वर्णो द्विगुणतरमुज्ज्वलीक्रियते स्म । अरण्ये तु तादृशसाधनाभावान् नित्यं च घर्मपतनाद् तस्याः कान्तिमालिन्यं संभवत्येव । भाव-दृष्टया तत् प्रत्यक्षीकृत्य तेन तुलिताया नीहारोपहतधवलिम्नो राकाज्योत्स्नाया म्लानता साधु स्फुटतामेति । 'लक्ष्यते न तु शोभते' इत्येतेनाऽस्फुटप्रकाशता तस्याः साक्षात् क्रियते । एतेन वाल्मीकेर्वस्तुवर्णनं कियत् प्रत्यक्षकल्पमिति साध्वनुमितुं शक्यते सहृदयैः । अत्र प्रतीपोपमायाश्चमत्कारः ।

समासोक्तिरपि कवेः प्रयोजनमिदं साधु साधयति । यथा—

खर्जूरपुष्पाकृतिभिः शिरोभिः पूर्णतण्डुलैः ।
शोभन्ते किञ्चिदानम्राः शालयः कनकप्रभाः[१३] ॥

इत्यस्मिन् पद्ये पूर्णपरिपाकाः शालय आग्रहायणारम्भे क्षेत्रेषु शोभमाना वर्णिताः । 'शिरोभिः पूर्णतण्डुलैः' इत्येतावान् अंशः 'किञ्चिदानम्राः' 'कनकप्रभाः' इत्येताभ्यां विशेषणाभ्यां काश्चिन् मूर्धनि गृहीतपूर्णकलशाः किञ्चिदानतकन्धराः कन्यकाः पाठकानां दृशोः पुरत उपस्थापयति । अप्रकृततया तस्यार्थस्य समासोक्तिरत्र प्रतीतिपथमवतरन्ती नितरां चमत्कारावहा । 'शिरोभिः' इति पदे च श्लेषस्ताम् उपकरोति, 'खर्जूरपुष्पाकृतिभि' रिति पदे चोपमा शालिमञ्जरीणाम् उत्तरोत्तरं सूक्ष्मीभवन्तम् अग्रभागं बोधयति । इदं वस्तुचित्रम् (Image) न कस्मादपि वैदेशिककविकाव्यगतवस्तुचित्राद् अवहीयते ।

वस्तुचित्राणि भाव-सहकारेणैव मार्मिकाणि भवन्ति इति विचारकमतम्। परं कदाचित् प्राकृतोपादान-संस्पर्शकृता संविद् रत्यादिस्पर्शरहिताऽपि चमत्करोति। एतस्य स्फुटं प्रमाणं निम्नलिखितं पद्यम्—

अग्राह्यवीर्यः पूर्वाह्णे मध्याह्ने स्फारितः सुखः।
संरक्तः किञ्चिदापाण्डुरातपः शोभते क्षितौ ॥[14] इति ॥

शीतकाले सर्वस्यापीदं प्रत्यक्षं यथा तदा शैत्यातिशयाद् बालारुणस्याऽऽतपः प्रालेयग्रस्तोष्णभावो न तथा खरः प्रतीयते यथा मध्याह्ने। दिनानां च लाघवाद् दिनकरो हेमन्ते लध्वेवाऽस्ताभिमुखो भवति इति तस्य बिम्बो रक्तिमानमातपश्च पाण्डिमानं स्पृशति। अत्रोल्लेखालंकारेण हेमन्ते सूर्यातपस्य सुखायमानतां कविरनुभावयति। प्रभाते संचरत्समीरशीतिम्ना बालातपे तिष्ठतामपि सहसा रुहरुहिकोदेतीति कस्य नाऽनुभवः। इदमेव तथ्यम् 'अग्राह्यवीर्यः पूर्वाह्णे' इत्येताभ्यां पदाभ्यां स्फुटीकृतम्। एवम् अत्र पद्ये न खलु रत्यादिभावानामनुभूतिरपि तु हेमन्तकालिकाऽऽतपसेवनसुखस्य संवेदनं मांसलीक्रियत इत्यहो आदिकवे नैंपुण्यम्।

अन्यत्र कविः स्वभावोक्त्याः प्रभावेण पिपासितस्याऽपि शैत्यातिशयम् अनुभूय जलं स्पृष्ट्वैव करम् उपसंहरतः करिणः शब्दचित्रं प्रस्तौति—

स्पृशँस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरद सुखम्।
अत्यन्तं तृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम् ॥[15]

प्राणिनां स्वभावो वन्यकरिमुखेनाऽत्र वर्णितः। अन्योऽपि नरः पिपासावशात् सलिलं पातुम् इच्छति परं तद् स्पृष्ट्वैव शैत्यार्दितः 'आः नितरां शीतम् उदकमिदम्' इति क्रोशन् झटिति पाणिम् आक्षिपति न तु जलं पिबति। इत्थं स्वभावोक्ति नितरां चमत्कारिणी तथा कुर्वन्तं गजं प्रत्यक्षीकारयति।

स निक्षिप्य शिरो भूमौ प्रसार्य चरणौ तदा।
विक्षिप्य च शरीरं स्वं पपात धरणीतले ॥[16]

अत्र पद्येऽपि तेनैवाऽलङ्कारेण मृतस्य जटायुषः क्षितौ पतनं प्रत्यक्षवत् क्रियते। प्रत्येकं विहगो मृत्यु-काल एतादृशीं चेष्टां मुद्रां च भजते।

क्वचिच्च कविरेतत् प्रयोजनं भाविकालंकारेण साधयति। यथा सीतां रावणः प्रसाधनानाम् अङ्गी-करणाय अनुनयते—

इच्छ मां, क्रियतामद्य प्रतिकर्म तवोत्तरम्।
सप्रमाण्यवसज्जन्तां तवाङ्गे भूषणानि च ॥
साधु पश्यामि ते रूपं संयुक्तं प्रतिकर्मणा ॥[17] इति ॥

अत्र प्रथमं सीताऽनुनीयते यत् सा रावणं कामयताम्। कामयमानायाश्च त्रिलोकविजयिनं भुवन-दुर्लभैश्वर्यसम्पन्नं लङ्केश्वरं कथं तादृशी मलिना दशा स्याद् इति त्वरितम् आज्ञासम्पादनदक्षः परिजनो गृहीतपरिकर्मोपकरणस्ताम् आसादयिष्यति क्षिप्रं च स्नानाङ्गरागैस्तां प्रसाधयिष्यति, कृतायां केशरचनायां यथायथम् अवयवेषु महार्हाणि मण्डनानि धार्यन्ताम्, लोटः प्रयोगोऽत्र सीताया आदेशप्रतीक्षामात्रं द्योतयति। अन्ते च करिष्यमाणं प्रतिकर्म भावदृशा साक्षात्करोति स इति भावि प्रसाधनं प्रत्यक्षीक्रियमाणमत्र वर्ण्यते। तथैवान्यस्मिन् पद्येऽतीतस्य दृश्यस्य प्रत्यक्षायितत्वं साध्यते—

प्रविशन्नभ्रजालानि निष्पतंश्च पुनः पुनः ।
प्रावृषीन्दुरिवाभाति निष्पतन् प्रविशंस्तदा ।।[१८]

अत्र सीता-प्रवृत्तिलाभायाऽऽकाश मार्गेण गच्छन् हनूमान् वर्णितः । वियति प्रसृतान् मेघान् अन्तरा प्रविशन् भूयो निष्क्रामंश्च स वर्षतौं जलदानां मध्ये विलीय प्रकाशमागच्छता चन्द्रेणोपमितः । व्योम्नि जलद-पटलेऽन्तर्हितः प्रकटितश्च क्षपाकरः प्रायो जनेन प्रत्यहमक्षिलक्ष्यीक्रियत इति तत्साम्येन घनमण्डलेन्तर्धाय प्रकाशीभवन् मारुतिः सर्वेषां प्रत्यक्षगोचर इव प्रतिभाति । वर्तमानकालिकलटः प्रयोगेण तथाविधोऽसौ पुरस्ताल्लक्ष्यमाणः सूच्यते ।

एतानि खलु वाल्मीकेर्मांसलानि वस्तुचित्राणि । तस्यान्तःप्रकृतिचित्राण्यपि न कुतोऽप्यवहीयन्ते । उत्प्रेक्षा-बलेन भावोद्विग्नायाः सीतायाः स्वरूपं नितरां प्रभाविष्णु निम्नश्लोके चित्रितं लभ्यते—

जानकी तु महाराज निःश्वसन्ती तपस्विनी ।
भूतोपहतचित्तेव विष्ठिता विस्मृता स्थिता ।।[१९]

रामलक्ष्मणाभ्यां निर्वर्तितः सुमन्त्रोऽयोध्यां प्राप्तो दशरथेन 'अपि नाम सीतया किमपि सन्दिष्टम्' इति पृष्ट उत्तरयति । अत्र निःश्वसन्त्याः सीतायाः स्तब्धीभूय जडत्वेनाऽवस्थानम् आत्मनोऽपि विस्मृतिश्च वर्णिते एतेन तस्या दुःखातिरेकेण किमपि वक्तुमशक्ता सूचिता । एवम् अयोध्याभिमुखं पश्यन्त्या निःश्वासोच्छु-च्छ्काधराया जडवत् तूष्णीं स्थितायास्तस्या भावचित्रं दृशोः पुरत आयाति । मास्ती वेङ्कटेश आयङ्गरोपाह्व इदं पद्यं पर्यालोचयन् लिखति यथा-चित्रमिदं सीताया अन्तर्दशां साधु प्रकटीकरोति । तस्या मूकीभावो वाचोऽपि शक्ततरः । वर्णनं चेदं शब्दचित्रमप्यतिक्रान्तम् । सा खलु दैवेन विपद्भारसहनाय विवशीकृतस्य जीवितस्य प्रतीकम् । तस्या मुद्रा सुखमयस्य प्रासादजीवनस्य स्मृतिं वर्तमानस्य कष्टानुभवस्य चाऽसह्यतां व्यनक्ति ।[२०]

वस्तुतो वाल्मीके र्वस्तुचित्रणकौशलस्य दिङ्मात्रमेतद्दर्शितम् अन्यथा भूयानपि प्रबन्धो न पर्याप्तः स्याद् तस्य पूर्णविवेचनाय । सुरभारत्या महदिदं गौरवास्पदं यद् एतादृशचमत्कारबहुलम् आदिकाव्यं तस्यां लिखितं बभूवेति शम् ।

———

टिप्पणी—

१. It is better to produce one Image in a lifetime than to produce Voluminous works. Quoted by C.D. LEWIS in the Poetic Image. p. 25

२. काव्य की आत्मा को रस मानने के विशेष आग्रह के कारण भारतीय चिन्तकों ने काव्य के बिम्बों के महत्त्व को तथा उनके तत्त्वों को ग्रहण कर सकने में भी अपनी असमर्थता दिखाई है । अखौरी ब्रजनन्दनप्रसादः काव्यात्मक बिम्ब, पृ० ४५

३. नाट्याद् समुदायरूपाद् रसाः । यदि वा नाट्यमेव रसाः । रससमुदायो हि नाट्यम्, नाट्य एव च रसाः । काव्येऽपि नाट्यायमान एव रसाः । काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये

रसोदय इत्युपाध्यायाः । यदाह काव्यकौतुके—'प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसंभवः ।' इति ।
तथा च—
वर्णनोत्कलिता भोगप्रौढोक्त्यासम्यगर्पिताः । उद्यानकान्ताचन्द्राद्या भावाः प्रत्यक्षवत् स्फुटाः ।।
अभिनवभारती (बडौदा) भा० । पृ० २४०–४१

४. वस्तुस्वभावस्फुटत्वम् अर्थव्यक्तिः । वस्तूनां भावानां स्वभावस्य स्फुटत्वं यद् असौ अर्थव्यक्तिः ।
वामनीयकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ३,२,१३

५. अभिधास्यमानस्वभावोक्त्यलङ्कारेण रसध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्याभ्यां च वस्तुस्वभावस्फुटत्वरूपार्थ-व्यक्तिः, दीप्तरसत्त्वरूपा कान्तिश्च स्वीकृते । काव्यप्रकाशे ८

६. रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः । क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः ।।
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते । येन साक्षात्करोत्येष भावाँस्त्रैलोक्यवर्तिनः ।।
अर्थस्य तु स्वभावोक्तिर्याऽलङ्कारतया मता । यतः साक्षादिवाभान्ति तत्रार्थाः प्रतिभार्पिताः ।।
महिमभट्टः व्यक्तिविवेकः ११७–१८, १२०.

७. नाऽनृषिः कविरित्युक्तमृषिश्च किल दर्शनात् । विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम् ।।
हेमचन्द्रद्वारा काव्यानुशासने (निर्णय सागर सं०) पृ० ४ उद्धृतम् ।

८. साङ्गं च वेदमध्याप्य किञ्चिदुत्क्रान्तशैशवौ ।
स्वकृतिं गापयामास कवि-प्रथमपद्धतिम् ।। रघुवंशे १५,३३

९. ध्वन्यालोके (चौखम्बा संस्करण) पृ० ४९८

१०. वही ४ उद्योत, पृ० ५२९

११. Studies in the Imagery of Volmiki...J.O.R. Madras V.IV (1930) p. 32

१२. रामायणे ३,१५,१४

१३. तत्रैव ३,१५,१७

१४. तत्रैव ३,१५,१९

१५. तत्रैव ३,१५,२१ (कुम्भघोण०)

१६. तत्रैव ३,६४,१८

१७. तत्रैव ५,१८,२१

१८. तत्रैव ५,१,१९५

१९. तत्रैव २,५२,२३

२०. The Poetry of Valmiki p. 207

———

नलायन का शकुन्तला उपाख्यान

प्रो० उमाकान्त शुक्ल

वटगच्छीय जैन कवि **श्रीमाणिक्यदेवसूरि** के **नलायन** (नला०) को पौराणिक शैली में निबद्ध एक विशालकाय महाकाव्य कहा जा सकता है। इसके अनतिप्रसिद्ध दो नाम[1] और हैं—(१) **कुबेरपुराण** तथा (२) **शुकपाठ**। इसमें चार हज़ार पचास श्लोक, निन्यानवे सर्ग तथा दस स्कन्ध हैं[2]। इसमें पञ्चम स्कन्ध के आठवें सर्ग के सत्रहवें श्लोक से प्रारम्भ कर इसी स्कन्ध के बारहवें सर्ग के छियालीसवें श्लोक पर्यन्त कुल दो सौ सत्रह श्लोकों में शकुन्तला का कथानक गुम्फित है। इस कथानक का वक्ता भास्कर का शिष्य[3] विज्ञान-प्रचय[4] करुणार्द्रमना[5] एक मुनि है। नलायन का यह अंश दो सौ सत्रह श्लोकों का पञ्चसर्गात्मक प्रसाद-गुण-सम्पन्न एक मनोरम काव्य प्रतीत होता है।

नला० के शकुन्तला-कथानक को **शाकुन्तल-आख्यान**[6] तथा **शकुन्तलाचरित**[7] भी कहा गया है। इसका मूल स्रोत **कालिदास-ग्रथित-वस्तु**[8] संसार प्रसिद्ध **अभिज्ञानशाकुन्तल** (अ० शा०) नाटक है। **कालिदास** ने **महाभारत** के शकुन्तलोपाख्यान को अपने काव्यशिल्प के कौशल से दृश्यकाव्य में ढालकर और अनेक मौलिक संविधानकों से समन्वित कर ख्याति की जिस पराकाष्ठा को प्राप्त किया वह किसी से तिरोहित नहीं। उसकी नवीनता[9] उसके युग में भी थी और आज भी है। **माणिक्यदेवसूरि** ने **अ० शा०** के दृश्यकाव्य की शैली में निबद्ध कथानक को जिस चातुरी के साथ श्रव्यकाव्य की शैली में बाँधा है वह भी कम आश्चर्य का विषय नहीं। **माणिक्यदेवसूरि** की काव्यप्रतिभा का अनुमान इससे ही लगाया जा सकता है कि उसने **महाभारत** तथा **पद्मपुराण** के **शकुन्तलोपाख्यानों** के रहते हुए भी **अ० शा०** के कथानक को ही अपना ग्राह्य माना। यद्यपि **नला०** के उक्त प्रकरण में **अ० शा०** के कथानक का ही अत्यल्प परिवर्तन के साथ अनुवाद किया गया है तथापि इस प्रक्रिया में शैलीगत मौलिकता अन्त तक बनी रही है।[10] यही कारण है कि इसका कथ्य पर्युषित होते हुए भी नया-नया प्रतिभासित होता है।

महाभारत तथा **पद्मपुराण** के **शकुन्तलोपाख्यान** शुद्ध पौराणिक शैली में निबद्ध हैं, अतएव उनमें 'शकुन्तलोवाच' 'कण्व उवाच' आदि सन्दर्भ-संयोजक पदों का निर्देश है। **नला०** में 'शकुन्तलोवाच' आदि सन्दर्भ-संयोजकों का सर्वथा अभाव है, अतः वह पौराणिक होते हुए भी श्रेण्यकाव्यों को छूता हुआ प्रतीत होता है। इन काव्यों में सन्दर्भ-योजना कवि अथवा कवि-निबद्ध वक्ता के द्वारा ही कर दी जाती है।[11] नाटक से प्रभावित होते हुए भी **नला०** के इस प्रकरण में नाटक की सी चाक्षुष प्रत्यक्षता नहीं देखी जाती।[12] जहाँ तक **नला०** के शिल्प विधान का प्रश्न है वह एक पृथक् निबन्ध की अपेक्षा रखता है। यहाँ केवल **शकुन्तला-आख्यान** को ही दृष्टि में रखते हुए कुछ विचार किया जा रहा है। कालिदास के **अ० शा०** के आख्यान का अनुवाद होते हुए भी **नला०** के **शाकुन्तल-आख्यान** में निम्नलिखित परिवर्तन पाए जाते हैं—

१. **अ० शा०** में जिस समय राजा आश्रम में प्रवेश करता है उस समय उसका बाहुस्फुरण होता है[13] परन्तु **नला०** में उसका दक्षिण नेत्र स्फुरित होता है।[14]

२. अ० शा० में वैखानस राजा को कुलपति कण्व के सोमतीर्थ जाने की सूचना देता है[१५] किन्तु नला० में शकुन्तला की दो सखियाँ (प्रियम्वदा तथा अनसूया) राजा को उक्त सूचना देती है।[१६]

३. अ० शा० में कण्व को शकुन्तला का पिता बताया गया है[१७] परन्तु नला० में गालव को उसका पिता बताया गया है।[१८]

४. जब कि अ० शा० में कण्व की सोमतीर्थ यात्रा का हेतु "दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं × ×" दिया गया है,[१९] नला० में यात्रा के हेतु का निर्देश प्राप्त नहीं होता।[२०]

५. अ० शा० में राजा शकुन्तला को प्रियम्वदा से अनृण करने के लिए अपनी अँगूठी देना चाहता है[२१], नला० में वह इस सन्दर्भ में अपना हार देना चाहता है[२२]।

६. अ० शा० में शकुन्तला मदन लेख नलिनी पत्र पर लिखती है[२३] नला० में स्मरलेख केतकी दल पर लिखा जाता है।[२४]

७. अ० शा० में शकुन्तला मदनलेख सखियों को स्वयं पढ़कर सुनाती है[२५] नला० में यह लेख सखियों द्वारा पढ़ा गया है।[२६]

८. दुर्वासाशाप की योजना अ० शा० की मौलिक कल्पना है। नला० में भी इस घटना की योजना है। अ० शा० में दुर्वासा शकुन्तला को अतिथिपरिभाविनी समझ कर अपने स्वभाव सुलभ क्रोध से शाप दे देते हैं।[२७] किन्तु नला० में ऐसा नहीं है। यहाँ माणिक्यदेवसूरि ने थोड़ा सा परिवर्तन किया है। नला० के अनुसार पूज्य व्यक्ति दुर्वासा का अतिक्रमण करने के कारण शकुन्तला को देवताओं ने मुनि के मुख से शाप दे दिया है। जब देवताओं को दोनों सखियों द्वारा शकुन्तला की विरह विह्वलता का पता चलता है तो वे (देवता) प्रसन्न होकर अभिज्ञान स्मरण से शापमुक्ति का सङ्केत करते हैं।[२८]

९. अ० शा० में जब शकुन्तला पतिगृह को जाती है तब तपोवन के देवताओं ने उसे 'अस्याः पन्थाः शिवोभूयात्'[२९] यह आशीर्वाद दिया है[३०] किन्तु ठीक ऐसा ही आशीर्वाद नला० में कुलपति द्वारा दिया गया है।[३१]

१०. अ० शा० के पञ्चम अङ्क में जब कण्व-शिष्य शकुन्तला को लेकर दुष्यन्त के पास जाते हैं, तब उसके पुरोहित[३२] तथा उपाध्याय[३३] सोमरात के साथ कञ्चुकी उनका प्रवेश राजा की यज्ञशाला में कराता है[३४], किन्तु नला० में यह प्रवेश वेत्रभृत् द्वारा कराया गया है।[३५]

११. अ० शा० में जब राजा शकुन्तला को नहीं पहचान पाता तब शारद्वत शकुन्तला से राजा की बात का उत्तर देने के लिए कहता है[३६], किन्तु नला० में यह उक्ति शारद्वताग्रज (अर्थात् शाङ्गरव) की है।[३७]

१२. अ० शा० में दुष्यन्त पुरोहित से पूछता है कि मैं शकुन्तला को ग्रहण करूँ या त्याग दूँ[३८], किन्तु नला० में यह प्रश्न शाङ्गरव से किया गया है।[३९]

१३. अ० शा० में सानुमती का प्रसङ्ग बड़े विस्तार के साथ निबद्ध है।[४०] नला० में सानुमती के स्थान पर भानुमती का उल्लेख हुआ है[४१] और इसकी प्रसङ्ग योजना का केवल एक स्थान पर सङ्केत मात्र दिया गया है।[४२] निश्चित रूप से नला० की भानुमती अ० शा० की सानुमति ही है।

१४. अ० शा० के सप्तम अङ्क में भरत के मणिबन्ध से रक्षाकरण्डक के गिरने का कारण सिंहशावक का विमर्द बताया गया है।[४१] नला० में इस वलय के गिरने का कारण भरत को सिंह से दूर करने का प्रयत्न बताया गया है।[४४]

१५. अ० शा० में रक्षाकरण्डक को माता, पिता और स्वयं भरत के अतिरिक्त किसी चतुर्थ के द्वारा उठाए जाने पर सर्प बनकर डस लेने की चर्चा है[४५] परन्तु नला० में ऐसी स्थिति में उसके जल जाने की सूचना दी गई है।[४६]

१६. अ० शा० में जब दुष्यन्त शकुन्तला तथा पुत्र भरत को प्राप्त कर लेता है तो मातलि उसे वर्धापन देता है[४७] परन्तु नला० में पुत्रमुखदर्शन पर दुष्यन्त को शकुन्तला वर्धापन देती है।[४८]

उपर्युक्त कतिपय छोटे-मोटे परिवर्तनों के अतिरिक्त माणिक्यदेवसूरि ने अपने काव्य की प्रकृति को देखते हुए कुछ मार्मिक प्रसङ्गों का भी विनियोग किया है। उदाहरण के लिए आपन्नसत्त्वा शकुन्तला का वर्णन लिया जा सकता है। यद्यपि अ० शा० में उसकी इस स्थिति का सङ्केत अनसूया के "××× दुःखशीले तपस्विजने कोऽभ्यर्थ्यताम् ? ननु सखीगामी दोष इति व्यवसितापि न पारयामि, प्रवासप्रतिनिवृत्तस्य तातकाश्यपस्य दुष्यन्तपरिणीतामापन्नसत्त्वां शकुन्तलां निवेदयितुम्। इत्थंगतेऽस्माभिः किं करणीयम्"[४९] इस वाक्य में पाया जाता है तथापि नला० में संक्षिप्त होने पर भी यह वर्णन अत्यन्त श्लाघनीय है—

ईषदापन्नसत्त्वां तां किमेतदिति शङ्किताः।
ददृशुस्तापसा वल्लीमकाललिलतामिव ॥
अवर्णवादमात्मीयं मत्त्वा तेषां विरक्तितः।
मुखं सा दर्शयामास सखीभ्यामपि न स्फुटम् ॥
कथं पितरि संप्राप्ते भविष्याम्यहमीदृशी ?
इति त्रासाद् गतच्छायं स्त्रीरत्नं तद्बभूव च ॥[५०]

अ० शा० के पञ्चम अङ्क की समाप्ति पर जब शकुन्तला को स्त्री के आकार की कोई ज्योति आकाश की ओर ले जाती है तब राजा पुरोहित से "भगवन् ! प्रागपि सोऽस्माभिरर्थः प्रत्यादिष्ट एव। किं वृथा तर्केणान्विष्यते ? विश्राम्यतु भवान्"[५१] कहकर उधर से उदासीन हो जाता है किन्तु नला० में इस घटना से राजा का भयभीत होना वर्णित किया गया है। इस घटना को अपशकुन समझते हुए उसके शमन का उल्लेख किया गया है—

ततो राज्यं सर्वं बत किमिदमित्याकुलमभूद्,
भयं भेजे राजा न खलु मम दुश्चेष्टितमिति।
वितेनुर्वैतानं द्विजवरगणाः शान्तिकविधिं
समन्तादानर्चुः कुलदुहितरो गोत्रजरतीः ॥[५२]

इतना ही नहीं राजा का कौतूहल वर्णित किया गया है—

माया किन्नु किमिन्द्रजालमथवा चित्तभ्रमोऽभूद्ध्रुवं
सा बाला नहि निर्निमित्तमथवा प्राप्तेति चित्ते स्मरन् ।
तेनाश्चर्यरसेन शान्तकरुणाश्शृङ्गारगर्भात्मना
किञ्चित्कालमनन्यकौतुकरसो राजाऽपि तस्थौ भृशम् ॥[53]

इसी प्रकार शकुन्तला के विरह में राजा का वर्णन मौलिक न होते हुए भी आकर्षक है। उदाहरण के लिए—

शयनस्नानताम्बूलविलेपनविवर्जितः ।
कारागारमिव प्राप्तः साम्राज्येऽपि बभूव सः ॥[54]
× × ×   × × ×   × × ×
अहो ! दहति हन्त ! मे हृदि तदेव लीलावनं
स एव च मधूत्सवः प्रलयकालकल्पस्थितः ।
प्रियाविरहवेदनाविवशचेतसः सर्वथा
तदद्य परिवर्तते मम वयस्य ! विश्वं जगत् ॥[55]

यह सब कुछ होते हुए भी माणिक्यदेवसूरि ने अपने नला० में अ० शा० के वर्णनों का खुलकर प्रयोग किया है। अ० शा० तथा नला० के समान वर्णनों, भावसाम्यों, अनुहरणों या संवादों का अध्ययन स्वयं में रुचिकर है। अतः यहाँ समान वर्णनों की एक तालिका प्रस्तुत है—

१. अ० शा० सूतः—(आकर्ण्य अवलोक्य च) आयुष्मन् ! अस्य खलु ते बाणपातवर्तिनः कृष्णसारस्यान्तरे तपस्विन उपस्थिताः। पृ० २०

नला० महारयरथावर्तं सशराकृष्टकार्मुकम् ।
तमन्तरितसारङ्गाः प्रोचुर्मुनिकुमारकाः ॥ ५·८·१८

२. अ० शा० वैखानसः (हस्तमुद्यम्य)—राजन्, आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः ।
तत्साधुकृतसन्धानं प्रतिसंहर सायकम् ।
आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि । (१।१०), पृ० २१

नला० न वध्योऽयं न वध्योऽयं देवाश्रममृगो हि नः ।
कथं क्षत्रिय शस्त्रं ते निबर्हतु निरागसम् ॥ ५·८·१९

३. अ० शा० वैखानसः—× × × एष खलु कण्वस्य कुलपतेरनुमालिनीतीरमाश्रमो दृश्यते । × ×
रम्यास्तपोधनानां प्रतिहतविघ्नाः क्रियाः समवलोक्य ।
ज्ञास्यसि कियद्भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणाङ्क इति ॥ (१।१२), पृ० २२

नला० सफली मालिनीतीरे निर्विघ्नं वीक्ष्य वो वनम् ।
राजन् निजभुजत्रातां कृतार्थय महीमिमाम् ॥ ५·८·२०

४. अ० शा० राजा—भवतु। ××× । वैखानसः—साधयामस्तावत्। ××× राजा—×× × एतावत्येव रथं स्थापय ××× । ××× यावत् प्रविशामि। पृ० २३–२४

नला० स तथेति प्रतिश्रुत्य स्वकार्येषु विसृज्य तान्।
एकाकी विरथः स्वैरं प्रविवेश तमाश्रमम् ।। ५·८·२१.

५. अ० शा० शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो जनस्य यदि।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः ।। (१।१५), पृ० २५

नला० अहो पुराद् वनं धन्यं कन्या यत्रेयमीदृशी ।। ५·८·२३

६. अ० शा० शकुन्तला—सखि अनसूये, अतिपिनद्धेन वल्कलेन प्रियम्वदया नियन्त्रितास्मि। शिथिलय तावदेनम्।"

अनसूया—तथा (इति शिथिलयति) पृ० २८

नला० ×××
वल्कलं शिथिलयत्येषा सख्या निबिडसंयमम् ।। ५.८.२४

७. अ० शा० राजा—××××
सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।। (१।१७), पृ० २८

नला० लक्ष्मणाऽपि शशी हृद्यः शैवलेनापि वारि तत्।
वल्कलेनापि रम्याऽसौ किं न वस्तुषु मण्डनम् ।। ५.८.२५

८. अ० शा० असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ।। (१।१९) पृ० ३३

नला० यद् ममार्यस्य रागोऽस्यां क्षत्रिया तदियं ध्रुवम्।
सन्दिग्धेषु पदार्थेषु प्रमाणं हि सतां मनः ।। ५.८.२६

९. अ० शा० प्रियम्वदा—यथा वनज्योत्स्नानुरूपेण पादपेन सङ्गता, अपि नामैवहमप्यात्मनोऽनुरूपं वरं लभेयेति। पृ० ३२

नला० सिञ्चन्ती चूतसंयुक्तां पुष्पितां माधवीमियम्।
त्वमपीत्थं भवेत्युच्चैर्युक्तमुक्ता वयस्यया ।।५.८.२७

१०. अ० शा० शकुन्तला—(ससम्भ्रमम्) अम्मो ! सलिलसेकसम्भ्रमोद्गतो नवमालिकामुज्झित्वा वदनं मे मधुकरोऽभिवर्तते। (इति भ्रमरबाधां रूपयति) पृ० ३३

राजा—(सस्पृहमवलोक्य)
चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।

करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरम्
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥ (११२०), पृ० ३४
लोलां दृष्टिमितस्ततो वितनुते सभ्रूलताविभ्रमाम्
आभुग्नेन विवर्तिता वलिमता मध्येन कम्रस्तनी ।
हस्ताग्रं विधुनोति पल्लवनिभं शीत्कारभिन्नाधरा
जातेयं भ्रमराभिलङ्घनभिया वाद्यैर्विना नर्तकी ॥

[यह श्लोक निर्णय० में नहीं मिलता ।]

नला० द्रागम्भःसंभ्रमभ्रान्तो भृङ्गोऽस्या वक्त्रवारिजे ।
धन्योऽधरदलं पीत्वा रौति कर्णान्तिनेत्रयोः ॥
विवृत्तभ्रान्तहस्ताग्रा लोलाक्षी धुन्वती शिरः ।
मधुव्रतनटेनेयं निःसङ्गीतं हि नर्तिता ॥ ५.८.२८–२९

११. अ० शा० शकुन्तला— ××× हला, परित्रायेथां मामनेन दुर्विनीतेन दुष्टमधुकरेण परिभूयमानाम् ।

उभे—(सस्मितम्) ××× दुष्यन्तमाक्रन्द । पृ० ३६

नला० रक्ष रक्षालि रोलम्बादिति व्यक्तार्तगीरियम् ।
त्रातुमाह्वय दुष्यन्तमिति सख्योपहस्यते ॥ ५.८.३०

१२. अ० शा० राजा—कः पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम् ।
अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्विकन्यासु ॥ (११२१), पृ० ३६

नला० तद् कोऽयं पौरवे पृथ्वीं पाति दुर्वृत्तघातिनि ।
अन्यायमतिमुग्धासु मुनिकन्यासु चेष्टते ॥ ५.८.३२

१३. अ० शा० राजा— ××× भवतु, एवं तावदेनां वक्ष्ये (प्रकाशम्) भवति, यः पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्तः सोऽहमविघ्नक्रियोपलम्भाय धर्मारण्यमिदमायातः । पृ० ४०

नला० तदेवं तावदित्यन्तःस्फुटप्रकटमभ्यधात् ।
आदिष्टोऽस्मि वनं त्रातुं राज्ञाऽऽसन्नविहारिणा ॥ ५.८.३२

१४. अ० शा० वैखानसः—इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः । पृ० २२

नला० इयं कुलपतेः पुत्री गालवस्य महात्मनः ।
प्रियम्वदान (नु ?) सूयाख्ये सख्यावावामुभे अपि ॥
सोमतीर्थप्रयातस्य तातस्यादेशतः सताम् ।
आतिथेयं करोत्येषा तदार्यातिथ्यमस्तु ते ॥ ५.८. ३४–३५

१५. अ० शा० राजा—भवतीनां सूनृतयैव गिरा कृतमातिथ्यम् । पृ० ३७

प्रियम्वदा—तेन ह्यस्यां प्रच्छायशीतलाया सप्तपर्णवेदिकायां मुहूर्त्तमुपविश्य परिश्रमविनोदं करोत्वार्यः । पृ० ३८

नला०— इत्युक्तो मुनिकन्याभ्यां मत्वा वाचैव तं विधिम् ।
नन्दिद्रुमतले ताभिः सह गोष्ठीमचीकरत् ।। ५.८.३६

१६. अ० शा० राजा—भगवान् काश्यपः शाश्वते ब्रह्मणि स्थित इति प्रकाशः । इयं च वः सखी तदात्मजेति कथमेतत् ।

अनसूया—शृणोत्वार्यः । अस्ति कोऽपि कौशिक इति गोत्रनामधेयो महाप्रभावो राजर्षिः ।

राजा—अस्ति, श्रूयते ।

अनसूया—तमावयोः प्रियसख्याः प्रभवमवगच्छ । उज्झितायाः शरीरसंवर्धनादिभिस्तातकाश्यपोऽस्याः पिता ।

राजा—उज्झितशब्देन जनितं मे कौतूहलम् । आमूलाच्छ्रोतुमिच्छामि ।

अनसूया—शृणोत्वार्यः, गौतमीतीरे पुरा किल तस्य राजर्षेरुग्रे तपसि वर्तमानस्य किमपि जातशङ्कैर्देवैर्मेनका नामाप्सराः प्रेषिता नियमविघ्नकारिणी ।

राजा—अस्त्येतदन्यसमाधिभीरुत्वं देवानाम् ।

अनसूया—ततो वसन्तोदाररमणीये समये तस्या उन्मादयितृ रूपं प्रेक्ष्य—(इत्यर्धोक्ते लज्जया विरमति)

राजा—परस्ताज्ज्ञायत एव । सर्वथाप्सरःसम्भवैषा । पृ० ४१—४२

नला०— नन्वदारः कुलपतिस्तत्पुत्री वः सखीति किम् ।
पालनाद् गालवस्तातो वप्ता स्यात् कौशिकः पुनः ।।
तत्तपःखण्डनां कर्तुं मेनका पूर्वमाययौ ।
तां दृष्ट्वा च परं यद्वा किमार्यस्य निवेद्यते ।।
अस्तु ज्ञातं विशालाक्षी तदियं मेनकोद्भवा ।
अथ किं तत्परित्यक्ता प्राप्ता हि मुनिना वने ।। ५.८.३७—३९

१७. अ० शा० राजा—वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानाद्
व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम् ।
अत्यन्तमेव मदिरेक्षणवल्लभाभि-
राहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः ।। (१/२३), पृ० ४४

नला०— आसंप्रदानतः कार्यमनया तद्मुनिव्रतम् ।
सह वा सदृशाक्षीभिः कुरङ्गीभिर्निविश्यति ।। ५.८.४१

१८. अ० शा० प्रियम्वदा—आर्य, धर्मचरणेऽपि परवशोऽयं जनः । गुरोः पुनरस्या अनुरूपवरप्रदाने संकल्पः । पृ० ४५

नला०— इमां वराय कस्मैचिद् महर्षिर्दातुमिच्छति।
अस्यास्तु हृदये नित्यं तपसि स्पृहयालुता ।। ५.८.४२

१९. अ० शा० शकुन्तला—(सरोषमिव)—अनसूये गमिष्याम्यहम् । ××× इमामसम्बद्धप्रलापिनीं प्रियम्वदामार्यायै गौतम्यै निवेदयिष्यामि । ××

प्रियम्वदा—(शकुन्तलां निरुध्य) हला, न ते युक्तं गन्तुम् । ××× । वृक्षसेचने द्वे धारयसि मे । एहि तावत् आत्मानं मोचयित्वा ततो गमिष्यसि । (इति बलादेनां निवर्तयति) । पृ० ४६—४७

नला०— उपराजमिति श्रुत्वा प्रजल्पन्तीं प्रियम्वदाम् ।
उत्थाय गन्तुमारेभे कुपितेव शकुन्तला ।।
कथयिष्यामि गौतम्या इमामश्लीलवादिनीम् ।
इति पारिप्लवं यान्तीमारुरोध प्रियम्वदा ।।
चण्डि किं लभ्यते गन्तुमधमर्णाऽसि मे यतः ।
वृक्षसेचनकद्वन्द्वं मम देयं तदर्पय ।। ५.८. ४३—४५

२०. अ० शा०— दर्भाङ्कुरेण चरणक्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा ।
आसीद् विवृत्तवदना च विमोचयन्ती,
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ।। (२/१२), पृ० ७६

नला०— व्यर्थं तस्थौ व्यथितचरणा दर्भसूच्या किलेति
व्यावृत्ताक्षी विटपघटितं वल्कलं चेत्यपश्यत् ।
सप्रत्याशं वलितनयनं पश्यतस्तस्य राज्ञः
शून्यं चक्रे कुलपतिसुता तेन चित्तं सुरावत् ।। ५.८.५१

२१. अ० शा० विदूषकः—××× साम्प्रतं नगरगमनस्य मनः कथमपि न करोति । अद्यापि तस्य तामेव चिन्तयतोऽक्ष्णोः प्रभातमासीत् । पृ० ५८

नला०— ×× ×× ××
स्कन्धावारगतो राजा निद्रां निशि न लब्धवान् ।। ५.९.१
×× ×× ××
तद्वनासन्नमास्थाय नास्मरत् पौरवः पुरम् ।।५.९.२।।

२२. अ० शा० शिष्यः—××× । प्रविष्टमात्र एवाश्रमं तत्रभवति राजनि निरुपद्रवाणि नः कर्माणि प्रवृत्तानि भवन्ति ।

का कथा बाणसन्धाने ज्याशब्देनैव दूरतः ।
हुङ्कारेणैव धनुषः स हि विघ्नानपोहति ।। (३/१), पृ० ८६

नला०— तद्धनुर्ध्वनिनिर्धूतनक्तञ्चरचये वने ।
कर्म कर्मठिनश्चक्रुर्वैतानं वीतसाध्वसाः ।। ५.९.६

२३. अ० शा० राजा—××× किं नु खलु मे प्रियादर्शनादृते शरणमन्यत् । यावदेनामन्विष्यामि । (सूर्यमवलोक्य) इमामुग्रातपवेलां प्रायेण लतावलयवत्सु मालिनीतीरेषु ससखीजना शकुन्तला गमयति । तत्रैव तावद् गच्छामि । पृ० ८६

नला०— मालिनीतीरकुञ्जेषु सा निनाय स्मरज्वरम् ।
जगाम तत्र राजापि तद्विलोकनतत्परः ॥ ५.६.८ ॥

२४. अ० शा० राजा—××× एषा मे मनोरथप्रियतमा सकुसुमास्तरणं शिलापट्टमधिशयाना सखीभ्यामन्वास्यते । ××× । (ततः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्यां शकुन्तला) । ××× । सख्यौ विषादं नाटयित्वा परस्परमवलोकयतः । पृ० ९०–९१

नला०— ददर्श तत्र निश्चेष्टां दलस्रस्तरशायिनीम् ॥
सखीभ्यामपि साश्रुभ्यां सेव्यमानां शकुन्तलाम् ॥ ५.६.९

२५. अ० शा० प्रियम्वदा—एतस्मिन् शुकोदरसुकुमारे नलिनीपत्रे नखैर्निक्षिप्तवर्णं कुरु ।
शकुन्तला—(यथोक्तं रूपयित्वा) हला । शृणुतमिदानीं सङ्गतार्थं न वेति ॥ पृ० १०२

नला०— तया च रचितं लेखं लिखितं केतकीदले ।
प्रस्तुतो वा नवेति द्वे पठतः स्म यथा किल ॥ ५.६.१३

२६. अ० शा० शकुन्तला—तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवापि रात्रावपि ।
निर्घृण तपति वलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथान्यङ्गानि ॥ (३/१३)
पृ०, १०३

नला०— न जानामि तवावस्थां क्व प्रवेशः पराशये ।
हन्ति तु त्वत्कृते कामं कामो निर्दय ! मद्वपुः ॥५.६.१४ ॥

२७. अ० शा० राजा—××× मणिबन्धनात् कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसार्यते ॥
(३/१०) पृ० ९९

नला०— इदं प्रकोष्ठतः स्रस्तं किमर्थं वलयं मम ॥ ५.६.१६॥

२८. अ० शा० राजा—तपति तनुगात्रि ! मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव ।
ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा कुमुद्वतीं दिवसः ॥ (३/१४), पृ० १०४

नला०— नूनं प्राक्कृतमद्बाधं बाधते त्वां मनोभवः ।
रविरर्दितमेवेन्दुमन्वर्दति च कौमुदीम् ॥ ५.६.१७ ॥

२९. अ० शा० राजा—×××स्वनगराय प्रस्थितं मां प्रिया सबाष्पमाह—कियच्चिरेणार्यपुत्रः प्रतिपत्तिं दास्यति—इति । ××× । पश्चादिमां मुद्रां तदङ्गुलौ निवेशयता मया प्रत्यभिहिता—

एकैकमत्रदिवसे दिवसे मदीयं
नामाक्षरं गणय गच्छति यावदन्तम् ।
तावत् प्रिये मदवरोधगृहप्रवेशं
नेताजनस्तव समीपमुपैष्यतीति ॥ (६/१२) पृ० २१२–१३

नला०— स पूर्वविरहव्यग्रां गच्छन्नापृच्छ्य वल्लभाम् ।
तस्या मनोविनोदार्थमित्यदादङ्गुलीयकम् ।।
मन्नामवर्णमेवैकं त्वमत्रगणयान्वहम् ।
तदन्ते त्वां समानेतुं समेष्यति जनो मम ।। ५.६.२३—२४ ।।

३०. अ० शा०— विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम् ।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्
कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ।। (४/१), पृ० १२२

नला०— स्मरन्तीयं न जानीषे माम(ममा ?)प्यतिथिमागतम् ।
मत्तवत् पूर्ववार्तां त्वां न स्मर्ता स्मारितोऽपि सः ।। ५.६.३०

३१. अ० शा० अनसूया—अथ केन सूचितस्तातकाश्यपस्य वृत्तान्तः ?

प्रियम्वदा— अग्निशरणं प्रविष्टस्य शरीरं विना छन्दोमय्या वाण्या ।
दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः ।
अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव ।। (४/३), पृ० १३०

नला०— तस्याग्निशरणं सद्यः प्राप्तमात्रस्य यज्वनः ।
इति श्रुतिपथं प्रापदशरीरा सरस्वती ।।
दुष्यन्तेनाहितं वीर्यं बिभ्रती भूतये भुवः ।
जानीहि तनयां ब्रह्मन् वह्निगर्भां शमीमिव ।। ५.६.४०—४१

३२. अ० शा प्रियम्वदा—××× ततो यावदेनां लज्जावनतमुखीं परिष्वज्य तात काश्यपेनैवमभिहितम् ××× । पृ० १२६

नला०— इति स्म स्वच्छवात्सल्य विह्वलेनान्तरात्मना ।
सशङ्कामङ्कमारोप्य लज्जमानामलालयत् ।। ५.६.४३

३३. अ० शा० द्वितीयः—क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतं श्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित् ।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितैर्
दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः ।। (४/४), पृ० १३४

नला०—किञ्च स्वयं प्रणिहतैर्बंदुभिस्तरुभ्यः प्राप्तानि सन्निधिवशाद् वनदेवतानाम् ।
दिव्यानि रत्नमणिमौक्तिकनिर्मितानि तस्यै ददौ स विविधानि विभूषणानि ।। ५.६.४४

३४. अ० शा० सख्यौ—सखि, यदि नाम स राजा प्रत्यभिज्ञानमन्थरो भवेत्ततस्तस्येदमात्मनामधेयाङ्कितमङ्गुलीयकं दर्शय ।

शकुन्तला— अनेन सन्देहेन वामाकम्पितास्मि ।

सख्यौ— मा भैषीः, स्नेहः पापशङ्की । पृ० १५०

नला०—स त्वां यदि स्मरति नैव कदापि राजा तस्याङ्गुलीयकमिदं हि तदार्पणीयम् ।
श्रुत्वा च तत् किमिति सापि पुनर्ब्रुवाणा नन्वेवमेव किल मन्दमवादि ताभ्याम् ।। ५.६.४६

३५. अ० शा० काश्यपः—उत्पक्ष्मणोर्नयनयोरुपरुद्धवृत्तिं
बाष्पं कुरु स्थिरतया विहतानुबन्धम् ।
अस्मिन्नलक्षितनतोन्नतभूमिभागे
मार्गे पदानि खलु ते विषमीभवन्ति ।। (४/१४) पृ० १४४–४५

नला०—श्लाघापररनुगता मुनिभिः प्रसन्नै रुद्भिन्नबाष्पजडदृष्टितया स्खलन्ती ।
पत्युर्गृहं प्रति चचाल शकुन्तलापि हृल्लेखया सकलमाकुलया दधाना ।। ५.६.४७

(आकाशे)

३६. अ० शा०— रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभि-
श्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः
भूयात्कुशेशयरजो मृदुरेणुरस्याः
शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः ।। (४/१०) पृ० १३६–४०

नला०— × × ×
भूयासुस्तव पञ्चवर्णजलदप्रच्छन्नसूर्यातपाः ।
पन्थानः सवितानराजभुवनप्रस्थाः पदार्था इव ।। ५.६.४८

३७. अ० शा० राजा—तेन हि मद्वचनाद् विज्ञाप्यतामुपाध्यायः सोमरातः—अमूनाश्रमवासिनः श्रौतेन विधिना सत्कृत्य स्वयमेव प्रवेशयितुमर्हति—इति । अहमप्यत्र तपस्विदर्शनोचिते प्रदेशे स्थितः प्रतिपालयामि । पृ० १६१

नला०—तानागतवतः सर्वान् शीघ्रं विज्ञाप्य वेत्रभृत् । अन्तः प्रवेशयामास पुरोहितपुरस्सरः ।।
५.१०.१

३८. अ० शा० शकुन्तला—(निमित्तं सूचयित्वा) अहो, किं मे वामेतरं नयनं विस्फुरति ।

नला०—तत्तस्या दक्षिणं चक्षुः स्पन्दमानं पुनः पुनः । चक्रे निरुद्धनिःश्वासनिष्पन्दमखिलं वपुः ।।
५.१०.४

३९. अ० शा०— त्वमर्हतां प्राग्रसरः स्मृतोऽसि य-
च्छकुन्तला मूर्तिमती च सत्क्रिया ।
समानयंस्तुल्यगुणं वधूवरं
चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः ।। (५/१५) पृ० १७०

नला०— इयं कुलपताका नः प्रासादस्त्वं च जङ्गमः ।
विधाय युवयोर्योगं युक्तकारी स्थितो विधिः ।। ५.१०.८ ।।

४०. अ० शा० राजा—किमिदमुपन्यस्तम् । × × × × किं चात्रभवती मया परिणीतपूर्वा ? × × × कुतोऽयमसत्कल्पनां प्रश्नः ? पृ० १७१–१७३ ।

नला०— × × × × × × × × ×

धिक् किमेतदुपन्यस्तमसमञ्जसमञ्जसा ।
ब्रह्मन् सम्यग्-भवान् वेत्ति कस्मै का प्रहिता किल ।
इमां न परिणीतामप्यहं जानामि कुत्रचित् ॥
तत् कथं व्यर्थसम्बन्धो मयि स्थानस्थितेऽपि वः ।
युक्तैव घटते सत्सु माननाऽपि यतः सताम् ॥ ५·१०·१०—१२

४१. अ० शा० शारद्वतः—शार्ङ्गरव ! विरम त्वमिदानीम्; शकुन्तले वक्तव्यमुक्तमस्माभिः । सोऽयमत्रभवानेवमाह । दीयतामस्मै प्रत्ययप्रतिवचनम् । पृ० १७६

नला०— शकुन्तले महाराजं भर्त्तारमवबोधय ।
स्वेच्छावान् राजधर्मोऽपि प्रायः स्मृतिपराङ्मुखः ॥ ५·१०·१७

४२. अ० शा० शकुन्तला—(अपवार्य) आर्यस्य परिणय एव सन्देहः । कुत इदानीं मे दूराधिरोहिण्याशा । पृ० १७५

नला० — परिणीतेऽपि सन्देहस्तद् वाच्यं किमतः परम् ।
हता हि साम्प्रतं तावदाशा दूराधिरोहिणी ॥ ५·१०·२०

४३. अ० शा० शकुन्तला— × × × आर्यपुत्र (इत्यर्धोक्ते) संशयित इदानीं नैष समुदाचारः । पौरव ! न युक्तं नाम ते तथा पुराश्रमपदे स्वभावोत्तानहृदयमिमं जनं समयपूर्वं प्रतार्येदृशैरक्षरैः प्रत्याख्यातुम् । पृ० १७६

नला०— आर्यपुत्राथवा नैवं किञ्चित् पौरव ! ते क्षमम् ।
तदा तादृशमाख्याय सम्प्रत्याख्यातुमीदृशम् ॥ ५·१०·२२

४४. अ० शा० शकुन्तला—भवतु, यदि परमार्थतः परपरिग्रहशङ्किना त्वयैवं वक्तुं प्रवृत्तं तदभिज्ञानेन तवाशङ्कामपनेष्यामि ।

राजा— उदारः कल्पः । पृ० १७७

नला०— यत् स्यात् किञ्चिदभिज्ञानं तद् भवेत् प्रत्ययस्तव ।
बाढं दर्शय तच्छीघ्रं नीत्या को न प्रतीयते ॥ ५·१०·२३

४५. अ० शा० शकुन्तला — (मुद्रास्थानं परामृश्य) हा धिक्, अङ्गुलीयकशून्या मेऽङ्गुलिः । (इति सविषादं गौतमीमवेक्षते) ।

गौतमी—नूनं ते शक्रावताराभ्यन्तरे शचीतीर्थसलिलं वन्दमानायाः प्रभ्रष्टमङ्गुलीयकम् । पृ० १७७

नला०— हन्त नास्ति क्व तद्यातमार्यगौतमि किन्त्विदम् ।
पश्य प्रज्ञेव सोद्वेगा शून्या मे कथमङ्गुली ॥
वत्से तत् पतितं मन्ये गङ्गायामङ्गुलीयकम् ।
शक्रावतारतीर्थस्य प्रणमन्त्या जलं तव ॥ ५·१०·२६—२७,

४६. अ० शा० राजा—एवमादिभिरात्मकार्यनिर्वर्तिनीनामनृतमयवाङ्मधुभिराकृष्यन्ते विषयिणः। पृ० १७२

नला०— ईदृशैः खलु नारीणां ललितस्निग्धशीतलैः ।
असत्यवाक्सुधासारैः प्लाव्यते निवयीजनः॥ ५·१०·२८

४७. अ० शा० शार्ङ्गरव—मा तावत्
कृताभिमर्शामनुमन्यमानः
सुतां त्वया नाम मुनिर्विमान्यः
मुष्टं प्रतिग्राहयता स्वमर्थं
पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन ॥ (५/२०) । पृ० १७५

नला०— (शार्ङ्गरवोऽवदत्)
भो भो भूपाल युक्तस्ते द्रोहः कुलपतिं प्रति ।
तस्करः कुलकन्याया येन पात्रीकृतो भवान् ॥ ५·१०·३१

४८. अ० शा० शार्ङ्गरव—××× ××× ×××
मूर्च्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु ॥ ५/१८ पृ० १७३

नला०— नूनमैश्वर्यमत्तानाममी लक्ष्मीविकारजाः ।
भवन्त्येवं विधा भावा नितान्तमवशात्मनाम् ॥ ५·१०·३४

४९. अ० शा० शारद्वत—शार्ङ्गरव ! किमुत्तरेण ? अनुष्ठितो गुरोः सन्देशः । प्रतिनिवर्तामहे वयम् । (राजानं प्रति) ।
तदेषा भवतः कान्ता त्यज वैनां गृहाण वा ।
उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ॥ (५/२६) पृ० १८२–१८३

नला०— (शार्ङ्गरवः)—
अथवा किं बहूक्तेन यत् सन्देशहरा वयम् ।
इयं कुलपतेर्वाचा मुक्ताऽस्माभिर्नृप त्वयि ॥
इमां स्वीकुरु वा मा वा सर्वत्रापि प्रभुर्भवान् ।
कृत्वा कुलपतेर्वाक्यममी प्रचलिता वयम् ॥ ५·१०·३६–३८

५०. अ० शा० गौतमी—वत्स शार्ङ्गरव ! अनुगच्छतीयं खलु नः करुणपरिदेविनी शकुन्तला । प्रत्यादेशपरुषे भर्तरि किं वा मे पुत्रिका करोतु ? पृ० १८३

नला०— हा शार्ङ्गरव मा मैवं प्रतीक्षस्व ननु क्षणम् ।
अनुगच्छति नौ दीना विलपन्ती शकुन्तला ॥
ईदृक् निष्करुणे पत्यौ किं मे पुत्री करोतु वा ।
इत्युक्तः स वलद्ग्रीवं क्रुद्धः शार्ङ्गरवोऽवदत् ॥ ५·१०·४०–४१

५१. अ० शा० शाङ्र्गरव—(सक्रोधं निवृत्य) किं पुरोभागे स्वातन्त्र्यमवलम्ब्यसे । पृ. १८३ ।

अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषाद् सङ्गतं रहः ।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम् ।। (५/२४) पृ० १८१
यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा त्वमसि किं पितुरुत्कुलया त्वया ।
अथ तु वेत्सि शुचि व्रतमात्मनः पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम् ।।
(५/२७) पृ० १८३

नला०— ननु तिष्ठ प्रमत्ताऽसि भूयः किं हि तवाश्रमे ।
इत्थं दहति च प्रेम स्वच्छन्दमपरीक्षितुम् ।।
यथा नृपस्त्वाह तथासि चेत् त्वं ततः पितुर्निःकलया त्वया किम् ।
निजं च जानासि (मि ?) शुचि व्रतं तत् पत्युर्गृहे दास्यमपि क्षमं ते ।।
५·१०·४२–४३

५२. अ० शा०— मूढः स्यामहमेषा वा वदेन्मिथ्येति संशये ।
दारत्यागी भवाम्याहो परस्त्रीस्पर्शपांसुलः ।। (५/२९) पृ० १८५

नला०— सापत्यामपरिचितामिमामदृष्टां सम्पन्नामपि गुणसम्पदा समन्तात् ।
सङ्गृह्य प्रणयितयाहमद्य दारत्यागी स्यामुत भण पारदारिको वा ।। ५·१०·४६

५३. अ० शा० पुरोहित—अत्रभवती तावदाप्रसवादस्मद्गृहे तिष्ठतु । कुत इदमुच्यत इति चेत् । त्वं साधुभिरुद्दिष्टः प्रथममेव चक्रवर्तिनं पुत्रं जनयिष्यसीति । स चेन्मुनिदौहित्रस्तल्लक्षणोपपन्नो भविष्यति, अभिनन्द्य शुद्धान्तमेनां प्रवेशयिष्यसि । विपर्यये तु पितुरस्याः समीपनयनमवस्थितमेव । पृ० १८५

नला०— यत्तावकस्य गणकैः प्रथमस्य सूनोः श्रीवत्सलाञ्छनमुरः कथितं किलास्ति ।
आस्तां तदा प्रसवकालमियं गृहे मे दृष्टे सुते समुचितं सकलं विधेयम् ।।
५·१०·५१

५४. अ० शा० पुरोहित—अद्भुतं खलु संवृत्तम् । × × ×

सा निन्दन्ती स्वानि भाग्यानि बाला
बाहूत्क्षेपं क्रन्दितुं च प्रवृत्ता ।
स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थमारा—
दुत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम ।। (५/३०) पृ० १८६

नला— चित्रं चित्रमहो गृहे मम गता सा मुक्तकण्ठं शुचा ।
निन्दन्ती निजकर्म बाष्पसलिलं बालाऽऽशु तत्याज च ।
स्त्रीसंस्थानमुपेत्य तां च तिरयज्ज्योतिर्जवाद् यात्यदः ।
प्रेक्ष्यन्ते महसोल्वणा दशदिशस्तेनाखिलाः पश्यत ।। ५·१०·५३

५५. अ० शा० विदूषकः—न विस्मरामि । किं तु सर्वं कथयित्वाऽवसाने पुनस्त्वया परिहासविजल्प एष न भूतार्थ इत्याख्यातम् । मयापि मृत्पिण्डबुद्धिना तथैव गृहीतम् । अथवा भवितव्यता खलु बलवती ।
पृ० २०७

नला०— ननु सखे भवता कथितस्तदा मुनिसुताधिगमः प्रथमं मम ।
अथ पुनः परिहास इति त्वया मयि गभीरतया प्रतिपादितः ॥ ५.११.१४

५६. अ० शा० राजा—××× मेनका किल सख्यास्ते जन्मप्रतिष्ठेति श्रुतवानस्मि । पृ० २०९

नला०— ××× जाने सख्यास्तव भगवती मेनका जन्मभूमिः ×××

५७. अ० शा०—(नेपथ्ये)

एष त्वामभिनवकण्ठशोणितार्थी
शार्दूलः पशुमिव हन्मि चेष्टमानम् ।
आर्तानां भयमपनेतुमात्तधन्वा
दुष्यन्तस्तव शरणं भवत्विदानीम् ॥ (६/२७) पृ० २३२

नला०— नन्वेष त्वां (मां ?) मेषवत् कम्पमानं
रुद्ध्वा कण्ठं हन्मि शार्दूलवृत्त्या ।
आर्तत्राणव्यापृतः सम्प्रति द्राक्
दुष्मन्तस्त्वां पातु धन्वी किलेति ॥ ५·११·२६

५८. अ० शा० राजा—(सरोषम्) ××× तिष्ठ कुणपाशन ।
××× ×××
मदीयं शस्त्रं त्वां द्रक्ष्यति । पृ० २३२–२३३

नला०— रे रे रक्षस्तिष्ठ तिष्ठ ×××
××× ×××
प्रत्यक्षस्त्वं पत्रिणां मामकानाम् ॥ ५·११·२७

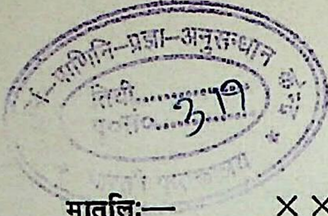
५९. अ० शा०— (ततः प्रविशति विदूषकमुत्सृज्य मातलिः) पृ० २३३

नला०— ××× ××× ×××
त्यक्त्वा विप्रं मातलिस्तं च वेगाद् प्रत्यक्षोऽभूद् सस्मितं भाषमाणः ।
५·११·२८

६०. अ० शा० मातलिः—कृताः शरव्यं हरिणास्तवासुराः
शरासनं तेषु विकृष्यतामिदम् ।
प्रसादसौम्यानि सतां सुहृज्जने
पतन्ति चक्षूंषि न दारुणाः शराः । (६/२९) पृ० २३४

नला— ××× ×××
××× ×××
ननु सुहृत्सु सतां श्रवणस्पृशो विनिपतन्ति दृशो न शिलीमुखाः । ५·११·२९

६१. अ० शा० राजा— ××× मम हि दिवौकसां समक्षमर्धासनोपवेशितस्य (मन्दारमाला
हरिणा पिनद्धा (७/२) पृ० २३६



मातलिः— × × × दिवौकसस्त्वच्चरितं लिखन्ति । (७/५) पृ० २४१

नला०— गीयमानगुणग्रामं गन्धर्वैर्धु तभूर्द्धभिः ।
तमर्द्धासनसन्मानभाजनं विदधे हरिः ॥ ५.१२.६

६२. अ० शा० राजा—अर्धपीतस्तनं मातुरामर्दक्लिष्टकेसरम् ।
प्रक्रीडितुं सिंहशिशुं बलात्कारेण कर्षति ॥ (७/१४) पृ०, २४६

नला०—तस्य पश्यत एव द्राक् स बालः सिंहशावकम् ।
मातुः स्तनन्धयं धृत्वा तलघातैरताडयत् ॥ ५.१२.१४

६३. अ० शा० राजा—× × × नन्विदमस्य सिंहशावविमर्दात्परिभ्रष्टम् । पृ० २५६

नला०—× × × तयोस्तमपकर्षन्त्योर्भ्रष्टं तद्वलयं करात् ॥ ५.१२.१६

६४. अ० शा० प्रथमा—ततस्तं सर्पो भूत्वा दशति । पृ० २५७

नला०—इदं पित्रोः परं दृष्ट्वा भस्मीभवति तत्क्षणात् । ५.१२.२२

६५. अ० शा० राजा—अस्मादङ्गुलीयोपलम्भात् खलु स्मृतिरुपलब्धा ।
शकुन्तला—विषमं कृतमनेन यत्तदार्यपुत्रस्य प्रत्ययकाले दुर्लभमासीत् ।
राजा—तेन ह्रुतुसमवायचिह्नं प्रतिपद्यतां लता कुसुमम् ।
शकुन्तला—नास्य विश्वसिमि । आर्यपुत्र एवैतद्धारयतु । पृ० २६३

नला०—कैवर्तकरसम्प्राप्ताद् यतः स्मृतिरभूद् मम ।
तदेतदङ्गुलीयं ते प्राप्नोतु पुनरङ्गुलिम् ॥
(आकर्ण्य तदिदं किञ्चिद् बाष्पोद्भेदं निगृह्णती ।
जगाद गद्गदं भक्त्याऽभिदुष्मन्तं शकुन्तला ॥) २.१२.३२–३३
× × ×
दैवात् स्मृतिपथं नाथ ! प्राप्तायास्तव दुर्लभम् ।
विश्वस्तघ्नमिदं ! कस्माद् दीयते मेऽङ्गुलीयकम् ॥ २.१२.३५

६६. अ० शा० मातलिः—दिष्टया धर्मपत्नीसमागमेन पुत्रमुखदर्शनेन चायुष्मान् वर्धते । पृ० २३६

नला० (शकुन्तला)—अद्याभूत् पितृमान् वत्सस्तत् सर्वदमनो मम ।
अद्य भर्तृमती चाहं यत् प्रिय ! त्वं प्रसीदसि ॥ ५.१२.३६

६७. अ० शा० मारीचः—पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात् ॥ (७/३३) पृ० २७०

नला० (मरीचिः)—प्रजानां भरणादेष भरताख्यो भवत्विति । ५.१२.४५

उपर्युक्त समान वर्णनों के आधार पर यह कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं होती कि श्रीमाणिक्य-देवसूरि के नला० में निबद्ध शकुन्तला-आख्यान का उपजीव्य कालिदास का अ० शा० रहा है । दोनों काव्यों के अनेक समान-सन्दर्भ उक्त कथन के प्रबल प्रमाण हैं । ऐसी स्थिति में नला० के शकुन्तला-आख्यान की मौलिकता स्वयं में एक प्रश्न है । इसके अध्ययन के अनन्तर पाठक की धारणा कुछ ऐसी बनती है—

श्रीमाणिक्यदेवसूरि ने कालिदास के अ० शा० का इतना अधिक पारायण किया कि उसे श्रव्य काव्य की शैली में प्रस्तुत करने में उसे किसी प्रकार का आयास नहीं करना पड़ा। इसकी वस्तु का प्रस्तुतीकरण कुछ ऐसा है जैसे कोई व्यक्ति किसी चलचित्र को अनेक बार देखकर उसके संवाद तथा वस्तु को अपने प्रातिभ संस्कारों से अपनी वर्णना में ढाल दे। ऐसा करने पर मूल की कुछ घटनाओं का छूट जाना, कुछ स्थलों पर अपनी वर्णना का विस्तार हो जाना, कुछ पात्रों के नामों का विस्मरण हो जाना या उनमें थोड़ा परिवर्त्तन हो जाना आदि अनेक प्रकार की सम्भावनाएँ बनी रहती हैं। ये सभी सम्भावनाएँ नला० के उक्त प्रकरण में स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। उपर्युक्त विवेचन से यह कथन पुष्ट भी हो जाता है। जहाँ तक पात्रों के नामों का प्रश्न है नला० के उक्त प्रकरण में कण्व, मारीच तथा सानुमती आदि मूल पात्रों के के स्थान पर गालव[५६], मरीचि[५७] तथा सानुमती[५८] आदि नाम मिलते हैं।

नला० के शकुन्तला-आख्यान के कवि को 'कृतप्रवृत्तिरन्यार्थे कविर्वान्तं समश्नुते' [५८]* की कोटि में कदापि नहीं रखा जा सकता। उसका काव्यशिल्प एक मालाकार के शिल्प से समता रखता है, जिसमें प्रसिद्ध सन्दर्भों तथा प्रसिद्ध कथ्य को ठीक उसी प्रकार सँजोया गया है जैसे मालाकार युग-युग से प्रसिद्ध फूलों को प्रतिदिन नवीन-नवीन गुलदस्तों या मालाओं में नवीनता के साथ सँजोता रहता है। इसका कवि उस चतुर चोर की श्रेणी में आ सकता है जिसकी प्रशंसा राजशेखर ने इन शब्दों में की है—

"नास्त्यचौरः कविजनो नास्त्यचौरो वणिग्जनः।
स नन्दति विना वाच्यं यो जानाति निगूहितुम्॥"[५९]

यहाँ कवि ने श्रव्य-काव्य की शैली में दृश्यकाव्यीय वस्तु का निगूहन किया है। नला० का कवि उत्पादक भी है और परिवर्त्तक भी वह आच्छादक भी है और संवर्गक भी।[६०] परन्तु सामूहिक रूप से वह महाकवि की कोटि में आता है।[६१]

भले ही समालोचक इसमें प्रतिबिम्बतुल्य, चित्रतुल्य, तुल्यदेहितुल्य या परपुरप्रवेशतुल्य संवादों को सिद्ध कर दें[६२], किन्तु हमारे मत में श्रीमाणिक्यदेवसूरिकृत नला० का शकुन्तला-आख्यान काव्य की एक विधा का दूसरी विधा में अनुवाद जैसी उत्कृष्ट शैली में आता है। निश्चित रूप से इस दिशा में यह एक स्तुत्य प्रयास है। संक्षेप में इसे दृश्य-काव्य का श्रव्य-काव्य में मौलिक अनुवाद कहा जा सकता है।

—०—

सन्दर्भ

नलायन (नला०) १६३७, भावनगरस्थश्रीयशोविजयजैनग्रन्थमाला।

अभिज्ञानशाकुन्तल (अ० शा०) १९५८, निर्णयसागर प्रेस।

१. समाप्तं चेदं नलायनं १ कुबेरपुराणं २ शुकपाठ इत्यपरनामकम्। नला० पृ० १८८

२. एवमेकोनशतसर्गात्मकं पञ्चाशदधिकचतुःसहस्रश्लोकसंख्यकमिदं नलायनम्। नला० प्रस्तावना, पृ० १

३. इति भास्करशिष्यस्य मुखादाकर्ण्य तां कथाम्। नला० ५.१३.१

४. नला० ५.८.१ ५. नला० ५.८.१०

६. शृणु शाकुन्तलं वत्से त्वमाख्यानकमुत्तमम्। नला० ५.८.१६

७. शकुन्तलाचरितमपेक्ष्य चेतसा न भीमजे क्षममनुशोचितुं तव। नला० ५.१२.४७



८. अ० शा० पृ० ८ ९. अ० शा० पृ० ८

१०. शकुन्तला-आख्यान को सर्वथा श्रव्य काव्योचित एवं मौलिक बनाए रखने के लिए माणिक्य-देवसूरि ने कथासंयोजना में अनेक परिवर्तन किए हैं। उदाहरण के लिए अ० शा० के प्रथम अङ्क में अनसूया के "××× अस्ति तेन राजर्षिणा संप्रस्थितेन स्वनामधेयाङ्कितमङ्गुलीयकं स्मरणीयमिति स्वयं पिनद्धम्।×××।। पृ० १२४) इस वाक्य से राजा द्वारा शकुन्तला को अँगूठी दी जाने की सूचना मिलती है। ऐसी ही सूचना राजा के "पश्चादिमां मुद्रां तदङ्गुलौ निवेशयता मया प्रत्यभिहिता—

एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं
नामाक्षरं गणय गच्छति यावदन्तम्।
तावत् प्रिये! मदवरोधगृहप्रवेशं
नेताजनस्तव समीपमुपैष्यतीति ।। ६/१२ पृ० २१२–१३

इस वक्तव्य से प्राप्त होती है। किन्तु इस अंश का प्रयोग (अभिनय) नाटक में उपलब्ध नहीं होता। नला० में इन विभिन्न स्थलों की सूचनाओं को एक स्थान पर इस प्रकार निबद्ध किया गया है—

स पूर्वं विरहव्यग्रां गच्छन्नापृच्छ्य वल्लभाम्। तस्या मनोविनोदार्थमित्यदादङ्गुलीयकम्।
मन्नामवर्णमेकैकं त्वमत्र गणयान्वहम्। तदन्ते त्वां समानेतुं समेष्यति जनो मम ।।
नला० ५.८.२३, २४

इसी प्रकार अन्य स्थल भी देखे जा सकते हैं।

११. उदाहरण के लिए कुमारसम्भव के पञ्चम सर्ग में ब्रह्मचारी और पार्वती के संवादों को कवि ने अपने वक्तव्यों द्वारा इन श्लोकों से जोड़ा है—५/५१, ५/६२,६३ आदि। कविनिबद्धवक्ता के द्वारा कथांशयोजना के रूप में कुमारसम्भव के ये स्थल लिए जा सकते हैं—५/५५,५६ आदि।

१२. नाटक में अवस्था की अनुकृति पाई जाती है। अतः कवि अनेक स्थलों पर अभिनय का निर्देश करता रहता है। उदाहरण के लिए अ० शा० के एक दृश्य के आरम्भ में वह 'ततः प्रविशति मृगानुसारी सशरचापहस्तो राजा रथेन सूतश्च, ऐसा निर्देश देता है। (पृ० १४) यह निर्देश वर्तमान काल की क्रिया द्वारा दिया जाता है तथा उनसे वस्तु का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता रहता है। कहीं-कहीं 'हस्तमुद्यम्य' अ० शा० पृ० २१ आदि निर्देश भी दिये जाते हैं। किन्तु श्रव्य-काव्य में ये सभी निर्देश भूतकालिक होते हैं, अतः उनमें नाटक आदि के समान चाक्षुष प्रत्यक्षता परिलक्षित नहीं होती। उदाहरण के लिए अ० शा० के (पृ० १४) ततः प्रविशति मृगानुसारी सशरचापहस्तो राजा रथेन सूतश्च' अंश को माणिक्यदेवसूरि ने इस रूप में प्रस्तुत किया है—

दुष्यन्तः पौरवो धन्वी राजा गजपुराधिपः।
मृगव्यविह्वलः कश्चिद्दन्वधावद् मृगं रथी ।। नला० ५.८.१७

१३. पृ० २४ १४. ५.८.२२,२३ १५. पृ० २२ १६. ५.८.३५,३६ १७. पृ० २२

१८. ५.८.३४,३५ १९. पृ० २२ २०. ५.८.३५ २१. इत्यङ्गुलीयं दातुमिच्छति । पृ० ४७
२२. स्वहारं नृपतिर्ददौ । ५.८.४६ २३. पृ० १०२ २४. ५.८.१३ २५. पृ० १०३
२६. ५.८.१३ २७. पृ० १२२ २८. ५.६.२६,३२
२९. पूरा श्लोक इस प्रकार है—(आकाशे)
रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभिश्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः ।
भूयात् कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः ॥ ४/१०
३०. पृ० १३९–४०
३१. ××× भूयासुस्तव पञ्चवर्णजलदप्रच्छन्नसूर्यातपाः । पन्थानः सवितानराजभुवनप्रस्थाः पदार्था इव ॥ ५.९.४८ ३२. ततः प्रविशति-इत्यादि कविप्रोक्त वाक्य, पृ० १६५
३३. पृ० १६१ ३४. पृ० १६१, १६२, १६५ ३५. ५.१०.१ ३६. शार्ङ्गरव ! विरम त्वमिदानीम् । शकुन्तले ! वक्तव्यमुक्तमस्माभिः सोऽयमत्र—भवानेवमाह । दीयतामस्मै प्रत्ययप्रतिवचनम् । पृ० १७६ ३७. ××× प्रोचे शारद्वताग्रजः शकुन्तले ! महाराजं भर्तारमवबोधय । ××× ५.१०९.१३,१७ ३८ पृ० १८४, १८५ ३९. ५.१०.४६
४०. देखें छठा अङ्क ४१–४२. ५.१२.२३ ४३. पृ० २५६ ४४. ५.१२.१६ ४५. पृ० २५७
४६. ५.१२.२२ ४७. पृ० २६३ ४८. ५.१२.३६ ४९. पृ० १२८ ५०. ५.९.३६–३८
५१. पृ० १८६ ५२. ५.१०.५४ ५३. ५.१०.५५ ५४. ५.११.९
५५. उद्धरणों में सर्वत्र संस्कृत छाया का ही प्रयोग किया गया है । ५६. ५.८.३४
५७. इत्थं मरीचिमुनिना विहितप्रसादः । ५.१२.४६
५८. भूमण्डलविहारिण्या भानुमत्यामुखेन च । वेत्ति त्वद्विरहावस्थां स्वयं सापि वियोगिनी ॥ ५.१२.२३
५९ * साहित्यदर्पण, सप्तम परिच्छेद (वाक्यगत जुगुप्साव्यञ्जक अश्लीलता का उदाहरण ।)
५९. काव्यमीमांसा, चौखम्बा० संस्क० १९६४, पृ० १५८
६०. उत्पादकः कविः कश्चित् कश्चिच्च परिवर्तकः ।
आच्छादकस्तथा चान्यस्तथा संवर्गकोऽपरः ॥ वही, पृ० १५८
६१. शब्दार्थोक्तिषु यः पश्येदिह किञ्चन नूतनम् ।
उल्लिखेत् किञ्चन प्राच्यं मन्यतां स महाकविः ॥ वही, पृ० १५८
६२. द्रष्टव्य ध्वन्यालोक ४/११–१२ तथा काव्यमीमांसा पृ० १६१, १६२, १६३

———

